हिन्दी नाटकों में नारी

(एकांकी नाटकों को छोड़कर)

१९००--१९४७

[इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डी० फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत]

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, डी० लिट्०

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

प्रस्तुतकर्त्री

कु० वीणा अग्रवाल

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

इलाहाबाद

विषय-सूची

विषय-सूची

पृष्ठसंख्या

---:::|||-----|||:::---

भूमिका

भूमिका

"हिन्दी नाटकों में नारी : एकांकी नाटकों को छोड़कर" नामक इस प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में १६०० से १६४७ई० तक के नाटकों में से नारी पात्र की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। हिन्दी गद्य,जो उन्नीसवीं शताब्दी के पहले अपने वर्तमान रूप को प्राप्त नहीं कर पाया था, साहित्यिक प्रयोग में श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों परिमार्जित एवं विकसित हुआ। द्विवेदी जी ने १६०३ से १६२५ई० तक साहित्य का नेतृत्व किया। हिन्दी गद्य की अनेक विधाओं को भाषा एवं शैली की दृष्टि से समुन्नत किया। इसीलिए इस शोध-प्रबन्ध में /१६००ई०/ रखी गई है। १६४७ ई० देश के इतिहास में एक महत्वपूर्ण काल है। जिस प्रकार परतन्त्रता ने जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित कर रखा था, इसीप्रकार स्वतन्त्रताप्राप्ति ने जीवन को एक नया मोड़ दिया। फलत: साहित्य में नवीन युग की नवीन समस्याएं आने लगीं। अत: नाटकों में भी मोड़ आना स्वभाविक था। इसीलिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में १६४७ई० तक के नाटकों को ही विषय के अन्तर्गत रखा गया है।

इस शोध-प्रबन्ध में हिन्दी के मौलिक नाटकों को ही लिया गया है। अनुदित नाटकों एवं प्रहसनों को विषय के अन्तर्गत नहीं रखा गया है। हिन्दी के मौलिक एवं लगभग प्रमुख नाटकों को ही लिया है। इसके साथ ही एकांकी नाटकों को भी छोड़ दिया गया है,क्योंकि आज एकांकी नाटक भी साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा है। इसकी बढ़ती हुई संख्या ने आज अपना नाटकों से पृथक् अस्तित्व स्थापित कर लिया है। उसमें जीवन की छोटी-छोटी समस्याएं अधिक रहती हैं। इसके विपरीत नाटकों में जीवन को अत्यन्त विस्तृत एवं गम्भीर रूप में देखने का प्रयास किया जाता है। अभिव्यक्ति पक्ष की भिन्नता के कारण एकांकी एवं नाटक वास्तव में पृथक्-पृथक् विधाएं हैं। अत: एकांकी नाटकों को छोड़ दिया गया है।

आलोच्यकाल के नाटककारों ने नारी की समस्याओं एवं सम्बन्धों के विविध पक्षों का चित्रण किया है। वस्तुतः मध्ययुगीन जीवन अनेक जटिलताओं से युक्त था। देश की राजनैतिक एवं सामाजिक सभी दशाएं अत्यन्त हीन हो गई थीं। नारी के महत्व को समाज ने एकदम भुला दिया था। फलतः पुनर्जागरण (१९वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध- २० वीं शताब्दी आरम्भ) की लहर ने नारी को यन्त्रणाओं से मुक्त करने का जो प्रयास किया, वह सभी के आकर्षण का केन्द्र हुआ था। तत्कालीन साहित्य की हर विधा में नारी की समस्याओं के समाधान का प्रयत्न अवश्य मिलता है। आलोच्यकाल के नाटककारों ने भी नारी की विभिन्न स्थितियों का चित्रण कर, समाज के सामने चित्रित करने का प्रयत्न किया है। साथ ही नाटककारों ने अपने निष्कर्ष भी उपस्थित किए हैं। इसी विचार-परिप्रेक्ष्य में आलोच्यकाल के नाटकों को प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में व्याख्यायित किया गया है।

सृष्टि की प्रक्रिया में स्त्री-पुरुष दोनों का समान महत्व है। दोनों एक-दूसरे से विरोधी प्रकृति के होते हुए भी एक-दूसरे के पूरक हैं। साधारण सुखों का त्याग कर नारी सदैव सृष्टि की प्रक्रिया को गतियुक्त रखती हुई त्याग और तपस्या के बीच विकसित होती रही है। प्रकृति का वह एक ऐसा फूल है, जो कोमल है, संवेदनायुक्त है, साथ ही बोझयुक्त है-- सुगन्ध का प्रसार करता है, अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए। उसका यह त्याग जन्मजात है। परिस्थिति विशेष में नहीं, जीवन की प्रत्येक स्थिति में वह एक-सी रहती है। अपने इस प्रसारण-कर्म में वह सदैव विकसित होती रहती है, यही उसकी सार्थकता है। एक पुष्प के समान दूसरों को ही सुख देकर, अपने अस्तित्व को विलीन कर देने में उसे आत्मसन्तोष प्राप्त होता है। यही हमारी भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत नारी-आदर्श रहा है। इसी बल पर वह विश्व भर की नारियों में अपना पृथक् अस्तित्व कायम किए हुए है।

प्राचीन नारी-आदर्श के परिप्रेक्ष्य में मध्ययुग एवं उसके बाद आज तक क्या-क्या परिवर्तन हुए? इसे संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयास प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में किया गया है। वैदिक काल से आज तक के समय में प्रमुख कालों में नारी की दशा क्या रही है? इसे बताया गया है। इसके साथ ही नाटक-साहित्य के उद्भव एवं विकास का लेखात्मक वर्णन किया गया है, क्योंकि इसपर काफी अध्ययन किया जा चुका है। और मेरे विषय का इससे कोई घनिष्ठ संबंध भी

नहीं है । आलोच्यकालीन नाट्य-साहित्य में तत्कालीन हलचल(राजनैतिक,सामाजिक, धार्मिक आदि) का पूरा-पूरा प्रभाव रहा है,क्योंकि साहित्य हमेशा जीवन का प्रतिबिम्ब होता है ।

द्वितीय अध्याय में नाटककारों का नारी के प्रति किस प्रकार का दृष्टिकोण रहा है, उसपर विचार किया गया है । नाटककारों ने नारी को किस दृष्टि से परखा है? जिस परिस्थिति में नारी गुजर रही थी,उसके प्रति नाटककारों की पूर्ण सहानुभूति प्रकट हुई है । उन्होंने उसकी सामाजिक स्थिति को सुधारना चाहा है । पर्दे का पूर्णतया बहिष्कार कर, उसके सामाजिक जीवन को विस्तार दिया है । सती-प्रथा को भी उनके नाटकों में स्थान प्राप्त नहीं हुआ है । नाटककारों ने नारी के सतीत्व को बहुत महत्व दिया है। नारी का सतीत्व एवं नारीत्व ही उसकी सार्थकता है । नारीत्व मातृत्व में निहित है ।

नारी-जागरण ने नारी को अपने स्त्रीत्व के अधिकारों के प्रति सचेत किया है । स्त्री-पुरुष -सम्बन्धों का क्या रूप होना चाहिए? नाटकों में चित्रित यह रूप तृतीय अध्याय का विषय है ।

उस समय शिक्षा का प्रश्न भी नारी के लिए एक प्रमुख समस्या थी । उसे शिक्षा का अवसर प्राप्त ही न था । नाटककारों ने नारी के लिए शिक्षा को आवश्यक बताया है । शिक्षा, आत्मविकास का एक साधन है ।

विवाह, नारी की एक अन्य प्रमुख समस्या थी । वृद्ध-विवाह एवं बाल विवाह ,कन्या-विक्रय ने नारी-जीवन को नरक बनादिया था । नाटककारों ने युगीन आन्दोलनों के समान ही विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या का समाधान पुनर्विवाह एवं बाल विवाह की रोकथाम में प्रस्तुत किया है । दाम्पत्य जीवन तभी सुखी रह सकता है । दाम्पत्य जीवन की सफलता का एकमात्र आधार पारस्परिक विश्वास है । अतः अध्याय ५ इसी से सम्बन्धित है ।

नारी का पारिवारिक रूप,विशेष समझने की चीज़ है । एक ही नारी में अनेक पारिवारिक रूप एवं सम्बन्ध समाहित रहते हैं । एक ही समय में वह पत्नी,माता,पुत्री,बहन,बहू,भाभी आदि रूप धारण करती है । यह विविध रूप नारी में किसप्रकार साकार होते हैं,और इन भावों के परिष्कार में नारी कहां तक सफल हुई है,इसे पृथक् अध्याय में रखा गया है । पत्नी-रूप अधिक बड़ा होने से

कारण इसे अध्याय ६ का रूप दिया गया है । शेष सम्बन्धों को अध्याय ७ में वर्णित किया गया है ।

जीवन की सुन्दरता मानव के प्रेममय व्यवहारों पर निर्भर है । नारी का प्रेम कहां तक वास्तविक रूप को ग्रहण कर पाया है? इसे अध्याय ८ में बताया गया है । नारी की कोमलता उसके प्रेममय स्वरूप पर ही निर्भर है । विवाहपूर्व नारी के प्रेम पर भी इसी अध्याय में विचार किया गया है ।

वेश्यावृत्ति पुनर्जागरणकाल की एक प्रमुख समस्या थी । यह समाज पर एक काला धब्बा था जो कि पारिवारिक एवं सामाजिक अशान्ति का कारण था । अपने वैवाहिक जीवन से सन्तुष्ट न होने पर अथवा सामाजिक अत्याचार से पीड़ित होने पर नारी ने इसी रूप में अपनी वृत्तियों को तुष्ट किया । नाटककारों ने इस समस्या का कारण एवं समाधान दोनों को नाटकों में चित्रित किया है । समाज इसके लिए उत्तरदायी है ,अध्याय ९ इसी से सम्बन्धित है ।

जब नारी घर की चहारदीवारी से बाहर निकली, तो उसको सार्वजनिक जीवन व्यतीत करने का भी अवसर मिला । तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप उसने समाज-सेविका एवं देशसेविका का रूप धारण किया ।

जागृत होने पर नारी ने पुरुष के समान स्वतन्त्रता की मांग की । स्वतन्त्रता का अर्थ मात्र स्वेराचार नहीं है । नारी की वैयक्तिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता नाटककारों को कहां तक काम्य हुई,इसे अध्याय ११ में दिखाया गया है ।

नारी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी अत्यन्त आवश्यक है । नारी के मन में कोमलता एवं कठोरता एक साथ वर्तमान है । ईर्ष्या उसे प्रतिहिंसा की मूर्ति बना देती है । उसका सौन्दर्य भाव उस ईर्ष्याग्नि में पूर्णतया लुप्त हो जाता है । नारी की कोमलता एवं कठोरता प्रसिद्ध है । इसी परिप्रेक्ष्य में नारी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया है । नारी का मनोवैज्ञानिक उतार-चढ़ाव उसके जीवन के उतार-चढ़ाव को व्यक्त करता है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में नारी-चरित्र केन्द्रबिन्दु होने के कारण अन्य किसी भी सन्दर्भ को स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की गई । नाटक के

उद्भव एवं विकास को भी इसीलिए प्रथम अध्याय में ही संकेतित भर कर दिया गया है ,इसे मैंने विस्तार में नहीं लिया,क्योंकि उसका इस विषय से विशेष सम्बन्ध नहीं है और उस पर लिखा भी बहुत जा चुका है ।

इसी साथ ही एक चीज़ यह और स्पष्ट कर देना चाहती हूं कि प्रत्येक अध्याय में नाटकों पर उनके प्रकाशन-काल के अनुसार विचार किया गया है ।

प्रस्तुत विषय है अपने में सर्वथा मौलिक है । अभी तक इस विषय पर कोई शोध-प्रबन्ध नहीं लिखा गया । डा० प्रेमलता ने "ह हिन्दी नाटकों में नायिका की परिकल्पना" विषय पर कार्य किया है । लेकिन यह विषय इस प्रस्तुत विषय से नितान्त भिन्न है । उन्होंने नाटकों में नायिका के चरित्र प्रकार को विवेचित किया है, जब कि मैंने नारी के सम्पूर्ण जीवन के प्रति नाटककारों के दृष्टि-कोण को सामने रखने की चेष्टा की है । इसीप्रकार डा० [illegible] जायसवाल द्वारा लिखा गया शोध-प्रबन्ध "हिन्दी नाट्य साहित्य में समाज-सुधार की प्रवृत्ति" भी इस प्रस्तुत विषय से भिन्न है । सुधारात्मक दृष्टिकोण होने के कारण नारी की कुछ समस्याओं को उसमें अवश्य लिया गया है, लेकिन वे अधिक विस्तार में नहीं आ पाई हैं । समाज में सुधार सिर्फ नारी तक सीमित नहीं, वह पुरुष वर्ग तथा समाज में प्रचलित अंधविश्वासों,रूढ़ियों,कुरीतियों को भी समेट लेता है । अत: केन्द्र,नारी-जीवन नहीं है,वरन् समाज-सुधार है ,जब कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में नारी जीवन ही केन्द्रबिन्दु है ।

मैंने यह शोधकार्य नवम्बर १९७१ई० में प्रयागविश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यक्ष एवं प्राचार्य श्रद्धेय डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,डी०लिट्० के मार्ग-निर्देशन में आरम्भ किया था । उन्होंने अपने व्यस्त जीवन का काफी समय मेरे अन्दर ज्ञान-प्रकाश करने में लगाया । इतना ही नहीं, बल्कि मेरे अवसाद के दिनों में जब कि मैंने अपने पूज्य पिताजी को खो दिया था, और यह प्रबन्ध-कार्य अपनी शैशवा-वस्था में ही था, उन्हीं के पितृवत् प्यार ने इसे प्रौढ़ता प्रदान करने की मुझमें शक्ति दी । उनके उदार एवं सहानुभूतिपूर्ण सहयोग वश ही मैं अपने शोध-प्रबन्ध सम्बन्धित छिपे विचारों को प्रकाश में ला सकी हूं । यहीं, यदि मैं अपनी श्रद्धा अपनी आदरणीय चाची [illegible] (श्रीमती वार्ष्णेय) के लिए व्यक्त न करूं तो यह मेरी अकृतज्ञता होगी । उनका नारी-ज्ञान

वृध्द है, जिससे मुझे समय-समय पर नारी-जीवन के गूढ़ सूत्रों का आभास मिलता रहा।

इस शोधकार्य को पूर्ण करने में मेरा आत्मविश्वास जब भी शिथिल हुआ, मेरे समक्ष स्वर्गीय पिता जी का प्रफुल्लित चेहरा सजीव होकर कहता था --"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" अतः उनकी कामनानुसार, अपने इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करके, शायद मैं उन्हें आत्मिक शान्ति प्रदान कर सकूं।

मैंने अपने इस शोधकार्य में प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भारती भवन, पब्लिक लाइब्रेरी के पुस्तकालयों से सहायता प्राप्त की है। मैं इन पुस्तकालयों की भी आभारी हूं। ~~जिन्होंने~~

अन्त में, मैं अपने टाइपिस्ट की भी आभारी हूं, जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध को आपके समक्ष रखने में सहयोग प्रदान किया है।

वीणा अग्रवाल

(वीणा अग्रवाल)

अध्याय--१ :

नारी आदर्श एवं नाट्य-साहित्य

अध्याय--१

नारी आदर्श एवं नाट्य- साहित्य

"नारी" शब्द कहने से ही एक कोमल प्रतिमा साकार हो उठती है, जो दया, प्रेम, अहिंसा, शक्ति से समन्वित रहती है। उसकी शक्ति अस्त्रों में नहीं, शील में निहित है। सौन्दर्यशीला यह नारी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना महत्व रखती है। भारत ने नारी को सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा है। वेदों में, समाज में पुरुष और नारी को समाज के लिए आधारभूत मानते हुए नारी को ऊंचा स्थान प्रदान किया गया है। यद्यपि वेदों से पूर्वकाल का इतिहास ठीक विदित नहीं, फिर भी उस प्रागैतिहासिक काल के अन्वेषणों द्वारा जो चिन्ह, अवशेष, भित्ति-चित्र आदि प्राप्त होते हैं, उनसे यही पता चलता है कि नारी का समाज में, मातृ रूप में आदर था[1]। यदि नारी के इस आदर के कारण की व्याख्या करना चाहें तो केवल एक ही कारण समझ में आता है --"नारी की सृजनशीलता।"-- यद्यपि स्त्री एवं पुरुष समाज के दो सुदृढ़ स्तम्भ हैं, लेकिन नारी की सृजनशीलता ही उसकी उच्चता की द्योतक है। कालान्तर में नारी की यही मातृत्व भावना समाज का विकास करती हुई सभ्यता का कारण बनी। शक्ति-बल प्रधान होने के कारण पुरुष ने बाह्य दायित्व को अपने ऊपर लेते हुए नारी के क्षेत्र को सीमित एवं संकुचित कर दिया, उसे घर के अन्दर रख गृहदेवी[2] की संज्ञा दी। भारतीय साहित्य में वर्णित नारी

---

१. Data regarding the political position of women in primitive society have been employed is social theorizing in two principal ways: in the construction of hypothetical evolutionary sequences in which society is conceived as having evolved from a primordical state of mother right, and in an argument which differs in content rather than in methodology, since it continues to associate present day tendencies with desirable end products in social evolution, in the correlation of human progress and in the progressive emancipati[on] of women- Page 439. Encyclopaedia of the social Sciences. Vol. XV.

२ ऋग्वेद १०।८५।२६
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथामा वदासि।
प्रति तिष्ठ विरा सि विष्णुरिवेह सरस्वती ॥

का अध्ययन करने से भारतीय नारी की स्थिति अधिक स्पष्ट होगी ।

वैदिक साहित्य में नारी

वैदिक काल में नारी की स्थिति अच्छी थी, उसे पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त थे । पति और पत्नी एक साथ सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में भाग लेते थे ।[१] पितृसत्तात्मक युग में नारी ही घर की स्वामिनी थी, समस्त अधिकार उसी में केंद्रित थे । इसीलिए ऋग्वेद में उसे "जायेदस्त" कहा गया है, अर्थात् स्त्री ही घर है । यह कथन ही समाज में उसके अस्तित्व का बोध कराता है । जहां नारी का इतना सम्मान होगा, वहां का आदर्श क्या होगा ? यह स्वत: ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

वैदिक युग में स्त्रियों को घूमने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, उनके ऊपर कोई बन्धन न था। वे हर प्रकार के उत्सवों में बड़े ही आनन्द से भाग लेती थीं । वैदिक युग में होने वाले "समन" से पता चलता है कि उसमें लड़के-लड़कियां दोनों भाग लेते थे । उसमें जाने के लिए घर के वृद्ध भी प्रोत्साहित करते थे । वैदिक साहित्य में लड़कियों के नाचने-गाने का कार्य भी वर्णित है । "ऋग्वेद" में वर्णित एक छन्द में देवी "ऊषा" की तुलना एक नृत्य करती हुई लड़की से की गई है । पिशेल का मत है कि शब्द वेर(Vra)[२] उन स्त्रियों को सन्दर्भित करता है, जो उत्सवों में जाती थीं और नृत्य करती थीं । ऐसा विदित होता है कि वैदिक युग में युवतियों को विवाह की स्वतन्त्रता भी प्राप्त थी । जो स्वत: इसमें समर्थ नहीं होती थीं, उनकी सहायता पिता करता था । उस समय कन्या का क्रय-विक्रय नहीं होता था । दोनों पक्षों की स्वेच्छा ही प्रधान थी । कन्या को विदा करते समय यही कहा जाता था, कि शासन करती हुई वह सब को आमन्त्रित करे । इससे पता चलता है कि वर-गृह में भी कन्या आदर की पात्री थी । एक से अधिक विवाह का उल्लेख मिलता है । स्वयं "इन्द्र" की कई पत्नियां थीं, लेकिन प्रधानता प्रथम पत्नी की ही थी । यज्ञादि कार्यों में वही भाग लेती थी । बहुपत्नी-प्रथा का उल्लेख तो प्राप्त होता है, लेकिन बहुपति-प्रथा का यत्किंचित् ही उल्लेख मिलता है । ऋग्वेद में पति के मर जाने पर

---

१ Prof. Indra- The status of women in Ancient India-1940, Ist edition Page 2.
J.B.Chaudhri- Women in Vedic ritual-1956, 2nd edition - Page 144.

२ Prof. Indra- The status of women in Ancient India-1940, Ist edition -Page 83.

सती होने का उल्लेख नहीं मिलता है, उनमें विधवा के लिए 'देवर' शब्द का प्रयोग हुआ है[1]। विधवा देवर का तभी वरण कर सकती है, जब कि पुनर्विवाह सम्भव होगा। निरुक्ताचार्य ने देवर की व्याख्या की है -- 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते', एक अन्य छन्द में पत्नी को मृत पति के सामीप्य से[2] उठने के लिए कहा गया तथा पुनः जीवन में प्रवेश प्राप्त करने के लिए आदेश दिया गया है। तात्पर्य यह कि विधवा को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था, न उससे विवाह करने वाले ही को।

पर्दा-प्रथा का कहीं उल्लेख नहीं है। स्त्रियां प्रत्येक कार्य करती थीं। उन्हें शिक्षा ग्रहण करने के लिए भी पूरी स्वतन्त्रता थी। उस युग में नारी शिक्षा का आभास हमें प्राप्त होने वाले नामों से होता है -- घोषा, लोपामुद्रा, ममता, अपाला, सूर्या, इन्द्राणी, शची, विश्ववरा, गार्गी आदि नारियां दार्शनिक थीं, जिन्हें 'ब्रह्मवादिनी' भी कहा जाता था। इस उपाधि से स्पष्ट है कि योग्यता प्राप्त करने पर स्त्रियों को पुरुषों के समानान्तर ही आदर प्रदान किया जाता था। उनको ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन का अधिकार था। वे गुरुकुलों में आचार्यों के साथ रहकर विद्या प्राप्त करती थीं। मैत्रेयी वेदान्त अध्ययन के लिए वाल्मीकि आश्रम में रहती थीं[3]। आश्वालयन गृह्य सूत्र भी इस बात की पुष्टि करता है कि ब्रह्मचर्य स्त्रियों के लिए भी था।

संक्षेप में वेद में नारी के दो रूप प्रधान थे--'सहचरी' और 'मां' रूप। पति द्वारा प्राप्त सम्मान वाली तथा पतिव्रता स्त्री समाज में अभिनन्दनीया थी।

---

१ ऋग्वेद १०-४०-५।

कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना
कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं
मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥

२ ऋग्वेद १०-१८-८।

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं

गतासुमेतमुपशेष एहि।

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं

पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ ॥

३. Prof. Indra- The status of women in Ancient India-1940, Ist edition - Page 161.

महाकाव्यों में नारी

(अ) रामायण काल

रामायण महाकाव्य में नारी की उदात्त कल्पना का रूप सीता के पवित्र आचरण में निहित है। सीता का राम के प्रति एकनिष्ठ प्रेम युग-युग तक आदर्श रहा है, और रहेगा। प्रत्येक युग में परिस्थितियां परिवर्तित होती रही हैं, और भारतीय नैतिक एवं सामाजिक मान्यताओं में कुछ परिवर्तन होते रहे हैं, लेकिन भारतीय पत्नी का पति के प्रति यह एकनिष्ठ प्रेम कभी नहीं विलुप्त हुआ है। रामायण काल में नारी से यही अपेक्षा की जाती थी, कि वह सभी को आनन्दित करेगी।

इस समय भी विवाह के लिए स्वयम्बर-प्रथा थी। राम का एक पत्नी-व्रत होते हुए भी दशरथ ने बहुपत्नीव्रत रखा था। उनके तीन रानियां थीं। इस समय भी नियोग प्रथा थी, लेकिन सती-प्रथा पर कोई बल नहीं देता था। दशरथ के मरण पर तीनों में से किसी रानी ने सती-प्रथा का अनुसरण नहीं किया था। केवल कौशल्या एक जगह कहती हैं --" मैं पतिव्रता स्त्री के समान पति का अनुसरण करूंगी"[1]-- लेकिन उसके बाद इस विषय की कहीं चर्चा नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय नारी का पति की मृत्यु के समय चिता में चढ़ना ही सतीत्व नहीं माना जाता था, वरन् वह उसके आचरण में निहित था। इस समय स्त्रियों के लिए पर्दा का कड़ा बन्धन न था, क्योंकि जब सीता रावण के मर जाने पर राम के पास आती हैं, और विभीषण उनके लिए लोगों को हटाने लगते हैं, तब राम कहते हैं कि घर, वस्त्र और चाहारदीवारी आदि वस्तुएं स्त्री के लिए परदा नहीं हुआ करती हैं। इसी तरह लोगों को दूर हटाने के लिए जो निष्ठुरता-पूर्ण व्यवहार हैं, वे भी स्त्री के लिए आवरण या पर्दे का नाम नहीं देते हैं। पति से प्राप्त होने वाले सत्कार तथा नारी के अपने सदाचार ये ही उसके लिए आवरण हैं। विपत्तिकाल में शारीरिक या मानसिक पीड़ा के अवसरों पर, युद्ध में, स्वयम्बर में, यज्ञ में अथवा विवाह में स्त्री का दिखना दोष की बात नहीं है[2]। राम के इस कथन से स्पष्ट है कि

---

1 रामायण--अयोध्याकाण्ड-- ६६-१२। गीताप्रेस, गोरखपुर, १९६०ई०

2 रामायण--युद्धकाण्ड --११४-२७-२८। गीताप्रेस, गोरखपुर, १९६०ई०

वे नारी के लिए उसके आचरण को प्रधानता देते थे। यही उनका अवगुण्ठन था। तथापि इसमें वर्णित नारियां शील एवं मर्यादा के अन्दर रहती थीं।

रामायण में नारियों को वैदिक संध्या आदि करने का अधिकार था। इससे पता चलता है कि उस समय नारी-शिक्षा की अपेक्षा नहीं थी। वस्तुत: वाल्मीकि मुनि द्वारा उल्लिखित नारियों को दो भागों में रखा जा सकता है। प्रथम, वह नारियां हैं जो साधु प्रवृत्ति की हैं, जिन्होंने सभी भौतिक पदार्थों को छोड़कर तापस की जिन्दगी व्यतीत की थी-- अनुसूया, शबरी, स्वयम्प्रभा, अहल्या ऐसी ही नारियां थीं। दूसरी नारियां वे थीं, जो समाज में रहती हुई कर्तव्यपूर्ण पारिवारिक जीवन व्यतीत करती थीं। इसमें लंका की मन्दोदरी, सरमा, त्रिजटा तथा किष्किन्धा की तारा और अयोध्या की तीनों रानियां तथा सीता आदि आती हैं[1]। दुर्बलताओं से युक्त होने के कारण कैकेयी और मन्थरा को प्रताड़ित भी किया गया है। इस प्रकार यद्यपि नारी को कहीं-कहीं बहुत प्रताड़ित किया गया है, लेकिन जहां आदर्श की बात है, एकनिष्ठता ही सर्वोपरि रही है, जो भारतीय नारी का प्रधान अंग है।

(आ) महाभारत काल

महाभारत में भी रामायण में वर्णित नारी का स्वरूप, उसके प्रति मर्यादा का दृष्टिकोण दिखाई देता है। स्त्री-पुरुष की अर्धांगिनी थी। भार्या पुरुष की सबसे उत्तम मित्र है। भार्या, धर्म, अर्थ और काम का मूल है, और संसार सागर से तरने की इच्छा वाले पुरुष के लिए भार्या ही प्रमुख साधन है[2]। साथ ही भीष्म कहते हैं कि सपत्नीक पुरुष ही सच्चे गृहस्थ हैं। वे जो पत्नी से युक्त हैं, वे मानों लक्ष्मी से सम्पन्न हैं[3]। स्पष्ट है कि नारी को पत्नी रूप में महत्व दिया जाता था। स्त्री का मुख्य कार्यक्षेत्र गृह था, उसका पतिव्रता होना ही उसके आचरण की कसौटी थी। उसकी सृजन-शक्ति ही उसके आदर का कारण थी। स्त्रियां पति की आत्मा

---

१ Swami Madavananda : Great Women of India, 1953, Ist edition, -Page 141.

२ महाभारत-- आदिपर्व ७४-४१- गीताप्रेस, गोरखपुर, १६५८ई०

अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतम: सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यत: ॥

३ महाभारत, आदिपर्व--७४।४०।गीताप्रेस, गोरखपुर १६५८ई०।

को पुत्र रूप में जन्म देने का सनातन पुण्य क्षेत्र है। ऋषियों में भी क्या शक्ति है कि बिना स्त्री के सन्तान उत्पन्न कर सकें[1]। महाभारत के अनुशासन पर्व में नववधू का सबको सत्कार करने का आदेश दिया गया है[2]। अनुशासन पर्व के १४६ वें अध्याय में पार्वती जी स्त्री-धर्म पर व्याख्यान देती हैं। उसमें भी वे पातिव्रत को ही नारी-आचरण का प्राण बताती हैं। चाहे कैसी भी अवस्था हो, स्त्री को सर्वदा अपने पति को प्रसन्न रखना, एवं उनकी सेवा करनी चाहिए। जिसके हृदय में पति के लिए जैसी चाह होती है, वैसी काम भोग और सुख के लिए भी नहीं होती। वह स्त्री पातिव्रत्य धर्म की भागिनी होती है। घर के समस्त कार्यों को करती हुई जो सास, श्वसुर, दीन-अनाथों-- सब की सेवा करती है, वह वास्तविक फल प्राप्त करती है[3]।

आदर्श का वैदिक रूप होते हुए भी इस युग में नारी की स्वतंत्रता में अन्तर आ गया था। उन्हें अब वह स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त थी, जो वैदिक युग में थी। भीष्म युधिष्ठिर से नारी का आदर करने के साथ-साथ यह भी कहते हैं कि स्त्री को स्वतन्त्र नहीं रखना चाहिए। शैशव में पिता, यौवनावस्था में पति तथा अन्तिम दिनों में पुत्र उसकी रक्षा करें[4]। इस प्रकार स्त्री को पुरुष की संरक्षता में कर दिया गया। युवतियों को अकेले घूमने का अधिकार नहीं था। ऐसा लगता है कि इस समय राजकीय वर्ग की स्त्रियां अब भी उत्सवों की दर्शक बनती थीं, क्योंकि जिस समय द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की योग्यता देखने का आयोजन किया था, उस समय कुन्ती और गान्धारी भी उपस्थित थीं, लेकिन यह स्वतन्त्रता सामान्य स्त्रियों के लिए न थी।

---

१ "आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम्।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम्।। आदि० ४७।५२

२ महाभारत -- अनुशासन पर्व ३-४६।

३ वही पर्व -- "पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः।
पत्या समा गतिर्नास्ति दैवतं वा यथापतिः।।१४६-५५

४ अनुशासन पर्व १४-४६
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।।

वृष्णि और अन्धकों के मेले में स्त्रियों के स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने का उल्लेख है और यहीं से अर्जुन सुभद्रा का हरण कर ले गए थे । लेकिन इस सब के विपरीत स्त्री-पर्व में यह कहकर भी विलाप किया गया है कि जिन स्त्रियों को देवताओं ने भी नहीं देखा था, वही अब उनकी आंखों के सामने निकल रही हैं ।

विवाह बड़ी उम्र में ही अधिकतर होता था । उस समय स्वयम्वर और गान्धर्व विवाह प्रचलित थे, लेकिन "हरण" भी किए जाते थे । उस समय बहु-विवाह का उल्लेख बहुत मिलता है । बहुपति और बहुपत्नी दोनों ही प्रथाएं प्रचलित थीं । द्रौपदी के पांच पति थे, उसके विपरीत पाण्डु के कुन्ती और माद्री दो पत्नियां थीं । स्वयं अर्जुन ने कई विवाह किए थे । सती प्रथा का उल्लेख है और कहीं इसका उल्लंघन भी है । स्वयं पाण्डु के मर जाने पर माद्री तो उनके साथ सती हो गई थी, लेकिन कुन्ती शरीर धारण किये रही थी । जब नल दमयन्ती के लिए अप्राप्य हो गए थे, तब दमयन्ती के द्वितीय विवाह की घोषणा की गई थी, जिसको सुनकर नल के सिवाय और किसी ने आश्चर्य नहीं प्रकट किया था ।

निष्कर्षत: महाभारत में स्त्रियों की दशा अच्छी ही थी । माता तथा पत्नी रूप में उसके जीवन की सार्थकता थी । अनुशासन पर्व में कहा गया है कि दस आचार्यों से बड़ा उपाध्याय है, दस उपाध्यायों से बड़ा पिता है और दस पिताओं से बड़ी माता है । माता से बड़ा कोई नहीं है । दुर्योधन की मृत्यु का संवाद सुनने पर उसकी कुबुद्धि एवं दुराचरण से अवगत होते हुए भी गान्धारी के मातृरूप ने कितना विलाप किया था । यहां तक कि वे कृष्ण को शाप दे गई थीं । यद्यपि स्थल-स्थल पर नारी को बुरा भी कहा गया है, किन्तु वह केवल चंचल बुद्धि वाली तथा कुल का नाश करने वाली नारी जाति के लिए कहा गया है । सामान्यत: नारी को उस समय आदृत किया जाता था ।

पुराण काल में नारी

पुराण भी हमारी सभ्यता का प्रतिनिधित्व करते हैं । उनमें भी नारी को सृष्टि का आवश्यक अंग माना गया है । बिना नारी के सृष्टि सम्भव नहीं[1]।

---

1 मत्स्य पुराण अ १५५-१५६ ।
"स्त्रिया विरहिता सृष्टिर्जन्तूनां नोपपद्यते" ।

उमा को जगत-जननी कहा गया है, जिनमें कार्तिकेय के रूप में संसार का सौभाग्य समाहित था[1]। विष्णु पुराण के स्थलों में वर्णित "मारिषा" नामक कन्या का सम्बन्ध विश्वस्रष्टा प्रचेताओं से बैठकर उसे वंश वर्द्धन में कारण भूत अभिहित किया गया है।

नारी को वे सभी आदर्श प्राप्त होते हैं, जो वैदिक युग में ही मान्य थे। सपत्नीक कार्यों को महत्ता प्रदान की जाती थी। न केवल यज्ञादि अवसरों पर, वरन् दानादि अवसरों पर भी उन्हें पति के साथ आना आवश्यक था[2]। "पत्नी" शब्द की पाणिनीय व्युत्पत्ति उसे तभी पत्नी कहती है, जब वह पति के साथ यज्ञ में संयुक्त हो। गृहिणी की सार्थकता तभी थी, जब वह उसे सुखी रखे। मत्स्य पुराण में वर्णित कोट दम्पति की कथा इन्हीं मान्यताओं से युक्त है[3]। पत्नी के लिए पति सब कुछ है। सावित्री जैसी सती, जिसने यमराज द्वारा पति से इतर कुछ भी लेना स्वीकार नहीं किया, का आख्यान भी इसमें उल्लिखित है।

पुराणों में बहुत से ऐसे स्थल हैं, जो विधवा-विवाह, सतीप्रथा और पर्दा प्रथा का समर्थन करते हैं, कुछ ऐसे भी हैं, जो इसके विपक्ष में दिखाई देते हैं। यही शिक्षा के विषय में भी है। जहाँ पुराणों में बृहस्पति, भगिनी, अपर्णा, एकपर्णा, एकपाटला, मैना, धारिणी, शतरूपा, उमा, पीवरी आदि अध्यात्म विद्या से परिचित नारियों का उल्लेख है, वहाँ उन्हें शास्त्र अध्ययन का अधिकार भी नहीं दिया गया है[4]।

---

१ मत्स्यपुराण १३-१८
"त्वमस्य जगतो माता जगत्सौभाग्य देवता"।

२ वही -- ५८।२१, १८।१३, ५४।२४।

३ वही -- १५४।१५६--

"स्त्रीणां हि परमं जन्म .... ।
...कुलीयोक्तं सत्पति प्राप्ति संज्ञितम्
न प्राप्यते विना पुण्यैः पतिर्नार्या कदाचन ।
धर्मं जीवितपर्यान्तं पत्यौ नार्याः प्रतिष्ठितम् ।
दैवतं परमं नार्याः पतिरुक्तः सदैव हि ॥

४ मत्स्यपुराण--१५४।१५६
स्त्रीजातिस्तु प्रकृत्यैव कृपणा दैन्यभाषिणी ।
शास्त्रालोचन सामर्थ्यमुज्झितं तासु वेधसा ॥

इस कारण यही लगता है कि पुराण साहित्यमेंवें जहां प्रवृत्ति का निर्देश है, वहां निवृत्ति
भी पूर्णतया मान्य है। इन द्विविधापूर्ण स्थितियों के कारण ही जहां नारी का आदर
है, वहां उसे अपशब्द भी कहे गये हैं। जहां औपनिषदिक दार्शनिकता की उत्सापोह है,
वहां समस्त भौतिक पदार्थों को अनादृत किया गया है। जहां वे कर्म को प्रधानता देते हैं,
वहां उनके सभी आदर्शों का विश्लेषण किया है।

वस्तुत: प्राचीन भारतीय साहित्यों में वर्णित गृहस्थ धर्म का केन्द्रीय
तत्व नारी[1] ही है। इसी के आधार पर परिवार की, समाज व देश की परिकल्पना
स्थित है। इसी में उसका महत्व है। यही कारण है कि जहां उसका आदर नहीं, वहां
जीवन विशृंखल हो जाता है, टूट जाता है। हमारी भारतीय नारी इन्हीं मूल आदर्शों
से प्रेरित रही है। यद्यपि भिन्न-भिन्न युगों में राजनीतिक, सामाजिक स्थिति के परिवर्तन
से उस आदर्श के स्वरूप में भी अन्तर आ गया है, उसकी स्वतन्त्रता एवं सम्मान को अधिक
सीमित एवं संकुचित कर दिया ~~गया~~ जाता था।

स्मृति काल में नारी

वैदिक काल की स्थिति के बाद जो अन्तर आता है, वह आता है,
स्मृतिकाल में। इन धर्मशास्त्रों के युग में नारी की स्थिति बहुत गिर गई थी। प्राय: मनु ने
नारी के लिए जहां नियमों का उल्लेख किया है, वहां शूद्र को भी अवश्य लिया है। नारी
और शूद्र का एक साथ उल्लेख उसके पतन को सूचित करता है। स्मृति में नारी को वेदाध्ययन
का अधिकार नहीं है। उसके लिए किसी भी प्रकार के उपनयन संस्कार की आवश्यकता नहीं।
स्त्रियों का वैदिक संस्कार विवाह विधि ही है। स्त्रियों के लिए पति की सेवा ही गुरुकुल
का वास है और घर का काम धंधा ही नित्य का हवन है।[2] स्मृतिकार, स्त्री स्वतन्त्रता
के पोषक नहीं। मनु स्पष्टत: नवें अध्याय में कहते हैं कि पुरुषों को अपनी स्त्रियों को

---

1 'In fact, she was the very axis on which the wheel of household-life in ancient India turned.' — Prof. Indra - The status of women in Ancient India. 1940, 1st edition, page 31.

2 मनुस्मृति --२-६७ टीकाकार पं० गणेशदत्त पाठक, सं०२००६

वैवाहिको विधि: स्त्रीणां संस्कारो वैदिक: स्मृत:।
पति सेवा गुरौ वासो गृहार्थो ग्निपरिक्रिया ॥

कभी स्वतन्त्रता न देनी चाहिए । साथ ही पिता,पति और पुत्र को उसकी रक्षा का भार सौंपा है। स्त्री की रक्षा में प्रयत्नशील मनुष्य अपनी सन्तान,चरित्र,कुल,आत्मा और धर्म की रक्षा करता है । यद्यपि मनु द्वारा उपरोक्त भर्त्सना प्राप्त होने पर भी गृहिणी व माता रूप में उसे जो सम्मान दिया गया है, वह द्रष्टव्य है । पुरुष और नारी को क्रमश: बीज और क्षेत्र रूप मानकर दोनों की समान प्रतिष्ठा की है[1] । सृष्टि में दोनों का योग एकसमान है । स्त्री का पतिव्रता व होना उस युग की पहली माँग थी । न केवल स्त्रियों में ही,वरन् उस युग के समस्त साहित्य में स्त्री को आदर और अनादर दोनों प्राप्त होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों की जो दार्शनिक धारा बही, उसके आधार पर यही पाया गया कि समस्त भौतिक पदार्थ मोक्ष पाने में बाधक हैं और इस भौतिकता का केन्द्र नारी ही है । इस दृष्टिकोण के कारण विद्वज्जनों की वितृष्णा ने नारी की वैदिकयुगीन स्वतन्त्रता का अपहरण किया ।उसके समस्त अधिकारों को छीन लिया । । इसके साथ ही राजनैतिक और सामाजिक कारण भी सामने आते हैं । ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गई, मनुष्य की लिप्सा भी बढ़ती गई और विदेशी आक्रान्ताओं की लिप्सा से भयभीत होकर हमारे यहां के नियम बनाने वाले स्त्रियों की सीमा-रेखा को संकुचित ही करते गए । उन्होंने उसे केवल घर में ही आचरण से पवित्र गृहदेवी रूप में ही देखना पसन्द किया तथा उसी स्वरूप की पूजा की । इस प्रकार हमने इस युग तक यह देखा कि भारतीय नारी की सम्पूर्ण अवस्था हर युग में परिवर्तित होती रही है,लेकिन उसकी मातृत्व भावना ही --------

---

१ मनुस्मृति -- ६।३५

उसका आदर्श एवं वैशिष्ट्य रही है ।

मध्ययुग में नारी

भारतीय नारी के इतिहास में इसके आगे एक ऐसा युग भी आता है, जिसमें उसकी अवस्था अधिक शोचनीय हो जाती है, वह है मध्ययुग, जिसमें भारतीय राजनीति की बागडोर मुस्लिम शासकों के हाथ में आ गई थी । इन शासकों ने देश की काया पलट कर दी । समस्त राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक जीवन त्राहि-त्राहि कर उठा । उनके सामाजिक नियमों ने हमारे बन्धनों को जन्म दिया । मुस्लिमों द्वारा अपहरण की जाने वाली भारतीय नारी-मर्यादा को सुरक्षित रखने के लिए पर्दा-प्रथा, सती प्रथा, बाल-विवाह आदि रीतियों ने जन्म लिया । नारी के रूप-सौन्दर्य को छुपाने के लिए एक हाथ लम्बा अवगुण्ठन आवश्यक हो गया । पति के मृत होने पर उसने भी सती होना आरम्भ कर दिया । टॉड का राजस्थान हमें बताता है, कि मुस्लिमशासकों की काम पिपासा में अनगिनत रणबांकुरों की बलि ली और इन लोगों ने खुशी के साथ बलि दी, क्योंकि घर की इज्जत नारी ही थी। यही कारण है कि हिन्दू समाज में मात्र घर के कार्य ही स्त्रियों के महत्वपूर्ण कार्य बन गए।[1] यद्यपि मुगल घरानों में रहने वाली बेगमों ने समय पड़ने पर तलवार भी हाथ में ली । उन्होंने समय-समय पर राजनीति में धुरी का कार्य किया है।[2] रजिया, सुल्तान दौलत बेगम, माहिम बेगम, बदरुन्निसा बेगम, नूरजहां, मुमताज महल, जहांआरा, रौशनआरा,[3] जेबुन्निसा आदि कुछ ऐसी ही नारियां हैं । इन सबने शिक्षा के लिए प्रयत्न किया ।

मक्तिकालीन साहित्य में नारी

इस विपत्तिकाल में ईश्वरोन्मुख हिन्दुओं की भक्ति-मर्यादा ने नारी स्थिति को और अधिक शोचनीय बना दिया । राजनीतिक उलट-फेर के कारण हिन्दू

---

१ Dr. Rekha Misra- Women in Mughal India, 1967, Ist edition. -Page 130.

२ Dr. Rekha Mishra- Women In Mughal India, 1967, Ist edition, Chap. 2nd & 3rd.

३ वही, पृ०८७

जनसमुदाय जीवन के प्रति उदासीन रहने लगा । ऐसे समय में ईश-भक्ति के अतिरिक्त और क्या मार्ग था ? इस भक्ति के मार्ग में "माया" को बाधक माना गया । नारी माया की प्रतिरूपिणी है । कबीर,जायसी,सूर,तुलसी सभी ने नारी को कर्तव्य मार्ग में बाधक माना है । बहुत अधिक विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं । सभी जानते हैं कि अपने लौकिक एवं यथार्थ रूप में नारी ने कितनी प्रताड़ना झेली है । अपनी सामयिक परिस्थिति में नारी ने मौन भाव से अपने को समर्पित कर दिया, चितारं जलती रहीं और नारियां सती होती रहीं । यद्यपि इसके विपरीत भक्त-कवियों ने नारी के प्रति आदर्शात्मक भाव भी यत्र-तत्र प्रकट किया है और इस आदर्शात्मक भाव को सीता जैसी आदर्श नारियों के रूप में प्रतिष्ठित किया है । लेकिन व्यावहारिक जीवन में नारी अपना सम्मान खो चुकी थी ।

वस्तुत: इस समय हमारी सामाजिक-अवस्था अत्यन्त हीन हो गई थी-- संस्कारों,रूढ़ियों तथा अन्य विदेशी प्रभावों के बीच में वे झुलते हुए समाज की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी । वैवाहिक समस्याओं के कारण लड़कियों का जीवन अभिशाप बन चुका था । नवजात बच्चियों की हत्या कर दी जाती थी । जीवित रहने पर सामाजिक परम्पराएं उनकी छोटी अवस्था में ही विवाह करवा देती थीं । नासमझ बालक और बालिकाओं के गठबन्धन का दुष्परिणाम बालिकाओं को ही सहना पड़ता था । अल्पायु में ही मां बनने पर अपने स्वास्थ्य का बलिदान कर देना पड़ता था । इसी के फलस्वरूप बाल-विधवाओं की शृंखला बनने लगी । जीवन को समझने के पहले ही वे इसके परिणामों, दु:खों को फेलने के लिए तैयार करवा दी जातीं । या तो पूरा जीवन वैधव्य में व्यतीत करना पड़ता या फिर पति की चिता के साथ भस्मीभूत होना होता-- यही दो आदर्श उनके जीवन में रह गए थे ।

जब इन बालिकाओं की इच्छाओं को कहीं प्रश्रय नहीं मिलता, तो वे दूसरे मोड़ों को ग्रहण करने लगीं । वे वेश्या होने में ही अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने लगीं । अनेक विद्वानों ने इसके लिए वेश्याओं को ही उत्तरदायी ठहराया, लेकिन वास्तव में इसका उत्तरदायित्व हमारे समाज के ऊपर ही है । मनुष्य में इच्छा-शक्ति का प्राबल्य है-- इसी के कारण तो मानव है, नहीं तो मानव और देवत्व दो कोटियां न होतीं । इस इच्छा-शक्ति के ऊपर बन्धन होने के कारण वे अपनी इच्छापूर्ति अन्य मार्गों से करती हैं । स्त्रियों

इन्हें पर्दानशीन करके उनके लिए स्वच्छ हवा भी दूभर कर दी थी । उन्हें अपने जीवनयापन के लिए किसी भी प्रकार के अधिकार न प्राप्त थे । अशिक्षा के कारण उनकी किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव न थी । समाज ने उनकी दशा हर तरफ से शोचनीय बना दी थी । ऐसी स्थिति में रहते हुए नारी वर्ग अत्यन्त क्षुद्र जीवन व्यतीत कर रहा था ।

आधुनिक काल

ऐसी परिस्थिति में भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना हुई[1] । स्थापना के साथ ही अंग्रेज़ों ने अपने शासन की स्थिरता के लिए कहीं प्रत्यक्ष एवं कहीं परोक्ष रूप में प्रभाव डालना आरम्भ किया[2] । पाश्चात्य नारी जागरण भी भारतीय वातावरण के लिए एक प्रेरणा स्रोत बना । इस स्थापना के फलस्वरूप देश में नवीन शिक्षा का आरम्भ हुआ, अंग्रेज़ी शिक्षा का समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए महत्व स्थापित हुआ । शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी भाषा रखी गई । किसी तरह भारतीय अंग्रेज़ी रहन-सहन को अपना लें, यही उद्देश्य सामने रखकर अंग्रेज़ी भाषा में नवीन शिक्षा-शासकों द्वारा आरम्भ की गई थी । पर इस हानि के साथ-साथ एक लाभ यह भी हुआ कि अनेक ग्रन्थों

---

1. J.C.Powell- Price- A History of India, Edition ?.
   Henry Beveridge - Comprehensive History of India, Vol. II
   H.G.Keene - History of India , edi. ?.
   Percival Spear _ India A modern History, edi ?.
   Stanley Woldert - India, edi. ?
   Elphinstone - History of India, 1866, IVth edition.
   Upendranath Ball - Modern India, edi. ?.
2. ManMohan Kaur - Role of women in the freedom -Movement,1968, 1st edition- page 6.

The impact of west on Indian Civilisation has brought about changes that are more fundamental in the case of woman than men. To men it brought a new conception of the world, of its material resources, ethical standreds and political possibilities but to the women it brought slowly but potently a new conception of them-selves as citizens in a new India, woman revalued themselves as citizens in a new India, woman revalued themselves as human beings in a new social order' .-

-By O' Malley.

के अध्ययन आदि से भारतीयों को अपनी सभ्यता की कमियों एवं व्याप्त अन्धविश्वासों का ज्ञान हुआ। शिक्षा-प्रसार से उनका दृष्टिकोण भी विकसित होने लगा।

(२) वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचार हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से वैज्ञानिक शिक्षा का आरम्भ हुआ। देश में रेल,तार,डाक की व्यवस्था हुई। अनेक उद्योग-धन्धे स्थापित हुए।

(३) इन सब के फलस्वरूप ऐसी बातें सामने आईं जिनसे भारतीयों को प्राचीन संस्कृति का गौरव पता चला। अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के लिए देश में प्रेस की स्थापना की। मुद्रण से भारतीयों का अध्ययन विस्तृत हुआ। फलस्वरूप अपने विगत गौरव को स्मरण कर वे एक बार पुन: अपने प्राचीन सांस्कृतिक गौरव को पाने के लिए प्रयत्नशील हो उठे।

'पुनर्जागरण'

इस प्रकार भारतीयों के अन्दर उत्साह की लहर दौड़ने पर ही पुनर्जागरण सम्भव हो सका। समाज और राष्ट्र में जो एक हीन भावना घर कर गई थी, वह पुन: दूर होने लगी। सृष्टि में सर्वत्र परिवर्तन व्याप्त है। क्या समाज, क्या देश, क्या राष्ट्र ? -- सभी में परिवर्तन होता रहता है। जहां पतन होता है, वहीं उन्नति भी सम्भव है। यह पुन: उन्नति ही पुनरुत्थान है। वस्तुत: 'पुनर्जागरण' शब्द नई चेतना के उदय तथा रूढ़ियों के अस्त को व्यक्त करता है। जब दो जातियां आपस में टकराती हैं, उनकी संस्कृति एक-दूसरे के सांस्कृतिक आयामों का आदान-प्रदान कर नवीन रूप धारण करती हैं, तब वही स्वरूप पुनर्जागरण कहलाता है। यह शब्द यूरोप के मध्ययुग और आधुनिक युग के बीच की संक्रान्ति की अवस्था का वाचक है। भारत में यह पुनर्जागरण १८५७ई० की क्रान्ति के बाद ही सम्भव हो सका। मुसलमान शासकों के शासन में, हिन्दू सामाजिक रीति-नीति अपने में और संकुचित हो चली थी, उनकी प्रेरणा-शक्ति अपने में ही कहीं विलीन हो गई थी। उनका गौरव एवं अभिमान एक बार फिर याद कराने की वस्तु हो गए थे। एक ओर तो राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए संग्राम आरम्भ हुआ, दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों,अन्धविश्वासों को दूर कर पुन: अपने पूर्व रूप में आने की चेष्टा की। पुनर्जागरण की भावना से प्रेरित होने वाले प्रयत्न समाज सुधारवादी

आन्दोलनों के रूप में सामने आए । सभी ने महसूस किया कि बिना सुदृढ़ आधार के महल कभी भी टिक नहीं सकता । जब तक सामाजिक सुधार न होगा, तब तक देश में राजनैतिक स्वतन्त्रता भी सम्भव नहीं ।

इस समय जिन आन्दोलनों ने इसमें सक्रिय भाग लिया, उनमें से ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज और थियोसॉफिकल सोसायटी प्रमुख हैं ।

ब्रह्म समाज

राजाराम मोहन राय ब्रह्म समाज के संस्थापक थे, जिन्होंने सर्वप्रथम सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयत्न किया । नारी स्थिति ने उनको सबसे अधिक आघात पहुंचाया । सती-प्रथा नारी जीवन के लिए एक अभिशाप था । छोटी उम्र की लड़कियाँ पति के मरने पर बलात् चिता पर रखी जाती थीं । स्त्री जाति पर होने वाले इस अत्याचार के विरोध में उन्होंने अथक प्रयास किया । स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह-निषेध, विधवा-विवाह, असवर्ण विवाह, खानपान में पुराने विधि-निषेधों का उल्लंघन भी किया । सन् १८५७ई० में श्री केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्मसमाज में प्रवेश किया । सन् १८६६ई० में उन्होंने अनेक अन्तर्जातीय विवाह कराए ।

प्रार्थना समाज

ब्रह्म समाज की एक शाखा प्रार्थना समाज के रूप में प्रस्फुटित हुई । सन् १८६७ई० में केशवचन्द्र सेन की संरक्षकता में प्रार्थना समाज के रूप में जन्म लिया[१] किन्तु इसका भरण-पोषण प्रायः महाराष्ट्र में ही हुआ । महादेव गोविन्द रानाडे ने प्रार्थना समाज के कार्य को आगे बढ़ाया । अनाथालय, विधवाश्रम, रात्रि पाठशालाएं आदि अनेक संस्थाएं इस समाज ने चलाईं । १८८७ई० में इण्डियन सोशल कान्फ्रेन्स की स्थापना हुई, जिसकी पृष्ठभूमि में रानाडे ही थे[२] ।

१ . Dr. Tarachand- History of Freedom Movement in India- Page-400 .

२ . S.Nataranjan - Social reform in India -
-Page 66.

आर्य समाज

आर्य समाज की स्थापना १८७५ई० में बम्बई में हुई थी[१]। स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके संस्थापक थे। आर्य समाज उन व्यक्तियों का एक ऐसा संगठन था, जो अच्छे बनने और दूसरों को बनाने में विश्वास करते थे[२]। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन गौरव, वैदिक धर्म तथा उसके आदर्शों को जनता के सामने रखा। वे एकेश्वरवादी थे। धर्म या समाज, किसी के लिए भी उन्होंने बाह्याडम्बर को मान्यता न दी। स्वामी दयानन्द ने नारी को शिक्षित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने अनुयायियों की सहायता से अनेक स्थानों पर "दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल" नाम से स्कूल खोले, फलस्वरूप लड़कियों का स्कूल जाना आरम्भ हुआ। इस समाज का मुख्य कार्य बाल-विवाह को दूर करने के लिए था। उस समय आठ-आठ, दस-दस वर्ष की कन्याओं का विवाह होता था। वर्णाश्रम धर्म की कट्टरता, इसका प्रमुख कारण थी। दहेज इसका अन्य कारण था। अपने ही बनाए हुए नियमों में समाज फंसा था। बाल-विवाह होने के कारण कन्या अशिक्षित अल्पवयस्क एवं व्यक्तित्वहीन हो जाती थी। फलतः वह ससुराल में भी आदर की पात्री न बन पाती थी। एक दासी के सिवा उसका और कुछ मूल्य न था। अपने इस प्रयत्न में आर्य समाज को सफलता भी मिली। ८ वर्ष से पूर्व होने वाले विवाह बन्द हो गए और विवाह की उम्र बढ़ गई। इसके कारण ही १९३०ई० में शारदा ऐक्ट पास हुआ, जिसके अनुसार कन्या की उम्र १४ वर्ष एवं लड़के की १८ वर्ष निश्चित हुई। विधवा के पुनर्विवाह पर भी "समाज" ने बहुत जोर दिया। स्वयं आर्य समाज के सुधारकों ने विधवाओं के साथ पुनर्विवाह करके जन-साधारण के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया। लेकिन ऐसा करते हुए भी उन्होंने विधवा से पुनर्विवाह के लिए नियम में बंधने को नहीं कहा। यदि कोई संयमी जीवन व्यतीत करना चाहती है, तो वह स्वेच्छापूर्वक कर सकती है।

थियोसाफिकल समाज

यह समाज १८७९ई० में भारत के मद्रास प्रान्त के अडयार में स्थापित किया गया। अपने मूल आदर्शों में तो यह विश्वमानव एकता तथा सभी धर्मों व एवं दर्शनों का

---

१. Lala Lajpat Rai - A History of the Arya Samaj - -Page 40.

२ Ganga Prasad Upadhyay The origins, scope and Mission of the Arya Samaj 1954. 2nd edition - page 5

अध्ययन तथा मनुष्य में स्थित शक्ति एवं प्रकृति का अध्ययन आदि को लेकर चला था। लेकिन भारतीय संस्कृति ने इसे विशेष आकृष्ट किया। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने भारतीय तत्कालीन स्थिति में पर्याप्त योग दिया। स्त्री-पुरुष के समानाधिकार, बाल-विवाह निरोध तथा अन्य उन सभी बातों का समर्थन और प्रचार किया जो उनके सम-सामयिक आन्दोलन संगठन कर रहे थे।

इस सामाजिक उत्थान को महर्षियों ने अपने चिन्तन द्वारा और समृद्ध किया। रामकृष्ण परमहंस का नारी में "मां" का दर्शन, सामाजिक स्तर को सुधारने का प्रमुख सिद्धान्त था। यह मातृ-दर्शन व्यक्ति को ईश्वरीय शक्ति तक पहुंचाता है। जहां व्यक्ति या आत्मा सर्वथा दोष मुक्त हो जाती है[१]। नारी जाति के प्रति यह आदर-भाव सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने में वरदान सिद्ध हुआ। इस भावना को अधिक प्रौढ़ता प्रदान करने वाले उनके शिष्य विवेकानन्द हुए। शिकागो के धर्म-सम्मेलन में दिए जाने वाले भाषण में भारतीय नारी के मातृत्व एवं पत्नीत्व रूप को उभारा। जीवन में नारी और पुरुष का समान योग माना है। शिक्षा, धर्म आदि प्रत्येक सामाजिक कार्य में नारी को स्थान प्रदान किया। उन्होंने स्त्रियों को अपनी समस्याएं सुधारने की पूरी स्वतन्त्रता दी[२]।

असहयोग आन्दोलन का प्रभाव

इस पुनर्जागरण-काल में असहयोग आन्दोलन का भी बहुत सक्रिय योग रहा है। असहयोग आन्दोलन राजनैतिक अस्त-व्यस्तता का परिणाम था[३]।

---

१. The message of Ram Krishna, Page 16.

"Women whether naturally good or not, whether chaste or unchaste, should always be regarded as images of the Blissful Divine Mother.' - Advaita Ashrama, 1st edi., 1961.

२. Thoughts of Power, Page 37- Advaita Ashrama, 1961.

'Women must be in a position to solve their own problems in their own way. No one can or ought to do this for them And our Indian women are as capable of doing it as any in the world.'-

३ मन्मथनाथ गुप्त -- "राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास", १९६१ई०, द्वि०सं०, आगरा।

महात्मा गांधी ने स्वतन्त्रता-संग्राम का नेतृत्व किया था । उन्होंने नारी को न केवल सामाजिक स्तर पर,वरन् राजनैतिक स्तर पर भी कार्य[1] करने का पूरा अवसर प्रदान किया। नारी अब अत्यन्त खुले रूप में कार्य करने लगी थी । पण्डिता रामाबाई,रानी लेडी हरनाम-सिंह ,मिस कुमुदिनी मित्र, श्रीमती बेगवती, श्रीमती सुशीला देवी, श्रीमती सरोजिनी बोस, श्रीमती के०के० गांगुली आदि कुछ ऐसी ही नारियां हैं,जिन्होंने बंगाल, मद्रास,दिल्ली आदि क्षेत्रों में राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया । महात्मा गांधी के सम्पर्क में आकर वस्तुत: नारी और अधिक क्रियाशील हो उठी । महात्मा गांधी ने नारी को वास्तविक सम्मान प्रदान किया । उसकी प्रत्येक समस्या जैसे गांधी जी की अपनी समस्या बन गई । उन्होंने विधवा बहनों को आदर की दृष्टि[2] से देखा तथा पुनर्विवाह का समर्थन किया ।बाल-विवाह वेश्या प्रथा आदि पर रोक लगाई । कहने का तात्पर्य यह है कि तत्कालीन नारी की अवस्था का समाधान, सभी स्तरों पर करने का प्रयत्न होता रहा ।

पाश्चात्य प्रभाव एवं वर्तमान नारी

उपर्युक्त बाह्य दशाओं के साथ-साथ भारतीय नारी-जीवन पर अपरोक्ष रूप से पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ने लगा । भारतीय नारी-समाज के एक अंश ने पश्चिमी नारियों के जीवनयापन प्रणाली को अपनाना आरम्भ किया, और यहीं एक नई संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई । क्योंकि भारतीय नारी एवं पाश्चात्य नारी के आदर्शों में पर्याप्त अन्तर है । भारतीय नारी का रूप "मां" है, पश्चिम में नारी "पत्नी" है । इस तथ्य[3] को स्वामी विवेकानन्द ने भी शिकागो के धर्म-सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा था । पश्चिम में स्त्री अपने बाह्य सौन्दर्य से पुरुष को आकर्षित करती है,

१ . Manmohan Kaur- Role of women in the freedom movement, 1st edition-1968.

२ रामनाथ सुमन (संग्रहकर्ता)--"गांधी वाणी",चतुर्थ संस्करण, १९५२ई० ।

३ विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खण्ड, पृ०३०६-१२
"भारत में स्त्री-जीवन के आदर्श का आरम्भ और अन्त मातृत्व में ही होता है ... पश्चिम में स्त्री पत्नी है । वहां पत्नी के रूप में ही स्त्रीत्व का भाव केन्द्रीभूत मानते हैं .. वह वस्तु जो नारीत्व को पूर्ण करने के लिए तथा नारी को नारी बनाने के लिये '' अपेक्षित है-- मातृत्व है ।"

भारत में स्त्री का आकर्षण उसकी आन्तरिकता है । जान स्टुअर्ट मिल जैसे अभिभावकों के सहयोग से उठी हुई वह पाश्चात्य नारी केवल चमक-दमक में खोकर रह गई । आज पाश्चात्य नारी, पुरुष की स्पर्द्धा में अपने को खो रही है । मैक्सलर्नर लिखते हैं--"अमेरिका में इस समय स्त्रियों को जितनी स्वतन्त्रता और अधिकार हैं, उतने पहले कभी नहीं थे । वे हर क्षेत्र में पुरुषों का मुकाबला कर सकती हैं, फिर भी उन्हें संतोष नहीं है । सरकारी नौकरी, व्यापार, डाक्टरी, विज्ञान में, ऊंचे पद पाने से ही उसे संतोष नहीं होता, क्योंकि इसके साथ वह पत्नी, माता और स्त्री भी रहना चाहती है । अपनी स्त्रियोचित प्रवृत्तियों का अपनी महत्वाकांक्षाओं से मेल न कर पाने के कारण वह कुण्ठा और निराशा की शिकार बनती है ।"[1] इस जीवन को अपनाने में संलग्न भारतीय नारी का स्वरूप भी आज कुछ-कुछ ऐसा ही दृष्टिगोचर होता है । १९ वीं शताब्दी में राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ चलने वाला नारी-आन्दोलन नारी-जागरण का द्योतक था । उस समय नारी अपने जागरण के प्रथम स्तर पर थी । उसकी आन्तरिकता लुप्त व नहीं हुई थी । जीवन में कर्मठ बनी, न केवल घर की सीमाओं में ही वरन् उससे बाहर के सभी क्षेत्रों में भी अपने पदार्पण किया । अपने रचनात्मक कार्यों द्वारा उसने अपने अन्दर निहित शक्ति का परिचय दिया । महादेवी वर्मा लिखती हैं कि --"राष्ट्रीय आन्दोलन के समय नारी ने यह दिखा दिया कि उसकी गतिहीनता का कारण पुरुष की कठोरता थी ।"[2]

---

१ आर०पी०एस० सिन्हा(अनु०)-- "अमेरिकी सभ्यता", १९६३ई० प्र० संस्करण, पृ०२१३ ।

२ महादेवी वर्मा --"शृंखला की कड़ियां", पृ०६१

"राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाली महिलाओं ने आधुनिकता को राष्ट्रीय जागृति के रूप में देखा और उसी जागृति की ओर अग्रसर होने में अपने सारे प्रयत्न लगा दिए .... उसके स्त्रीत्व से शक्तिहीनता का लांछन दूर हो गया । ... स्त्री ने प्रमाणित कर दिया कि पुरुष ने उसकी गति पर बन्धन लगाकर अन्याय ही नहीं, अत्याचार भी किया है... गतिवान को पंगु बनाकर रखना सबसे बड़ी क्रूरता है ।"

स्वतन्त्रता प्राप्ति तक नारी अपने उत्थान में पाश्चात्य नारी के स्वरूप को हू-ब-हू ग्रहण नहीं कर पाई थी, केवल उनकी प्रक्रिया को अपना कर चल रही थी । लेकिन आज तेजी से बदलता हुआ नारी का स्वरूप और वह भी भारतीयता के अंचल में एक नवीन स्थिति का द्योतक है । आज नारी अपने आदर्श से पीछे हटती प्रतीत हो रही है । बाह्य सौन्दर्य एवं ~~आकर्षण~~ एवं आकर्षण उसका लक्ष्य रह गया है । इसमें कोई शक नहीं कि नारी ने बहुत उन्नति की है, सभी क्षेत्र नारी से युक्त हैं । कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें नारी काम न कर रही हो, न केवल देश में ही वरन् विदेशों में भी भारतीय नारी प्रतिनिधित्व कर रही है । लेकिन इस आर्थिक उन्नति में उसकी कोमलता उससे छूटती जा रही है । इस भौतिक उन्नति के साथ-साथ उसे अपने दायित्वों, कर्तव्यों को नहीं छोड़ना है । अपने व्यक्तित्व के विकास के इस पहलू पर भी नारी को ध्यान देना होगा । आज पारिवारिक जीवन में जो एक तिक्तता एवं विशृंखलता प्रतीत होती है, वह स्वयं नारी के कारण है । नारी ने अपने नारीत्व एवं मातृत्व को भुला दिया है । उसकी दृष्टि में मातृत्व उसकी स्वतन्त्रता में बाधक है । कैसे रहकर अधिक सफलता प्राप्त कर सकेगी, यही उसे भ्रम हो गया है । यह आस्था उस वर्ग की नारी में प्राप्त है,जो अपने को सिर से पैर तक आधुनिका समझता है । आर्थिक दृढ़ता उसके इस अहं का कारण है । मध्यम वर्ग की नारी इस उत्थान के प्रति निष्क्रिय है । वह अपने जीवन को जी रही है, यद्यपि पूर्ण तृप्ति वहां भी नहीं है । वस्तुत: पाश्चात्य नारी का अंधानुकरण करती हुई आज की भारतीय नारी बीच में रह गई है । न तो वह पूर्ण दृष्टि से पाश्चात्य नारी ही हो पाई है, न पूर्ण रूप से भारतीय ही । त्रिशंकु के समान उसमें न मानसिक शान्ति रह गई है न शारीरिक । पाश्चात्य नारी का जीवनउसके अपने समाज, देश के संगठन के अनुरूप है । वहां के मशीनी जीवन के अनुरूप ही वहां की नारी का महत्व है । जब तक कार्य करने की शक्ति एवं आकर्षण उसमें है, तब तक उसका अस्तित्व है, अन्यथा उसका कोई स्थान नहीं । लेकिन हमारे यहां नारी को सदैव विशेष आदर से गौरवान्वित किया गया है । यहां का पुरुष अपने से बड़ी स्त्री को सदैव 'पूज्य' दृष्टि से देखता है और अपने से छोटी उम्र की स्त्री उसके लिए सदैव बहन के रूप में आदृत होती है । दृष्टि की यह विशालता जीवन को सुचारु रूप से चलाने में सहायक होती है ।

आज वर्तमान स्थिति में भारतीय नारी को अपना ही नहीं, समाज का , देश का सर्वांगीण विकास करना है । अपने में निहित शक्ति को वह स्वयं

पहचाने और उसका उपयोग करे । शिक्षा के क्षेत्र में नारी ने विशेष उन्नति की है । १६ वीं शताब्दी में नारी अशिक्षित थी । उस समय शिक्षा का अधिकारी मात्र पुरुष था, लेकिन इसके विरुद्ध किया गया प्रयत्न नारी की चेतना में सफल है । इस शिक्षा ने नारी जीवन में अन्य कतिपय समस्याएं भी जोड़ी हैं, यथा विवाह विषयक कतिपय समस्याएं । विवाह विषयक वह समस्याएं नहीं, जो १६ वीं शताब्दी में थीं और बीसवीं के प्रारम्भ में उन्हें दूर किया गया, परन्तु उनकी दिशाएं आज दूसरी हैं । वैवाहिक प्रसंगों में आर्थिक कारण जबर्दस्त बाधक है । दहेज के कारण लड़कियों की बढ़ती उम्र और उसके फलस्वरूप बढ़ता हुआ अनाचार आज के समाज का ज्वलंत प्रश्न है । पुरुष ने नारी को अपनी इच्छापूर्ति का साधन बना रखा है । आज शिक्षित होकर भी नारी को विवाह के लिए अपमान एवं दुःख सहना पड़ता है । नारी की शिक्षा ने हर क्षेत्र में पुरुष सम अधिकार दिलाए हैं, लेकिन इस क्षेत्र में उसकी शैक्षिक योग्यताएं पुरुष प्रवृत्ति को नहीं बदल पाई हैं । नारी-जीवन की यह समस्याएं, आज समाज सापेक्षता की मांग करती हैं । अविवाहित नारियों की संख्या बढ़े तो क्या आश्चर्य? लेकिन यह समस्या का समाधान नहीं होगा । एक कुण्ठा, दूसरी कुण्ठा को जन्म देती है । नारी को स्वयं को चरित्र-स्खलन से बचाकर, संयत होकर उन्हें दूर करने का उपक्रम करना होगा और उस रूप में समाज को सहयोग देना होगा । नारी को अपनी बौद्धिकता एवं नैतिकता दोनों को एक साथ लेकर चलना होगा । २० वीं शताब्दी के इस चरण तक नारी बहुत बदली है, पर उसे अभी और भी परिवर्तन लाने हैं ।

हम अपने प्राचीन वैदिक युग से आज तक की नारी-स्थिति का अवलोकन करें तो विदित होता है कि भारतीय नारी अनेक परिस्थितियों से गुजर कर यहां तक पहुंची है । वैदिक युग में प्राप्त महत्व,आदर एवं अधिकार समय के काफी अन्तराल के बाद आज फिर नारी को प्राप्त हुए हैं । नारी के मातृत्व को सदैव आदर की दृष्टि से देखा गया है । आज विकास की ओर बढ़ती हुई नारी को उसकी अवहेलना नहीं करनी है । अपने दायित्वों को पूर्ण करते हुए जीवन में आगे बढ़ना है । पाश्चात्य की नकल न करके वरन् अपनी भारतीयता के आदर्शों को कायम रखना है ।

नाटक

साहित्य, जीवन का प्रतिरूप है । साहित्य, अतीत,वर्तमान एवं भविष्य तीनों को अपने में समेटे रहता है । वर्तमान जीवन को वर्णित करता है, उसकी

कमियों के अनुरूप अतीत के जीवन की स्मरण दिलाता रहता है तथा भविष्य के लिए रास्ता दिखाता हुआ चलता है । यही साहित्य की विशेषता है । जीवन से भिन्न साहित्य की हम कल्पना नहीं कर सकते । साहित्य का विकास उसकी विविधरूपता जीवन के विकास एवं अनेकरूपता का प्रमाण है ।

नाटक भी साहित्य की एक विधा है । जीवन को प्रतिरूपित करने के लिए नाटक साहित्य की एक प्रमुख विधा है । हिन्दी नाटक का उद्भव १९ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में माना गया है[1] । यों तो भारतीय नाट्यसाहित्य के बीज वैदिककालीन साहित्य में ही प्राप्त होते हैं, जिसे विदेशी विद्वान् मैकडानल ने भी स्वीकारा है[2] ।इसके बाद की परम्परा संस्कृत नाटकों[3]में निहित है । संस्कृत और हिन्दी नाटकों के बीच का काल नाटक साहित्य का अवनति काल रहा है । हिन्दी नाटक का आरम्भ सभी ने १९ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध ही माना है । परन्तु डा० दशरथ ओझा की मान्यता इसके विपरीत है । वह हिन्दी नाटक का आरम्भ तेरहवीं शती से मानते हैं। 'हिन्दी का नाट्य-साहित्य विक्रम की १३ वीं शताब्दी में आरम्भ हो गया था । उन्नीसवीं शताब्दी तक मिलने वाला नाटक साहित्य उसी परम्परागत नाट्य- साहित्य की एक शाखा है,जो विक्रम की १३ वीं शताब्दी से लेकर अब तक प्रवाहित होती चली आ रही है[4]' ।हिन्दी

---

१ . George A. Grierson- The modern Literary History of Hindustan- -Calcutta.

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल -- हिन्दी साहित्य का इतिहास,नागरी प्रचारिणी सभा,काशी छठां संस्करण, सं०२००८ ।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय --'आधुनिक हिन्दी साहित्य',हिन्दी परिषद्,प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, १९४१ई० ।

मिश्रबन्धु --'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', संवत् १९९४,पंचम सं०

श्रीकृष्णदास --'हमारी नाट्य-परम्परा', प्रथम संस्करण, १९५६ई० ।

श्री कृष्णाचार्य --' हिन्दी नाट्य-साहित्य', ग्रन्थपुटी ।

२ .Mc donall - India's past ,1956, -Page 10.

३ डा० उदयभानु सिंह(भाषान्तरकार)--'संस्कृत नाटक', प्रथम संस्करण,१९६५ई०(मूल लेखक ए०बी० कीथ)।

४ डा० दशरथ ओझा -- 'हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास', द्वितीय संस्करण ।

के प्रथम नाटक को रास के रूप में गीतिनाट्य में खोजना अपने में एक महत्वपूर्ण तथ्य हो सकता है, लेकिन जहां तक आज वास्तविक हिन्दी नाटक का सम्बन्ध है, वह १६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में ही माना जायगा। हिन्दी नाटक भारतेन्दु, जयशंकर 'प्रसाद' तथा तदुपरान्त लक्ष्मीनारायण मिश्र, गोविन्दवल्लभ पंत, हरिकृष्ण 'प्रेमी' आदि के रचनात्मक क्रोड में पल्लवित होता रहा। हिन्दी-नाटक के विकास को पहले बताई गई पुस्तकों में विस्तार से जाना जा सकता है।

नाटक साहित्य में युगीन समस्याओं का अंकन होता रहा है। भारतेन्दुकालीन साहित्य तो पूर्णरूप से पुनर्जागरण की भावना से प्रभावित था। नाटककारों ने साहित्य को युग-चेतना का माध्यम बनाया। बाल विधवाओं की दयनीय स्थिति, बाल-विवाह के दुष्परिणाम, विधवा-विवाह, अनमेल विवाह, अज्ञानता आदि नाटक के विषय बने हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्राचीन एवं नवीन शैली का सम्मिश्रण कर नाटक में सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों को प्रश्रय दिया। जीवन के आदर्श रूप को यथार्थ से समन्वित कर उसे उपस्थित किया। प्राचीन आदर्शात्मक कथानकों में सम-सामयिक समस्याओं को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया[१]।

१६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की सांस्कृतिक चेतना के फलस्वरूप जिन विभिन्न सामाजिक सुधारों को प्रारम्भ किया गया था, उन्हें बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आकर अधिक से अधिक क्रियात्मक होने का अवसर मिला। स्त्री-शिक्षा का प्रचार, राजनीतिक एवं सामाजिक स्वत्वों के प्रति उनकी सजगता, भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में पुरुषों के साथ-साथ कदम रखना, विवाह विषयक समस्याओं का समाधान, पर्दा-प्रथा का लोप आदि ने भारतीय नारी को एक लम्बे समय के बाद अपने विकास का अवसर प्रदान किया। नाटककार जयशंकर 'प्रसाद' ने नारी के गौरव को अक्षुण्ण रखा। 'प्रसाद' शिल्प के मूल में भारतीयता निहित थी। किसी काल-विशेष की नहीं, वरन् प्राचीन एवं नवीन का सम्मिश्रण रूप था। उनके नारी-पात्र भी अपने में एक हैं। नारी जीवन को भी 'प्रसाद' ने कई कोणों से परखा है, भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी अटूट आस्था उन्हें कहीं भी सहलाती नहीं, बल्कि उन्हें युगानुरूप गत्यात्मकता प्रदान करती है[२]। 'प्रसादोत्तर-

---

१ ब्रजरत्नदास -- 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' जन्मशताब्दी संस्करण, १६५०ई०, पृ०१०१।

२ डा० बच्चन सिंह -- 'हिन्दी नाटक', १६५८ई०, प्रथम संस्करण, पृ०६७।

कालीन नाट्य-साहित्य में लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण 'प्रेमी' के व्यक्तित्व प्रभावशाली रहे हैं। युग की बौद्धिक समस्याएं इनमें अधिक रही हैं। वस्तुत: स्वतन्त्रता प्राप्ति तक जो नाटक-साहित्य विकसित होता रहा, उसमें परतन्त्र काल की समस्याओं और समाधानों के साथ-साथ नवीन समस्याओं को भी लिया गया है। समस्याएं ज्यादातर नारी-जीवन की ही थीं। समस्याओं का समाधान किए बिना कभी भी जीवन सफल नहीं हो सकता। सामाजिक राष्ट्रीय जीवन भी इससे आक्रान्त रही। जब तक व्यक्ति का भावात्मक विकास नहीं होगा, तब तक वह न तो स्वयं अपने को, न दूसरों को ही समझ सकेगा। बौद्धिक एवं शारीरिक विकास के साथ-साथ भावनात्मक विकास में ही प्रेम, विवाह एवं सम्पूर्ण जीवन पूर्ण हो सकता है।[१]

इस प्रकार धार्मिक आन्दोलनों ने जो संस्कार तैयार किए, उन्हीं से इस युग के सामाजिक और राजनीतिक नेता प्रभावित रहे और उन्हीं से प्रभावित साहित्य की सृष्टि भी हुई। इन धार्मिक एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों ने ही इस आधुनिक हिन्दी साहित्य को नवीन चेतना, नवीन विचार एवं नवीन भाव प्रदान किए।

-o-

---

१. Sir Harold Greenwald & Lucy Freeman- Emotional Maturity in Love and Marriage-1961, Page 247.

' To be successful in love and marriage requires that one be willing to head for a fair degree emotional maturity. It is not enough to be physically and intellectually mature, for many who marry possess these two qualities but cannot live happily together:-

अध्याय--२ :

नारी के प्रति दृष्टिकोण

अध्याय --२

नारी के प्रति दृष्टिकोण

नारी सदैव से विश्व के लिए एक आकर्षण का केन्द्र रही है। 'आकर्षण सौन्दर्य का प्राण है, और यह नारी में प्रकृत्या ही परिव्याप्त है। आकर्षण तत्व अनिर्वचनीय है। मूल प्रकृति का यह जिज्ञासामय संवेग है, जो सृष्टि के समस्त प्राणियों में नर-नारी की पारस्परिक अनुरक्ति उत्पन्न करता है। इस आकर्षण में यौन भावना ही नहीं, अन्य अनेक भावावेग आविर्भूत होते हैं, जो एक-दूसरे का समन्वय करते हुए अथवा संयुक्त होते हुए अत्यन्त मनोहारी प्रतीत होते हैं ... ।'[1] समाज एवं सभ्यता का हर सोपान नारी के विषय में धारणाएं बदलता रहा है। भारत की प्राचीन सभ्यता में सृष्टि के लिए स्त्री और पुरुष के महत्व को जाना गया तथा दोनों को उनके महत्वानुसार महत्ता प्रदान की गई। नारी के गौरव को पहचाना गया। उस समय नारी तिरस्कार की वस्तु न थी, आदर की पात्री थी। लेकिन शनै: - शनै: पुरुष सत्ता की प्रधानता के साथ-साथ नारी का महत्व भी घटने लगा और नारी की अवहेलना मध्ययुग में चरम सीमा पर पहुंच गई थी। वैराग्य की भावना ने, नारी को माया के रूप में बहुत तिरस्कृत किया। उसका कोई वैयक्तिक, सामाजिक एवं सार्वजनिक महत्व न था। पूरे युग में नारी के प्रति एक तीक्ष्ण अवहेलना व्याप्त थी। समय ने फिर करवट ली और हमारे विद्वानों तथा सुधारकों ने नारी के प्रति सामान्य दृष्टिकोण को उदार बनाया। उसके गौरव को पुन: प्रतिष्ठित किया। महात्मा गांधी ने नारी - शक्ति को समाज में स्थापित किया। अब तक नारी की लोकोपकारिणी शक्ति को प्रकट होने का अवसर न मिला था। स्वाधीनता संग्राम ने नारी-जीवन को ऐसा मोड़ दिया कि असंख्य स्त्रियों ने पर्दे से बाहर आकर देश के लिए अपना सब कुछ अर्पण किया। एक बार पुन: अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर समाज के ठेकेदारों

---

१ डा० व गजानन शर्मा -- 'प्राचीन साहित्य में नारी', १९७१ई०, प्रथम संस्करण, पृ०३०।

को संकेत किया। महात्मा गांधी ने कहा कि पुरुष ने नारी की आत्मा को कुचल रखा है। यदि उसने भी पुरुष की भोग-लालसा के सामने अपने-आपको समर्पित न कर दिया होता तो सोयी हुई शक्ति के इस अथाह भण्डार के दर्शन का अवसर संसार को मिल जाता। तब भी उसके चमत्कारपूर्ण वैभव का दर्शन हो सकेगा, जब नारी को संसार में पुरुष के समान अवसर मिलने लगेगा और पुरुष तथा नारी दोनों मिलकर परस्पर सहयोग करते हुए आगे बढ़ेंगे[1]। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने समाज और सभ्यता में पुरुष की अपेक्षा नारी का महत्व कम नहीं माना है, बल्कि उनका कहना है कि नारी का योग पुरुष की तुलना में अधिक ही हो सकता। उसका महत्व कम नहीं[2]। नारी के प्रति बदलते हुए इन दृष्टिकोणों ने उसको सामाजिक, आर्थिक यन्त्रणा से मुक्त कर सम्मान दिलाया।

युग की विचारधाराओं से साहित्य दूर कैसे रहता ? युग की प्रत्येक दशा साहित्य में व्याप्त है। आलोच्यकाल के नाटककारों ने नारी की शोचनीय अवस्था को समझा। नारी की सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को चित्रित किया। साथ ही उनका परिष्कार भी किया है। जब नाटककारों का दृष्टिकोण नारी के प्रति उदय हुआ तो नाटकों में वर्णित नारी की सामाजिक स्थिति भी अपने में सुधार ला सकी है। उसकी सती प्रथा को तथा पर्दा प्रथा को नाटककारों की असहमति प्राप्त हुई। उनका क्रम से इसी अध्याय में वर्णन किया गया है। नाटककारों ने नारी को पूज्य माना है। वह मंगलमयी है। बिना नारी के पुरुष अपूर्ण है। लेकिन साथ ही अनेक नाटककार स्वयं नारी से नैतिक उत्थान की भी आशा करते हैं। यदि नारी अपने-आपमें दृढ़ रहे, तो समाज को अपने-आप उसे सहयोग देना पड़ेगा। नारी का चारित्रिक मूल्य, समाज-व्यवस्था के लिए बहुत अधिक आवश्यक है।

नाटककार केशवराम भट्ट नारी के दयालु हृदय से बहुत अधिक प्रभावित हैं। वे हर समय दूसरों के हित में ही लगी रहती हैं। सज्जाद कहता है--"औरतों के दिल रहम और दिलसोज़ी के गढ़े रहते हैं... ये दूसरों की ख़ुशी पै ख़ुशी, दूसरों के ग़म पे ग़मगीन। अपना कुछ ख़्याल नहीं[3]।" नाटककार ज्ञानदत्त सिंह ने नारी के प्रति समाज के एकांगी

१- हरिभाऊ उपाध्याय --'बापूकथा', पृ०११८
२. Rabindra Nath Tagore- Personality- 4th edition 1945, Page 180.
३ केशवराम भट्ट --'सज्जाद सुम्बुल', १६०४ई०, अंक ४, झांकी ४, प्रथम संस्करण, पृ०६४

दृष्टिकोण को समाप्त करना चाहा है । उसको केवल अपनी वासनापूर्ति की चीज़ समझना भ्रम है । उसका अस्तित्व इससे कहीं अधिक है ।[1] `.... स्त्रियों को केवल भोग-विलास की सामग्री समझना ... सब अपराध है ।` नाटककार बलदेवप्रसाद मिश्र भी नारी के कोमल रूप से बहुत अधिक प्रभावित है । नारी के प्रति आदर की दृष्टि रखते हैं । शंकर कहते हैं--` नारी जाति बड़ी ममतामयी होती है । बड़ी स्नेहशीला होती है । पुरुष का जीवन भले के समान है, जो इधर-उधर सब ओर विस्तार चाहता है । स्त्रियों का हृदय सरोवर के समान है, जो एक ही स्थान में बद्ध होकर संसार भर की रोचकता ला देता है । स्त्रियों से ही स्नेह के स्थिर संगठन का नाम घर है...`[2] ।

ईश्वरीप्रसाद शर्मा, समाज के भ्रम को नारी के विषय में जड़म समाप्त करना चाहते हैं । स्त्री आदर की पात्री है । वीर सिंह मानों वीरसिंह के माध्यम से सभी युवक वर्ग से कहते हैं--`... प्रतिज्ञा करो... रमणी मात्र को आदर की दृष्टि से देखोगे, उसके धर्म की रक्षा करने में सहायक बनोगे ..[3] ।` नारी जब अपनी स्वाभाविकता को छोड़कर कठोर रूप धारण कर लेती है, तो वह अत्यन्त अकल्याणकारी हो जाती है । नाटककार नारी को सदैव मंगलरूप में ही देखना चाहता है । `अनोखा बलिदान` नाटक में काली की महत्वकांक्षा उसे एकदम नैतिक स्तर से गिरा देती है । उसकी पूर्ति के के लिए वह भाई की हत्या भी कर डालती है ।[4] सुरेन्द्र कहता है--`...स्त्री वह है, जिसमें दया हो, लज्जा हो, सच्चाई हो, प्रेम हो... ।` नारी का गार्हस्थ्य रूप ही उसका वास्तविक रूप है । कामताप्रसाद गुरु नारी को इसी रूप में निपुण देखना चाहते हैं[5] । नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र का नारी के प्रति दृष्टिकोण उदार है, लेकिन वे उसे भारतीय आदर्श से बांध रखना चाहते हैं । नारी को वैसे वह पूरी स्वतन्त्रता देते हैं, लेकिन नैतिक आचरण में वह उसे ज़रा भी अमर्यादित नहीं देखना चाहते । वह सामाजिकता को अधिक महत्व देते हैं । `सिन्दूर की होली` में चन्द्रकला नहीं, वरन् मनोरमा में उनका इच्छित नारी रूप विकसित हुआ है । उनके लिए स्त्री प्रेममयी है । मनोजशंकर कहता है--

---

१ ज्ञानदत्त सिद्ध --`मायावी`, १९२..ई०, प्रथम संस्करण, अंक३, दृश्य२, पृ०४८ ।
२ बलदेवप्रसाद मिश्र --`शंकर दिग्विजय`, १९२४, प्र०सं०, अंक४, दृश्य७, पृ०१०७ ।
३ ईश्वरीप्रसाद शर्मा --`रानी सुन्दरी`, १९२५, प्र०सं०, अंक१, दृश्य१, पृ०१२ ।
४ उमाशंकर वरमंडल --`अनोखा बलिदान`, १९२८, प्र०सं०, अंक१, दृश्य१, पृ०७ ।
५ कामताप्रसाद गुरु --`सुदर्शन`, १९३२ई०, प्र०सं०२, अंक२, दृश्य१, पृ०३६ ।

"....स्त्री जाति की स्तुति केवल इसीलिए होती है कि वे प्रेम करती हैं... प्रेम के लिए ही उनका जन्म होता है... ।"[1]

प्रो० सत्येन्द्र ने नारी को दिव्य शक्ति से युक्त माना है । नारी के प्रति उन्होंने विस्तृत दृष्टिकोण अपनाया है । छत्रसाल नारी की अप्रतिम शक्ति से अवगत हैं,। वह देश की विपत्ति को दूर करने के लिए नारी-शक्ति की अपेक्षा रखता है । वह विजया से कहता है कि नारी ही तो विश्व की वास्तविक शक्ति है । कोमल कमनीय आवरण में जो तेज छिपा रहता है, उसके द्वारा नारी विश्व में दिव्यता का प्रसार कर सकती है ।[2] नाटककार परिपूर्णानन्द वर्मा नारी को सदैव आदृत दृष्टि से ही देखते हैं । वे समाज में सबसे यही आशा रखते हैं कि सामाजिक नारी को पूज्य दृष्टि से देखें । उसे जीवन में पर्याप्त सम्मान दें । नाटककार ने जीवन की समृद्धता को नारी स्थिति का ही कारण माना है । रानी भवानी का अनादर करने के कारण ही नाटौर नरेश रमाकान्त को जीवन में कितनी पराजय एवं अपमान का सामना करना पड़ा । भिखारिन के माध्यम से नाटककार कहता है-- "...जो किसी स्त्री का आदर करता है, वह संसार की सबसे बड़ी समृद्धि और विजय प्राप्त करने का अधिकारी होता है और जिसने किसी स्त्री का ज़रा भी दिल दुखाया, वह महापातकी नरकगामी होगा ।"[3] इस प्रकार नाटककार नारी के प्रति अत्यन्त उदार है । वह नारी को जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग मानकर उसे सदैव सम्मानित देखना चाहता है । नाटककार उदयशंकर भट्ट अपने "कमला" नाटक में नारी की हीन स्थिति से अत्यन्त दु:खी हैं। उनका कहना है कि जब तक कमला जैसी नारी का अपमान देवनारायण जैसे बुद्धिहीन पुरुष करते रहेंगे, तब तक वे सुखी न रह पायेंगे ।[4] "नारी पुरुष की पैरों की धूल नहीं है । वरन् वह तो जीवन में उसकी सहचरी है । जितना महत्व पुरुष का है, उतना ही नारी का । फिर पुरुष स्त्री के साथ मनमाना व्यवहार क्यों करता है? नाटककार जीवन में नारी को पुरुष सम महत्व देना चाहता है । नारी के बिना जीवनपूर्ण नहीं है । विश्वम्भर-सहाय के कुद्ध तो समाज द्वारा नारी की अवहेलना के लिए अत्यन्त व्याकुल हैं । पुरोहित

१लक्ष्मीनारायण मिश्र --"सिन्दूर की होली",१९३४ई०, प्र०सं०, अंक २,पृ०६१ ।
२प्रो० सत्येन्द्र --"मुक्तियज्ञ", १९३७ई०, प्र०सं०,अंक१,दृश्य६,पृ०२२ ।
३परिपूर्णानन्द वर्मा --"रानी भवानी", १९३८ई०, प्र०सं०,अंक ३दृश्य ५,पृ०८५ ।
४उदयशंकर भट्ट-- "कमला", १९३९ई०,प्र०सं०, अंक २, सीन २, पृ०५१ ।

पुरोहित द्वारा चिरपरिचित परिपाटी को दुहराते देख वे अत्यन्त उत्तेजित हो जाते हैं। जो स्त्री अपना सब कुछ भूल, परिवार की सेवा करती है। पुरुष की खुशी में ही अपना सब कुछ अर्पण कर देती है, उसके लिए अनादर कैसा है[1]। वस्तुत: अधिकतर सभी नाटककारों ने नारी के प्रति समाज की रूढ़िवादी दृष्टि को खण्डित करना चाहा है। नारी को जीवन में क्रियाशील रखकर उसे पुरुष के समान अधिकार देकर आदृत किया है।

नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने नारी को गौरवपूर्ण दृष्टि से देखा है। उसकी सहनशीलता, दृढ़ता के प्रति नाटककार अत्यन्त आकृष्ट है। मध्ययुगीन पुरुष वर्ग उसे मात्र मनोरंजन का साधन समझता है। लेकिन नाटककार नारी को उससे कहीं अधिक ऊंचे स्थान पर देखता है। प्रकाश कहता है--" यह वह फूल है जिस तक मानव का पापी हाथ नहीं पहुंच सकता। वह प्रतिमा है, जिसकी कठोरता और दृढ़ता में आशीर्वाद छिपा है। वह कोमलता है, जिसकी धारा में संसार को पवित्र करने की क्षमता है[2]।" रजनीकान्त की पत्नी ज्योत्स्ना के प्रति उसके कुछ मित्र व्यंग्य दृष्टि डालते हैं। लेकिन भले ही उस नारी को पति के आदेशानुसार प्रदर्शन करना ही पड़े, पर उसकी आत्मा अपने में दृढ़ है। उसका यह आत्म-गौरव ही नाटककार के लिए आदर का कारण है। नारी, चाहे 'ज्योत्स्ना' हो या 'छाया' अथवा 'माया', नाटककार ने किसी को हीन दृष्टि से नहीं देखा है। वे अपनी परिस्थितियों से विवश होती भी कितनी दृढ़ रहती हैं, यही नारी की वास्तविक मर्यादा है।

श्री जागेश्वर प्रसाद ने अपने नाटक 'अभिषेक' में नारी को सभ्यता की स्थिरता का कारण माना है। नारी की समाज द्वारा अवहेलना स्वीकार नहीं की है। सीता रावण से कहती हैं--"... मूर्ख! नारी केवल भोग की वस्तु नहीं है। वह अतीन्द्रिय जगत का रूपक है... मानव-सभ्यता की महिमा युक्त स्थिरता नारी के कारण ही है[3]।" नाटककार सुदर्शन "सिकन्दर" नाटक में स्त्री को पुरुष की सबसे बड़ी ताकत बताते हैं। अरस्तु औरत को मर्द की सबसे बड़ी कमजोरी बताता है, लेकिन रुख़साना कहती है--"औरत मर्द की सबसे बड़ी ताकत है, जो दुनिया को फतह करना चाहे उसे

---

१ विश्वम्भरसहाय व्याकुल --"बुद्धदेव", १९४०ई०, प्र०सं०, अंक१, दृश्य३, पृ०४०-४१।

२ हरिकृष्ण प्रेमी --"छाया", १९४१ई०, प्र०सं०, अंक१, दृश्य१, पृ०४।

३ श्री जागेश्वरप्रसाद -- 'अभिषेक', १९४६ई०, अंक१, दृश्य५, पृ०२२।

औरत को अपने साथ रखना चाहिए । .... औरत न हो तो मर्द की दुनिया वीरान हो जाए ... ।[1]" नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी', नारी को पुरुष के लिए प्रेरणा एवं शक्ति रूप में ही देखना चाहते हैं । महाराणा की पुत्री प्रभा, जब अपने सैनिक वेश में भाई गिरिसिंह के सामने आती है तो वह कहता है--"जब तुम तलवार पकड़ती हो तो ऐसा जान पड़ता है, जैसे तुम्हें अपने भाई की शक्ति पर भरोसा नहीं रहा । हमें युद्ध-भूमि के साथ एक घर की भी आवश्यकता है, बहन । जब घर के सभी पुरुष युद्ध से थक जायेंगे तो दूसरे दिन लड़ने को बल कौन देगा ?[2]" अख्तरी भी नारी को कोमल कुमारी रूप में ही देखना चाहती है । वस्तुत: नारी का आत्म-बलिदान ही समाज के आदर की वस्तु है । यही मनुष्यता की रक्षा करता है । महाकाल ताण्डवी से कहता है"....किन्तु बहन तुम नारी हो । नारी का पराक्रम आत्म-बलिदान है, प्रतिशोध नहीं ... नारी मनुष्यता की रक्षा के लिए जीवनाहुति देकर अमर हो जाती है ।[3]" आचार्य चतुरसेन शास्त्री नारी के नैतिक, बौद्धिक उत्थान के समर्थक हैं । नारी पुरुष की प्रेरणा है, वह आदर की पात्री है । राजसिंह नाटक की उदयकुमारी केवल भोग में ही नहीं रहती । वह समझती है कि पुरुष को नारी के अन्दर निहित शक्ति की विशेष आवश्यकता रहती है । नाटककार ने नारी को जीवन में पूरा अधिकार देना चाहा है ।

नारी की सामाजिक स्थिति

इस प्रकार नाटककारों का मूल दृष्टिकोण तो नारी के प्रति गौरवपूर्ण रहा है । वे उसके महत्व को स्वीकारते हैं । नारी के प्रति समाज के दृष्टिकोण को बदलना चाहते हैं । इस प्रयत्न में वे नारी की सामाजिक स्थिति को सुधारना चाहते हैं, क्योंकि समाज एवं सामाजिक दोनों एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं । व्यक्ति के कार्य-कलाप ही समाज के कार्य-कलाप होते हैं । आदर्श समाज की संरचना तभी हो सकती है, जब कि उसमें रहने वाले स्त्री-पुरुष सुखी हों । यदि समाज में नारियाँ स्वस्थ एवं प्रसन्न और विनम्र हों,

---

१ सुदर्शन -- "सिकन्दर" १९४७ई०,प्र० संस्क०,अंक१,दृश्य२, पृ०१० ।

२ हरिकृष्ण प्रेमी -- "मित्र", १९४८ई०, द्वि०सं०,अंक१, दृश्य७,पृ०२८ ।

३ वही , अंक३, दृश्य६,पृ०९९ ।

तो किसी भी प्रकार की लैङ्गिक समस्याएं न उत्पन्न हों[१]। मैग्डूगल महोदय ने सामाजिक नियन्त्रण को जीवन के लिए आवश्यक माना है[२]। जहां व्यक्ति का जीवन-समूह रूप में, समाज की रचना करता है, वहीं समाज अपने किन्हीं प्रमुख नियन्त्रणों के द्वारा जीवन को नियन्त्रित करता है। जो जाति सामाजिक नियमों को जितनी श्रद्धा एवं कठोरता के साथ पालन करती है, उतनी ही अधिक उसकी सभ्यता स्थायी होती है। श्रद्धाविहीन बुद्धि ही समाज में उलझनों को पैदा करके नाश का कारण बनती है[३]। अत: समाज में रहते हुए स्त्री पुरुष अपने-अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए सदाचरण से जीवन व्यतीत करें, तो जीवन बहुत सुलझे रूप में रहेगा। जीवन के सदाचरण में समाज भी अधिक हस्तक्षेप न कर सकेगा। प्राचीन नैतिक आदर्शमध्ययुगीन समाज में बहुत गिर गए थे। समाज ने परिस्थितिवश अपने नियन्त्रणों को बहुत अधिक कठोर कर लिया था। नारी की सामाजिक स्थिति निम्न हो गई थी। कुछ तो विदेशियों के कारण भी समाज ने नारी को उनकी नजर से एकदम छुपाकर रखना चाहा। लेकिन धीरे-धीरे नारी की प्रतिष्ठा घर की चहारदीवारी में केवल ही कैद होकर रह गई।

---

१ Dr. William Mc dougall- Social Psychology- 1928, 2nd edition, 360 Page.

" In a society in which all women were noble and beautiful and chaste, their, would be no sexual problem and disorder'-.

२ . Dr. William Mc dougall- Social Psychology-1928, 2nd edition, -Page 231-232.

' We find that among all peoples, save the very lowest in the scale of culture, the institution of marriage and the duties of parenthood are surrounded by the most solemn social sanctions which are embodied in- traditional public opinion and in custom, in formal laws and in the rules and doctrines of religion. These sanctions are in the main the more solemnly and regidly maintained by the society, the higher the degree of civilisation attained by it . . . '-

३ वही, पृ०२३३ ।

हमारे आलोच्यकाल के नाटककारों ने नारी की निम्न सामाजिक स्थिति का खुब खुलकर चित्रण किया है । नारी के ऊपर सामाजिक दबाव को हटाकर उसे सम्मानपूर्वक सामाजिक जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान किया है ।

उस समय पुरुष ने नारी को अपने पूर्ण अधिकार में समझ कर बहुत सताया है । केशवरामभट्ट के `सज्जाद सुम्बुल` में शमशेर बहादुर जैसे लोग स्त्रियों को बहुत सताते हैं । उसने जिन्दगी भर नसीबन को रुलाया तथा हलिमा के पति की हत्या कर उस पर अपना असहनीय अधिकार जताया है । अब्बास की सौतेली मां महबुबा को भी बदनाम करने की कोशिश की[1] ।

इतना सब नारी की महत्वहीन स्थिति के कारण ही था । समाज ने उसके महत्व को भुला दिया था, लेकिन नारी भी अब सचेत हो रही थी-- नाटककार ने सुम्बुल और गुलशन के द्वारा सामाजिकता के प्रति सजग होती हुई नारी का भी चित्रण किया है ।

`स्वर्ण देश का उद्धार` नाटक में नारी की हीन सामाजिक स्थिति पर नाटककार अत्यन्त चिन्तित है । स्वयं अभिभावक वर्ग इस विषय में सचेत नहीं है । धनदास कोठारी धनी बनने के लिए अपनी बेटी अनन्तप्रभा को धर्मप्रेम से विवाह न करने के लिए उसे घर से निकाल देता है[2] । अपने स्वार्थ के आगे वह पुत्री के महत्व एवं मर्यादा को भी भुला देता है । ऐसे समाज के लिए नाटककार स्वयं नारी को प्रेरणा देता है । अनन्तप्रभा स्वयं इन अत्याचारों के विरोध का नेतृत्व करती है । समाज नारी को अपनी वासनापूर्ति का एक साधन मात्र समझता था । जिस बौद्ध धर्म ने बुद्ध के संयम ब्रह्मचर्य को प्रतिष्ठित किया था, उसी में भिक्षुणियों पर भिक्षुक अपनी कुदृष्टि डालने लगे । `शंकरदिग्विजय` नाटक में कुमारिल की बहन भारती को देखकर भिक्षुक आपस में कहते हैं--`... अरे, यह हमारे मठ की भिक्षुणी क्यों नहीं हो जाती ? हम उसके गुलाम बनकर इसकी आज्ञाएं सिर आंखों पर धारण करेंगे... अरी सुन्दरी (स्वगत),इसके रुप के तेज के आगे तो मुझसे बोलते ही नहीं बनता[3]... । समाज में स्त्रियों के प्रति यह लोलुप दृष्टिकोण था । धर्म

1केशवरामभट्ट --`सज्जादसुम्बुल`,१८७४ई०प्र०सं०,अंक३-३,पृ०५२

2हन्दुवेदालंकारविद्यावाचस्पति--`स्वर्ण देश का उद्धार`,१९२१ई०,प्र०सं०,अंक२,गर्भांक५,पृ०४४।

3बलदेवप्रसाद मिश्र --`शंकरदिग्विजय`,१९२३ई०,१४,अंक १,दृश्य५,पृ०१४-१५ ।

वासनापूर्ति के लिए आतुर था । दूसरी ओर अघोरियों का अत्याचार बढ़ गया था । आए दिन कन्याओं का अपहरण होता था, लीलावती[1] जिसका चन्द्रशेखर से विवाह होने वाला था, ऐसी ही एक अभागिन कन्या का चित्रण है । नाटककार ब्रजनन्दनसहाय ने स्त्री की सामाजिक स्थिति को ऊपर उठाने का यत्न किया है । सामाजिक अत्याचारों का विरोध करते हुए अभयानन्द पीड़िता मनोरमा को देख विजयानन्द से कहते हैं--" स्त्री होने के कारण यह विशेष आदर की पात्री है ।[2] यदि स्त्रियां न होतीं तो सृष्टि का विस्तार कब का न ह बन्द हो गया होता ? ... ।" समाज के लिए स्त्री का सतीत्व तो एक खिलवाड़ की चीज़ है । ईश्वरीप्रसाद शर्मा की रानी सुन्दरी एक समाजपीड़िता है । पहले तो उसे झूठे इल्ज़ाम को सहन कर घर से निकलना पड़ता है, लेकिन फिर भी वह चैन से रह नहीं पाती । जहां जाती है समाज की क्रूर एवं लोलुप आंखें उसे घूरती हैं । वह यही सोचती है--"... क्या कहीं कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहां लोग[3] नारी की मर्यादा करते हों? उसके सतीत्व को.... खिलवाड़ की चीज़ न समझते हों ?.. " आनन्दप्रसाद कपूर के 'अत्याचार' में नारी के प्रति चारों ओर सामाजिक अनुदारता व्याप्त[4] है । लक्ष्मीकांत जैसे सेठ, रामदास का गला घोंट उसकी लड़की का हरण कर लेता है । क्या अमीरी, इसी प्रकार गरीबों की बहू-बेटियों की इज्ज़त नष्ट करती रहेगी ? नाटककार ने उसे गिरफ्तार करवा कर अपना रोष व्यक्त किया है । वह नहीं समझ पाता कि नारी को पूर्ण सामाजिक गौरव कब प्राप्त होगा ? नाटककार किशनचन्द ज़ेबा भी समाज की स्थिति के प्रति चिन्तित है । इसीलिए श्रद्धानन्द देश के उद्धारकर्ता बने हैं ।

सरस्वती लक्ष्मी से कहती है--"कभी न कभी तो पुरुष समाज अपनी भूल को जानेगा, एक दिन ज़रूर इस बात[5] को ... कि जाति में स्त्रियों की क़दर न होना जाति के लिए मौत का पैग़ाम है... ।" श्री नगेन्द्र का विनय भी स्त्री के ऊपर होने वाले समाज के अत्याचारों के परिणाम को शान्तिकुमार से बताता है--".. यदि

---

१ बलदेवप्रसाद मिश्र --'शंकर दिग्विजय', १९२३ई०, अंक१, दृश्य५, पृ०१४-१५।

२ ब्रजनन्दनसहाय -- 'अर्धांगिनी' , १९२५ई०, प्र०सं०अंक ३, पृ०५ ।

३ ईश्वरी प्रसाद शर्मा --'रानी सुन्दरी', १९२५ई०, प्र०सं०, अंक३, दृश्य१, पृ०९३।

४ आनन्दप्रसाद कपूर --'अत्याचार', १९२६ई० अंक१ दृश्य४, पृ०४० ।

५ किशनचन्द ज़ेबा --'शहीद सन्यासी', १९२७ई०, एक्ट१, सीन५, दृश्य१, पृ०५७ ।

तुम उस पर अत्याचार करोगे, उसे दबाओगे तो बड़ा ही अनिष्टकारी परिणाम होगा[1]।" वास्तव में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध तक तो नारी की सामाजिक स्थिति एकदम गिरी हुई थी। उसको किसी भी प्रकार का आदर या महत्व प्राप्त न था। पुनर्जागरणकाल में नारी की इस अपमानपूर्ण स्थिति के प्रति समाज का एक भाग सचेत हुआ और उसने पुनः नारी को सामाजिक गौरव प्रदान करने का प्रयत्न किया। जमुनादास मेहरा की दर-दर भटकती हुई "राधा" में समाज का खोखलापन स्पष्ट दिखाई देता है। राधा को बलात् टोडरमल, अपनी वासना तृप्ति के लिए उसको ससुराल में उसे कुजाति के लिए बदनाम कर देता है, जिससे उसे ससुराल में स्थान नहीं मिलता है। प्रभा कहती है-- "... हिन्दु समाज तेरी विपत्तियों का कारण है, जिसने तुझे कुजाति की कन्या प्रसिद्ध करके इस घर का सर्वनाश कराया...[2]।" बलदेवप्रसाद मिश्र ने भी "समाजसेवक" में समाज की कठोरता को दिखाया है। समाज के सामने नारी की अपमानपूर्ण स्थिति के लिए प्रश्नचिन्ह खड़ा किया है। करुणाशंकर की लड़की राधा विन-दहाड़े चुरा ली जाती है। इस नाटक के स्वामी जी, जो धर्म को अपनी मुट्ठी में बन्द करने के प्रयत्न में लगे हैं, करुणाशंकर द्वारा पुनः बेटी को अपनाए जाने की तीव्र आलोचना करते हैं। उनकी दृष्टि में स्त्री पुरुष की तरह सामाजिक आदर को नहीं प्राप्त कर सकती है। लेकिन नाटककार इनके विरोध में नारी को खोई हुई प्रतिष्ठा प्रदान करता है। राजा साहब कहते हैं-- "... यदि स्त्रियां बलपूर्वक धर्षित हो जायं तो उनसे सामान्य प्रायश्चित लेकर उन्हें समाज में मिला लिया जा सकता है...[4]।" वास्तव में समाज के झूठे ढकोसलों ने नारी को अत्यन्त निम्न स्थिति में पहुंचा दिया, जब तक इसका विरोध नहीं किया जायगा, तब तक वह अपनी कठोरता को नहीं छोड़ेगा। पन्नालाल "रसिक" के रत्नकुमार में पतियों के अत्याचार के फलस्वरूप आत्महत्या की ओर प्रेरित होने वाली नारियों की सामाजिक विडम्बना की ओर इंगित किया है। रत्नकुमार के वेश्यागामी हो जाने से सुन्दरी की स्थिति कितनी अधिक दुःखदायी हो जाती है। जिन्दगी से एकदम घबराकर नदी में कूदने के सिवा और

१श्री नगेन्द्र -- "नीच", १६३१ई०, प्र०सं०, अंक४, दृश्य२, पृ०१११-१२।

२जमुनादास मेहरा --"हिन्दु कन्या", १६३१ई०, प्र०सं०, अंक१, दृश्य३, पृ०७८

३बलदेवप्रसाद मिश्र --"समाज सेवक", १६३३, प्र०सं०, अंक५, दृश्य१, पृ०१३६-३७।

४ वही, पृ०१४६, अंक५, दृश्य ३।

कोई चारा नहीं रह जाता । लेकिन एक सन्यासी के द्वारा बचा ली जाती है[1] । समाज तो नारी की कठोर स्थिति के प्रति आंख, मुंह व सब बन्द करके बैठा है । स्त्री-हरण तो एक सामान्य बात थी । उदयशंकर भट्ट के 'अम्बा' नाटक में भीष्म का अपने रोगी भाई के लिए तीन-तीन कन्याओं को अपहृत करना, नारी के सतीत्व का बहुत बड़ा अपमान है । अम्बिका रोष प्रकट करती है-- यही तो समाज की मर्यादा है, असमर्थ रोगी पुरुषों के विवाह के लिए एक नहीं, तीन-तीन कन्याओं को हर लाना, स्त्रीत्व समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो क्या है ?... हमारे समाज का महल स्वार्थ की नींवों पर बना है । उस समाज की रक्षा के साधन धन, रूप और बल है[2] । 'समाज के धर्म ने नारी की अभिलाषाओं की सदा से हत्या की है[3] । आखिर नारी की इस दुर्दशा का जिम्मेदार समाज ही तो है, जो कि सब कुछ देखकर मौन रहता है । शिवरामदास गुप्त के 'गरीबों की दुनिया' नाटक में भी नारी की दुर्दशा का चित्रण है[4] । एक तरफ तो मध्ययुगीन रूढ़ियों ने नारी की सामाजिक स्थिति को पतनोन्मुख बना रखा था । दूसरी तरफ पुनर्जागरण काल में पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभाव के कारण भी नारी मार्ग भूल गई और उसने एक बार फिर अपनी सामाजिकता के दायरे को समझने की कोशिश की । 'आधीरात' में मायावती समाज से पृथक् नहीं, वरन् उसी में रहकर चलना चाहती है । पाश्चात्य प्रणाली ने उसके जीवन को बर्बाद कर दिया । स्वतन्त्र व्यक्तित्व के कारण शान्ति नहीं पाती । वह कहती है --'... समाज एवं संस्कार के बन्धन को मैं उपयोगी समझती हूं[5] ।' दो प्रेमियों में से एक को मौत की सजा, दूसरे को काले पानी की सजा, उसको एकदम निस्तेज बना देती है और वह एकान्त में प्रकाश की सेवा करते हुए रहने लगती है । लेकिन राधाचरण वापस लौटकर उसके प्रेम को भूल नहीं पाता । उधर राधाचरण तथा प्रकाशचन्द्र दोनों की भावनाएं भी उसे घेर लेती हैं । सम्हल कर रहते हुए भी जब वह तीन के बीच पुन: घिर जाती है तो वह आत्महत्या की ओर प्रेरित हो जाती है । समाज की पुरुषत्व उसे जीवन बलिदान के लिए विवश कर देता है । चारों ओर से घिरी नारी की स्थिति अत्यन्त दीन हो जाती है । श्रीकृष्णमिश्र के देवकन्या

---

१ पन्नालाल रसिक -- 'रत्नकुमार', १९३४ ई०, प्र०सं०, अंक३, दृश्य१, पृ०७१
२ उदयशंकर भट्ट -- 'अम्बा', १९३५, प्र०सं०, अंक ३, दृश्य३, पृ०८९ ।
३ वही, पृ०९०
४ शिवरामदास गुप्त -- 'गरीबों की दुनिया', १९३४ ई०, प्र०सं०, पृ०७६, अंक४, दृश्य२
५ लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'आधीरात', १९३४ ई०, द्वि०सं०, अंक१, पृ०४०-४१ ।

नाटक में देवदासी की सामाजिक दीनता को दिखाया गया है । देवता को अर्पितकी गई कन्या यहां के पाखण्डी पुजारी एवं ज़मींदार की वासना-तृप्ति का कारण बनाई जाती है । मेनका धर्म के लिए अर्पित की हुई भी अपनी स्वाभाविकता से कैसे हट सकती है । उसकी मां उसे बेच देना चाहती है, ज़मींदार के हाथ लेकिन मेनका घर से निकल जाती है और चन्द्रशेखर के साथ विद्रोह कर देती है । इस परिस्थिति के लिए नाटककार ने समाज को ही कारण माना है । चन्द्रशेखर कहता है--" --- अपराध है समाज की इस मनोवृत्ति[1] का जो स्त्रियों को केवल कामपिपासा शान्त करने का साधन समझता है .... ।" सक्रियता ही बन्धन का नाश करती है । मेनका की दृढ़ता राजराघव को स्वयं में लज्जित कर देती है और वह स्वयं अपना सुधार करता है और अपनी अधीनस्थ जनता में देवदासी की प्रथा[2] को समाप्त कर नारी को स्वतन्त्रतापूर्वक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की आज्ञा देता है ।

पुरुषोत्तम महादेव वैद्य कहते हैं कि जब तक स्त्रियों की सामाजिक स्थिति ठीक नहीं होगी तब तक समाज एवं देश की उन्नति सम्भव नहीं है । विश्वास महोदय सुमति से कहते हैं-- "... जब तक हम अपनी महिलाओं के बन्धन नहीं काटते[3], तब तक हम अपने गले बंधी दासत्व की शृंखला तोड़ फेंकने में कदापि समर्थ न हो सकेंगे ।" विजयकुमार की 'पतिता' भी अत्यन्त दुखी है । सरस्वती माधव की पालिता पुत्री है । हर प्रकार से पवित्र होते हुए भी चारों तरफ से "पतिता" पुकारी जाती है । एक बार लगाई छूट जाने पर भी वह अपना सब कुछ रामकिशोर को सौंप देती है, लेकिन फिर भी वह समाज की एवं स्वयं रामकिशोर की दृष्टि में 'पतिता' रहती है । अपनी इस तिरस्कारपूर्ण स्थिति में वह इतना अधिक दुःखी हो जाती है कि ज़हर खा लेती है । यद्यपि वह बचा ली जाती है, लेकिन समाज का यह मनमाना दबाव नारी-मन को बहुत आघात पहुंचाता है । ललिता ही उसे सम्मान देती है--"तुम पतिता ! यह भी क्या सम्भव है, जो स्त्री स्वामी के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर[4] कर देती है, वह क्या पतिता है? नहीं नाथ । वह पुण्यमयी बालिका देवी की मूर्ति है... ।" नाटककार मानों पागल

---

1 श्रीकृष्ण मिश्र -- "देवकन्या", १९३५ई०, प्र०सं०, पृ०८०-८१, अंक ३, दृश्य५

2 वही, पृ०८४, अंक३, दृश्य६ ।

3 पुरुषोत्तम महादेव वैद्य --"आहुति", १९३८ई०, प्र०सं०, पृ०३०, अंक१, प्रवेश ४।

4 विजय कुमार --"पतिता", १९३८ई०, सं.१, पृ०१२६ अंक२, दृश्य७ ।

के शब्दों में समाज से प्रश्न करना चाहता है --`.... कौन कहता है तू पतिता है ? तू यदि पतिता है, तो सावित्री क्या थीं, सीता कौन थीं ... ।`[1]

उदयशंकर भट्ट की कमला और उमा की स्थिति भी एक सामाजिक कारण है । उमा एक शिक्षिता है, उस पर समाज का पाप पलता है, लेकिन वह उस समाज के पाप को समाज से ही दुलार-दुलार चूमती है । कमला निश्चय कर लेती है कि सामाजिक क्रूरता से उसको वह अवश्य रक्षा करेगी--`.... समाज के पास इस अन्याय का क्या जवाब है । हमारा[2] जीवन कितना विशृंखल है, कितना अविवेकपूर्ण । मैं इस बच्चे की रक्षा करूंगी ... ।` स्वयं कमला के प्रयत्न में भी उसके परिवार के सदस्य बाधक हो जाते हैं, और उसे घर छोड़कर चले जाना पड़ता है । और एक दिन उसके मरने की खबर आ जाती है । उमा और कमला की स्थिति के लिए नाटककार समाज को ही कारण मानता है । जिसने उनको कितने अपमान की स्थिति में रखा है । `वीर लोरिक` नाटक में चारों और लड़कियों के प्रति दुर्व्यवहार होता है, कहीं राधा जैसी लड़की समाज के वहशीपन के कारण पूजा के लिए मर रही है, कहीं श्यामा को अजीतसिंह विलासी जमींदार[3] के पास पकड़ कर ले जाया जाता है, हमीद और हनिफ़ाक सरला पर बलात्कार करते हैं । सुशीला का भी सतीत्व हरण होता है । आखिर इस सामाजिक बलात्कार का अन्त कहां होगा, समाज इसके लिए कोई सुरक्षात्मक उपाय क्यों नहीं करता ?

रामदीन पाण्डेय के `ज्योत्स्ना` नाटक में स्त्री के प्रति सामाजिक दृष्टिकोणके लिए ज्योत्स्ना को बड़ी घृणा है । वह विवाह के लिए तैयार नहीं है । वह अपने पिता मृत्युंजय से कहती है--` इसी गांव में ऐसे-ऐसे भयानक नर-पशु हैं, जो स्त्रियों को पैर की जूती और सन्तानोत्पत्ति की मशीन समझते[4] हैं... शायद ही कोई घर है जहां दाम्पत्य-जीवन सुख-शान्ति से बीतता है... ।` संत गोकुलचन्द के `चंड-प्रतिज्ञा` नाटक में सामाजिकता के कारण ही हंसा के जीवन की बलि होती है । राजपूती वचन न छोड़ने के कारण दोनों पक्षों को, हंसा का विवाह चंड से न करके वृद्ध महाराणा से करने के लिए बाध्य होना पड़ता है । हंसा का उपेक्षित होना स्वाभाविक है -- ` ...

---

१ विजयशुक्ल --`पतिता`, १६३८ई०, अंक३, दृश्य ८, पृ०१३० ।
२ उदयशंकर भट्ट --`कमला`, १६३६ई०, प्र०सं०, अंक१, सीन१, पृ०२२ ।
३ रामाधार सिंह--`वीर लोरिक`, १६३६ई०, अंक १, सीन ३, पृ०३० ।
४ रामदीन पाण्डेय --`ज्योत्स्ना`, १६३६ई०, प्र०सं०, अंक३, दृश्य७, पृ०७५ ।

मैं तो आई हूं संसार को यह दिखाने कि एक राजपूत बाला मैं रणाग्निकुण्ड की तरह सामाजिक अग्निकुण्ड में भी अपना जीवन, अपना यौवन, अपना सर्वस्व स्वाहा करने की कितनी क्षमता रखती है।"[1] हंसा भी जीवन की खुशी सामाजिक-यज्ञकुण्ड में स्वाहा हो गई। कंचनलता सब्बरवाल के "आदित्यसेनगुप्त" नाटक में नारी, प्रेम और पवित्रता की वस्तु है। क्योंकि नारी का सच्चा एवं आन्तरिक स्वरूप खिलवाड़ का विषय नहीं। लेकिन समाज सदैव इसकी अवहेलना करता रहा है। मधुमयी कुदगुप्त से कहती है--"... संसार को समझा देना कि नारी भी प्रेम, पवित्रता और पूजा की वस्तु है, कुछ पुरुषों का खिलवाड़ नहीं।"[2] सेठ गोविन्ददास के "दलित कुसुम" नाटक में नाटककार नारी की अपमानपूर्ण स्थिति के प्रति चिन्तित है। समाज अपने इस भाग पर कितनी मनमानी करता है। कुसुम दलिता है। वह नहीं समझ पाती कि, "... मनुष्यों में स्त्री पर इतना बन्धन... इतना अत्याचार कर इसे परतन्त्र ... दुःखी और दलित करके रखे हुए हैं... धर्म के नाम पर... सामाजिक बन्धनों के नाम पर...।"[3] न जाने कुसुम जैसी कितनी बाल-विधवाओं को पग-पग पर यातनाएं सहनी पड़ती हैं। अमीर वर्ग-निर्धन पर मनमाना अधिकार जमाता है। "अछूतों का इन्साफ" नाटक में जमींदार चमार की लड़की राधा को अपनी इच्छापूर्ति के लिए पकड़ मंगवाता है। क्या अछूत कन्या होने के कारण "राधा" का कोई अस्तित्व नहीं? न जाने कितनी राधा इसी प्रकार विचारी अमीर वर्ग द्वारा बर्बाद की जाती हैं। उनकी मर्यादा का कोई मूल्य नहीं। राधा कहती है--"... मैं चमारिन हूं, अछूत हूं, गरीब हूं, ज़रा सी छुड़की और ज़रा सी लालच में तुम्हारी मुट्ठी में आ जाऊंगी। ओह कितना सस्ता सौदा है। जमींदार हो, ताल्लुकेदार हो, ठाकुर हो न ऐसा सस्ता माल क्यों छोड़ने लगे।"[4] द्रष्टव्य है नारी की अवमाननापूर्ण स्थिति।

पं० बेचन शर्मा "उग्र" की कस्तूरी का जिसके साथ विवाह होने को होता है, वह विधवा के साथ भाग जाता है। इसमें कस्तूरी का कोई दोष नहीं। लेकिन

---

१ हरिकृष्णप्रेमी -- "चण्ड प्रतिज्ञा", १९४०ई०, प्र०सं०, अंक२, दृश्य३, पृ०३० ।
२ कंचनलता सब्बरवाल --"आदित्यसेनगुप्त", १९५२ई०, प्र०सं०, अंक ५, दृश्य१, पृ०१०५ ।
३ सेठ गोविन्ददास --"दलित कुसुम", १९५२ई०, प्र०सं०, अंक१, दृश्य३, पृ०२० ।
४ नन्दलाल जायसवाल 'वियोगी' -- अछूतों का इन्साफ, १९४३ ई०, प्र० सं०, पृ० ४८, अंक २ दृश्य २।

समाज उसे अभागिन कहता है । सब उसको अत्यन्त तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं । जब वह पुरुष किसी का खून करता है, तब भी महादपुर का समाज उसे प्रताड़ित करता है । [illegible] इस व्यवहार से वह एकदम विक्षिप्तावस्था में पहुंच जाती है और अन्त में चूहर ही [illegible] रख लेती है । माधव महाराज के दरबार में उपस्थित हो वह कहती है --"बरसों से मुझे [illegible] सुन्दर पढ़ी लिखी और दादाजी के पुण्य-प्रेम से पोषित लड़की को सारा समाज मुंह भर-भर कर गालियां दे रहा है। जब वह विधवा के साथ भागा तो मैं अभागिनी पुकारी गई, जब उसने खून किया तो मैं खूनी हुई, जिसके सबब दिमाग खराब हो जाय और अब-अब सारा महादपुर मेरे नाम की छाया से कांपता है । मैं पूछती हूं सरकार ! इसमें मेरा अपराध ! यही न कि मैं औरत हूं ? ...[1]" समाज की विडम्बना नारियों के जीवन को यों ही बर्बाद कर रही है । कस्तूरी का कोई दोष नहीं है-- लेकिन फिर भी उसे सामाजिक कुआघात को सहन करना पड़ता है । कितनी कटु वेदना उसकी व्यक्त होती है--"... क्या करो, अन्नदाता ! मैं घंटों से मर चुकी हूं । महीनों से--बरसों से । स्त्री होने के कारण जन्म लेते ही ...[2]" 'आर्याभिनय' नाटक में नारी की सामाजिक दुःस्थिति ने चारों ओर एक अवसादपूर्ण वातावरण कर दिया है । एवं समाज की निरंकुशताओं को अपनी वासना की पूर्ति का साधन बनाते हैं । स्वामी रामचन्द्राचार्य कहते हैं--"खेद है कि भारत में स्त्रियों की ऐसी दुर्दशा हो रही है । जब पुरुष विषयी हों, व्यभिचार कर्म में निरत रहते हैं...[3]" नारी की सामाजिक हीन स्थिति देश की अवनति का प्रधान कारण है[4] । हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'स्वप्नभंग' नाटक में रोशन आरा भी यही बात कहती है । गोविन्दवल्लभ पंत की विजया भी अनानक परिस्थिति में समाज की सहायता नहीं प्राप्त कर पाती । नर्स से कहती है-- "....नहीं जानती हो तुम, नारी की प्रतिष्ठा कैसे कच्चे धागे में लटका कर रख दी

---

१ पा० बेचन शर्मा 'उग्र' --'अन्नदाता', १९४३ई०, प्र०सं०, अंक३, दृश्य३, पृ०९२ ।

२ वही, पृ०९३ ।

३ रामानन्द[illegible] प्रेमविपा --'आर्याभिनय', १९४६ई०, प्र०सं०, अंक२, पृ०२५ ।

४ हरिकृष्ण 'प्रेमी' --'स्वप्नभंग', १९५१ई०, द्वि०सं०, अंक२, दृश्य४, पृ०६५ ।

गई है...।[1]" विजया एक सती नारी है। यदि गंगा स्नान करने वह गई और कोई उसे उठा कर भाग गया तो इसमें उसका दोष कहां? लेकिन पति उसपर अविश्वास कर बैठता है। जब वह पति के घर फिर जाती है, तो वह उसे स्वीकार नहीं करता, न उसको पिता के यहां ही आश्रय मिलता है। अन्त में दैव ही उसके कष्ट एवं तिरस्कृत जीवन को समाप्त करता है। सचमुच विजया की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। नाटककार उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने नारी की ज्वलन्त सामाजिक समस्या को उभारा है। नाटक में नारी अपना उचित सामाजिक सम्मान पाने के लिए व्यग्र है। ताराचन्द की लड़की रानी ऐसी ही नारी है। उसके साथ दहेज की समस्या है। ससुराल वाले भारीभरकम दहेज न मिलने से रानी की कद्र नहीं करते। उसे पिता के पास आना पड़ जाता है। वह नहीं समझ पाती कि समाज में नारी की स्थिति इतनी हीन क्यों है? क्या धन द्वारा ही नारी को गौरव मिल सकता है। पर वह कोरे आदर्शवादी विचारों की नहीं है। वह 'सुहागबिन्दी' की विजया की तरह मूक नहीं रहना चाहती है। वह समाज को स्पष्ट चुनौती देती है। उस समाज को ठोकर मार कर चल देती है। वह समाज में अपना स्थान स्वयं बना लेगी। वह समाज को बताना चाहती है। स्त्री कोई पशु नहीं है कि जहां चाहे बंध जाय। जीवन में पति-पत्नी का समान महत्व होना चाहिए।[2] इसके विपरीत नाटककार 'अश्क' 'कैद' में अप्पी को सामाजिकता में आबद्ध दिखाते हैं। उसकी स्थिति का कारण समाज है, लेकिन वह कोई विद्रोह नहीं करना चाहती। अन्दर-ही-अन्दर घुटती रहती है। वह[3] सामाजिक बन्धनों में बंधी हुई दिलीप से दूर प्राणनाथ के साथ जिन्दगी बिताती है। वह निष्क्रिय है, असमर्थ है, सामाजिक जंजीरों में जकड़ी हुई है। मध्यवर्गीय पतनोन्मुख समाज के शिकंजों में बंधी हुई नारी 'अप्पी' अपने चंचल जीवन को छोड़कर बहन के मर जाने पर माता-पिता द्वारा दहेज के न होने के कारण उसी घर में विदा कर दी जाती है। आर्थिक कारणों से नारी समाज को अपनी इच्छाएं समर्पित कर देती है।

---

१ गोविन्दवल्लभ पंत -- 'सुहागबिन्दी', १९४६ई०,पृ०सं०,अंक१,दृश्य१,पृ०१३ ।

२ उपेन्द्रनाथ 'अश्क' --'अलग अलग रास्ते', १९५४,प्र०सं०,पृ०९०,अंक२ ।

३ ,, --'कैद', १९५५ई०(रचना-काल ४३-४४ई०), द्वि०सं०, पृ०९१,दृश्य४ ।

वस्तुत: आलोच्यकाल के नाटककारों ने नारी की सामाजिक हीन स्थिति को चित्रित किया है, लेकिन उसका कारण समाज को बताया है। समाज ही अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर उनके जीवन को अत्यन्त करुणापूर्ण स्थिति में पहुंचा देता है। उस समय नारी के व्यक्तित्व का, सतीत्व का कोई महत्व नहीं था, कोई गौरव न था। नारी और नारी को मात्र एक खिलौना समझा जाता था। विधवा के लिए कोई सामाजिक सम्मान न था। इसके विषय में विस्तार से जानने के लिए अध्याय पांच दृष्टव्य है। नारी को जब चाहा, जिसके साथ चाहा बांध दिया। उसके सतीत्व की रक्षा के लिए कोई प्रयत्न नहीं। नाटककारों ने पुनर्जागरण काल के समाज-सुधारकों एवं राजनीतिज्ञों के समान नारी को खोया गौरव पुन: दिलाना चाहा है। उन्होंने नारी को पुरुष समान ही समाज में समान अधिकार दिए हैं। सृष्टि में दोनों का महत्व सम है।

पर्दा-प्रथा

नाटककारों ने नारी के सामाजिक जीवन को पर्दे से मुक्त किया। मध्ययुगीन समाज ने नारी को परतन्त्र रखने का जो प्रथम साधन अपनाया, वह था पर्दा। पर्दा, वस्तुत: भारतीय संस्कृति की अपनी वस्तु नहीं, वह एक विदेशी सभ्यता की अपनी चीज है। हमारी सभ्यता में कहीं भी पर्दे की प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है।[1] यह इस्लामी संस्कृति के साथ-साथ भारतीय समाज में आया।[2] और हिन्दू नारी-जीवन एक अभिशाप बनकर रह गया। भारतीय नारी-समाज को विदेशी नजर की लोलुपता से छुपाए रखने के लिए पर्दा आवश्यक हो गया। अमीर से अमीर घर में पर्दा-प्रथा एक विशिष्ट सभ्यता का चिह्न बन गई। पर्दे के भीतर नारी की अज्ञानता, निष्क्रियता बढ़ती ही गई। शीघ्र ही पुनर्जागरण काल में जब हमारा समाज एक लम्बी निद्रा के बाद जागा तो उसने अपने बन्धनों की अनावश्यकता एवं कुपरिणाम को महसूस किया।

---

१. Dr. A.S.Altekar- The position of women in Hindu Civilisation, 3rd edition, 1962, - Page 1751..

२ वही, पृ०१७५

'The general adoption of the Purda system by the ruling and aristocratic families of Hindu Community is subsequent to the advent of the Muslim rule'-

नारी को पर्दे से बाहर लाना उसे बहुत ही आवश्यक प्रतीत होने लगा । दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय , लाला लाजपतराय, महात्मागांधी आदि सभी विचारकों ने नारी के ऊपर इसे परतन्त्रता की बेड़ी रूप में देखा और नारी को उससे मुक्त होने में पूर्ण सहयोग दिया ।

साहित्य हमेशा अपनी सम-सामयिक चेतनाओं से अवगत रहा है । वह सर्वदा बड़ी ही सतर्कता के साथ युग की आवश्यकता को देखता है और उसे जन-सामान्य तक पहुँचाने की चेष्टा करता है । हमारे आलोच्यकाल के नाटककारों ने नारी के ऊपर इस पर्दे को एक बोझ समझ कर दूर करने का प्रयत्न किया है । लेकिन इस प्रथा को दूर करने में बहुत विवादास्पद स्थिति का सामना नहीं करना पड़ा । यह समाज से शीघ्र ही बहिष्कृत हो गई । अत: बहुत कम नाटकों में इसका उल्लेख है । वैसे तो प्राय: सभी नाटकों में नारी के स्वतन्त्र कार्य-कलापों से पता चल ही जाता है कि नारी-पात्र नाटक में परदा विहीन कार्य कर रहा है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नारी को सर्वप्रथम बाहर निकाला है । "नीलदेवी" नाटक में रानी नीलदेवी अन्त:पुर के बन्धनों को तोड़ शत्रु से बदला लेने के लिए वीरवेश में पहुंचती है[1] । नाटककार बालकृष्ण भट्ट ने अपने नाटक "शिक्षादान" में पर्दे आदि की प्रवृत्ति को ही नारी की हीन दशा का कारण बताया है । उन्होंने चिन्ता व्यक्त की है, यदि नारी इन्हीं कुरीतियों में जीती रही तो सामाजिक उत्थान कभी भी न हो सकेगा[2] । मालती के जीवन को विकास दिखाकर उसे स्वतन्त्ररूप से जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरणा दी है ।

समाज नारी के चरित्र को सुरक्षित रखने के लिए पर्दे की प्रथा को आवश्यक मानता है । यह पुरुष समाज की बहुत बड़ी स्वार्थपरता है कि वह जहां चाहे जा सकता है, लेकिन नारी अपने आवरण में रहेगी । नन्दकिशोरलाल वर्मा ने अपने

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र --"नीलदेवी", १८८१, भा०ना०, अंक१०, पृ०६८२।

२ बालकृष्ण भट्ट --"शिक्षादान", १९२८ई०, वि०सं०, पर्व२, पृ०१५-१६ ।

'महात्मा विदुर' नाटक में शान्ति द्वारा इसकी घोर भर्त्सना करवाई है[1]। श्रीकृष्ण हसरत 'महात्मा कबीर'[2] नाटक में इसे मुसलमानों की देन बताते हैं-- यह भारत की अपनी वस्तु नहीं है। नाटककार महावीर 'बेनुवंश' अपने सम्पूर्ण नाटकीय कलेवर में परदे की बुराइयों को दिखाते हैं। मालती का पति मजाकीलाल, चम्पा का पति रामदीन तथा मोहन की पत्नी जानकी सभी इस नाटक में पर्दे को दूर करने में प्रयत्नशील हैं। ट्रेन में रामलाल की बहू एवं पुत्र-वधू कमला और मोहिनी पर्दा करती हैं, पर खुले स्टेशन पर सबके सामने नहाती हैं, तब मर्यादा नहीं जाती। पर्दे के कारण मोहिनी अन्धे से भिड़ जाती है। धनीराम की स्त्री रामप्यारी को पर्दे की वजह से राजयक्ष्मा रोग होना, पर्दानशीन स्त्री का बाइसिकिल से टकरा जाना आदि दोषों का चित्रण किया है। मजाकीलाल अपनी पत्नी मालती को पर्दे में नहीं रखता है। सास के नाराज़ होने पर वह स्पष्ट कह देती है कि घर की इज्ज़त का उसे भी ख्याल है, लेकिन नारी-जीवन के कर्तव्य को वह अन्यों को भी समझायेगी[3]। जानकी[4] और मालती[5] नारी समाज-सुधार का प्रतिनिधित्व करती हैं और अपने भाषणों द्वारा पर्दे की बुराइयों को चित्रित कर उसे समाज से सर्वथा बाहर निकालने का प्रयत्न करती है।

नत्थीमल उपाध्याय की सावित्री मध्ययुगीन रूढ़ियों को ही आदर्श मानती है। वह पर्दे को नारी का एक आवश्यक अंग मानती है। वह अपने पति निशानाथ से कहती है--'.... परदा ही तो भद्र गृहिणोचित कुलीनता का द्योतक है। लज्जा ही तो स्त्री जाति का सच्चा भूषण है...[6]।' वह अपने पति द्वारा लाख बार कहने पर भी पर्दे को दूर नहीं करती। नाटककार ने निशानाथ को प्रगतिशील विचारों वाला दिखाया है। वह पर्दे की बुराइयों को देखकर उसका सर्वथा बहिष्कार कर देना चाहता है। वह

---

१ नन्दकिशोरलाल वर्मा --'महात्मा विदुर', १९२३ई०, प्र०सं०, अंक२, दृश्य५, पृ०८८।
२ श्रीकृष्ण हसरत -- 'महात्मा कबीर' - ? - अंक२, सीन ७, पृ०९७।
३ महावीर बेनुवंश -- 'परदा', १९३५ई० ? अंक१, सीन२, पृ०१२।
४ वही, अंक१, सीन ८, पृ०५३।
५ वही, अंक१, सीन ८, पृ०५६।
६ नत्थीमल उपाध्याय --'पर्दे का शिकार' (रचनाकाल तथा प्रकाशन-काल ?), अंक१, दृश्य६, पृ०३७।

अपनी पत्नी को बताता है कि प्राचीनकाल में परदा था ही नहीं, यह तो इस्लामी-शासन-काल में उत्पन्न हुआ है[1]। फिर नाटककार परदे में व लज्जा में भेद मानता है। लज्जा स्वयं में एक आवरण है। निशानाथ कहते हैं--"... परदा और लज्जा में में आकाश-पाताल का अन्तर है, दिन और रात का भेद है। पर्दे की कुप्रथा का पोषण करने वाली अनेक निर्लज्ज कुलटाएं चारों ओर मिल सकती हैं...[2]।" नाटककार पर्दे की प्रथा त्याग कर भारतीय नारी को पाश्चात्य नारी के समान लज्जाहीन भी नहीं बना सकता और न ही वह नारी को २० वीं शती के पर्दे की बांदी ही बने रहने देना चाहता है[3]। भारतीय नारी का यही आदर्श है। परदे में रहने के कारण ही सीधी-सादी स्त्रियों को ठग-साधु ठगते हैं। उनके सतीत्व का हरण करते हैं। विद्यावती ऐसे ही साधुओं के द्वारा ठगी जाती है। नाटककार अन्त में यामिनी के माध्यम से कहता है --"... ये लोग अपने दम्भ पूर्ण साधुवेश का जाल बिछाकर परदे में रहने वाली भोली-भाली ललनाओं का नित्य शिकार करते रहते हैं। यदि हिन्दू समाज अपना कल्याण चाहता है तो उसे चाहिए कि ऐसे दुष्टात्माओं से सावधान रहे... इसके साथ ही हमारी मां-बहिनों का कर्तव्य है कि वे परदे की अनिष्टकारी कुप्रथा को अपने बीच से निकाल बाहर करें[4]।" वस्तुत: पर्दा नारी के शारीरिक, मानसिक, नैतिक, विकास में बाधक है-- ऐसा नाटककार ने चित्रित किया है। नाटककार देवीप्रसाद 'आदर्शमहिला' नाटक में नारी के सभी सामाजिक बन्धनों को समाप्त कर देना चाहते हैं। गार्गी जो दुर्गावती की शिक्षिका चम्पा के रूढ़ि विचारों को दूर करने का प्रयत्न करती है, नारी के जीवन में पर्दे को सर्वथा त्याज्य बताती है। "पर्दे की प्रथा स्त्री-जाति के लिए हर प्रकार से दु:खदायी है.... पर्दा छोड़ने का अर्थ सेवा-मार्ग को बढ़ाना है...[5]।" पर्दे को वह जीवन के नैतिक विकास में बाधक बताती है। पर्दे को छोड़कर नारी जाति उन्नति कर सकेगी।

---

१ लक्ष्मीमल उपाध्याय --'पर्दे का शिकार' (रचनाकाल तथा प्रकाशन-काल ?) अंक१, दृश्य६, पृ० ३८।

२ वही, पृ०३८-३९।

३ वही, पृ०३९।

४ वही, अंक२, दृश्य६, पृ०६३।

५ देवीप्रसाद --'आदर्शमहिला उर्फ दुर्गा कटार', १९३८, प्र०सं०, अंक१, दृश्य४, पृ० ५१।

इस प्रकार कतिपय नाटकों में ही नारी समाज में व्याप्त पर्दा प्रथा का उल्लेख है । जैसे-जैसे भारत में शिक्षा प्रचार प्रसार बढ़ता गया, समाज की भ्रान्तियां भी दूर होने लगीं । नारी जीवन ने भी सुखपूर्वक स्वतन्त्र वायु में सांस ली ।

सती प्रथा का बहिष्कार

मध्ययुग में सती-प्रथा पूर्णरूप से विद्यमान थी । राजपूत युग का जौहर व्रत कालान्तर में समाज मेंनारी के लिए एक आवश्यक नियम बना दियागया । मध्ययुग में इस विषय में समाज की क्रूरता अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी । छोटी उम्र में विधवाओं को बड़ी ही निर्ममता से जलाया जाता था । आचार्य चतुरसेन शास्त्री[1] के उपन्यास `चिता की लपटें` में इसका चित्रण बड़ा ही सजीव हुआ है । १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही समाज-सुधारकों ने इसका विरोध किया था तथा कानूनी अधिकार भी प्राप्त किये थे । फलत: २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह एक प्रकार से समाप्तप्राय हो गयाथा । अत: आलोच्यकाल के नाटकों में इसका ज्यादा चित्रण भी प्राप्त नहीं है । केवल कुछ ही नाटकों में इसका चित्रण पाया जाता है ।

राधेश्याम कथावाचक की उत्तरा अभिमन्यु की मृत्यु पर सती होना चाहती है, लेकिन श्रीकृष्ण उसे सती नहीं होने देते । यहां वे[2] इस प्रथा का विरोध नहीं है,वरन् मात्र गर्भवती होने के कारण उसे आज्ञा नहीं है । स्पष्ट है कि नाटककार नारी के सती होने को बुरा नहीं मानता । दुर्गाप्रसाद गुप्त[3] के `महामाया` नाटक में राजा जसवन्त सिंह की रानी महामाया युद्धोपरान्त सती हो जाती है । नाटककार ने इसे हिन्दू-नारी का पति के स्वर्गवासी हो जाने को उत्तम आदर्श माना है । पा० बेचन शर्मा `उग्र` के `महात्मा ईसा` नाटक में शान्ति ईसा की मृत्यु के साथ-साथ सती हो जाती है । पति के साथ स्वर्ग में रहने की इच्छा उसे सती करवाती है[4] । लेकिन नाटककार चन्द्रराज भण्डारी ने इस प्रथा का विरोध किया है । राजा

---

१ चतुरसेन शास्त्री --`चिता की लपटें`,दिल्ली,१६७०ई० ।

२ राधेश्याम कथावाचक --`वीर अभिमन्यु`,अंक२,दृश्य७,१६१८ई० सं०? , पृ०१४५।

३ दुर्गाप्रसाद गुप्त --`महामाया`,१६१६ई०,द्वि०सं०,अंक३,दृश्य४,पृ०१०१ ।

४ पा०बेचन शर्मा `उग्र`--`महात्मा ईसा`,१६२२ई०,प्र०सं०,अंक३,दृश्य८,पृ०१३१ ।

ढूंढ़ना उसकी रक्षा का सबसे बड़ा लक्ष्य है । राजपूती नारियां भी अपना कर्तव्य समझती हैं । नारी का क्षेत्र पुरुष से भिन्न है, अपने इस कर्तव्य को पूर्ण करने पर ही उनकी सार्थकता होती है । हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'आहुति' नाटक में महारानी अपनी बेटी से कहती है--"बेटी, हमारी शक्ति सैनिकों को जन्म देने में, उन्हें शक्तिशाली बनाने में है, सारे संसार को हम प्रकाश देती हैं । हम आत्मदान और आत्म बलिदान के द्वारा अत्याचार से युद्ध करती हैं... हम तो स्वयं अपनी बलि देकर देश के प्राणों में नवजीवन फूंकती हैं।[1] इससे भिन्न नारी का अस्तित्व कहां है? कंचनलता सब्बरवाल के आदित्यसेन गुप्त नाटक में मधुमयी क्षीण कुमारी को उसके नारीत्व की सीमा बताती है । अनजाने ही आदित्य के नाराज हो जाने पर क्षीण एकदम क्षुब्ध हो जाता है, निराश हो जाती है । लेकिन मधुमयी उससे बिना प्रतिदान की इच्छा किए एकनिष्ठ भाव से साधना में रत रहने को कहती है, जो नारीत्व की पूर्णता है । वह कहती है-- "मान और अपमान की दृष्टि नारी के लिए हुई ही नहीं है । बालिके... बिना प्रतिदान की इच्छा किए हुए, एकांतभाव भाव से ध्यान करो, पूर्णरूप से साधना करो । यही नारीत्व के विकास की चरम सीमा है । यही रमणीत्व का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है ।[2] "श्री शिवप्रसाद चारण के महाराणा संग्राम सिंह में नारी जीवन की पूर्णता तभी मानी गई है, जब वह सन्तान को जन्म देती है । एक हिन्दू नारी कहती है--"नारी जीवन की सफलता सन्तान में ही है...[3] ।"

रामवृक्ष बेनीपुरी की सुनना भी अम्बपाली को यही समझाती है --"... नारी जीवन की सार्थकता सिर्फ नाचने गाने या फूल चुनने में नहीं है, बल्कि अर्धांगिनी बनने में है[4] । वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक 'फूलों की बोली' की माया भी यही मानती है--"जैसे जीवन की एक दिन समाप्ति है, उसी तरह कला की भी एक पराकाष्ठा है । कला की पुजारिन को उस घड़ी तुरन्त लसंबन्धन में पड़ जाना चाहिए और कला द्वारा संचित कोमल भावनाओं का अर्पण अपने पति को कर देना चाहिए, तभी यौवन और बुढ़ापा सार्थक हो सकते हैं[5] । "हरिकृष्ण 'प्रेमी' के "उद्धार" नाटक में हम्मीर की मां सुधीरा अपनी

---

१ हरिकृष्ण प्रेमी-- 'आहुति', १९४०ई०, प्र०सं०, अंक२, दृश्य५, पृ०८८ ।
२ कंचनलता सब्बरवाल -- 'आदित्यसेन गुप्त', १९४२ई०, प्र०सं०, अंक३, दृश्य२, पृ०६६ ।
३ श्री शिवप्रसाद चारण --"महाराणा संग्राम सिंह", १९४२ई०, प्र०सं०, अंक३, दृश्य६, पृ०६६ ।
४ रामवृक्ष बेनीपुरी --"अम्बपाली", १९४७ई०, अंक१, २, पृ०१२ ।
५ वृन्दावनलाल वर्मा --"फूलों की बोली", १९४७ई०, प्र०सं०, अंक१, दृश्य३, पृ०३१ ।

पुत्रवधू से कहती है-- "... आज तुम मातृत्व के मन्दिर के प्रथम सोपान पर पांव रख रही हो ।नारी शायद स्वयं नहीं समझती कि मां होना ही नारी जीवन की पूर्णता है.. ।"[1] नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी' की कृष्णा सदैव स्वतन्त्र रहना चाहती है । वह बेटी से अधिक और कुछ नहीं बनना चाहती । लेकिन नाटककार बताना चाहता है कि नारी जीवन की सार्थकता बेटी रहने में नहीं,वरन् पत्नी और मां बनने में है । कृष्णा की सखी रमा उससे कहती है-- "... गरीब से गरीब घर की बेटी भी कभी बेटी नहीं रह सकती ,उसे पहले पत्नी और फिर मां बनना पड़ता है । नारी के जीवन की सफलता इसी में है ।[2] नारी को अपना सब कुछ उत्सर्ग करना ही पड़ता है । वह कुछ लेती नहीं है, केवल देती ही है । यदि कुछ लेती है भी है तो संसार भर का कष्ट,वेदना और अभिशाप । इसी में उसकी सार्थकता है ।[3] इस प्रकार नाटककारों ने नारी जीवन के इस रूप को नकारा नहीं है । इन्होंने पत्नीत्व एवं मातृत्व में ही नारी जीवन की सार्थकता,पूर्णता एवं सफलता मानी है ।

---

१ हरिकृष्ण प्रेमी --'उद्धार',१९४९ई०,द्वि०सं०,अंक२,दृश्य६,पृ०८६ ।
२ हरिकृष्ण प्रेमी --'विषपान',१९५१ई०,प्र०सं०,अंक१,दृश्य१,पृ०४ ।
३ वही,पृ०७१, अंक२,दृश्य७ ।

अध्याय -- ३ :

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध

अध्याय--३

स्त्री-पुरुष-संबंध

जीवन की सम्पूर्णता स्त्री-पुरुष के ऐक्य पर निर्भर रहती है । इन दोनों का सहयोग सृष्टि की गति को निरन्तरता प्रदान करने के लिए आवश्यक है । अत: जीवन में दोनों की महत्ता समान है । न स्त्री का स्थान पुरुष की तुलना में निम्न है और न ही पुरुष की स्थिति स्त्री की तुलना में अधिक उच्च मानी जा सकती है । दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं,लेकिन पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में पुरुष स्त्री को सदैव ही अनुगता रखता आया है । समाज का एक भाग जहां स्त्री-पुरुष को समानरूप से देखना चाहेगा तो दूसरा सदैव उसे अपने शासन के अन्दर रखना चाहता है । यदि स्त्री ने ज़रा भी उसके पुरुषत्व से निकलने की चेष्टा की तो तुरन्त उसपर उच्छृंखलता का आरोप लगा दिया जाता है । मध्ययुग की जीवन-प्रणाली बहुत अधिक रूढ़िवादी थी । उस युग में नारी पुरुष की छाया मात्र थी । स्त्री को न कोई अपने अधिकार प्राप्त थे न किसी प्रकार की आकांक्षा थी । यही कारण था कि मध्ययुग की नारी में ज्ञान का लेशमात्र भी स्पर्श न था । पुनर्जागरण की लहर ने स्त्री-पुरुष के बीच असमानता की खाई को दूर करने का उद्योग किया । नारी अपने अधिकारों के लिए सचेत हुई । "सामाजिक चेतना के साथ-साथ स्त्री-पुरुष की समानता के विचार भी पनपने लगे । अब तक पुरुष अपने प्रभुत्व एवं अधिकार के कारण विलास के साधन ढूंढता रहा और स्त्री अपनी निरीहता एवं विवशता के कारण दु:ख भोगती रही... ।"[1]

राष्ट्रीय आन्दोलन के समय महात्मा गांधी ने स्त्री को पुरुष से कहीं अधिक गौरव का स्थान दिया । स्त्री पुरुष से हीन नहीं है । समाज में पुरुष के

---

१ सत्येन्द्र तनेजा --"हिन्दी नाटक पुनर्मूल्यांकन",पृ०३५ ।

समानान्तर स्त्री को स्थान देना आवश्यक है । उन्होंने कहा कि स्त्री को अबला कहना उसका अपमान करना है, उसे अबला कहकर पुरुष उसके साथ अन्याय करता है । अगर ताकत से मतलब पाशवी ताकत से है तो निस्सन्देह पुरुष की अपेक्षा स्त्री में कम पशुता है । पर अगर उसका मतलब नैतिक शक्ति से है तो अवश्य ही पुरुष की अपेक्षा स्त्री कहीं अधिक शक्तिशालिनी है... बिना स्त्री के पुरुष हो ही नहीं सकता...[1] ।"

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में जिस सुधार की आवश्यकता थी, उसे हमारे आलोच्यकाल के नाटककारों ने भी अनुभव किया । उन्होंने स्त्री के ऊपर पुरुष के अतिरिक्त अधिकार का विरोध किया है । स्त्री-पुरुष के बीच सामंजस्य भाव को ही उचित माना है । जिस प्रकार नाटककारों ने पुरुष के अतिरिक्त अधिकार को समाप्त करना चाहा है, उसी प्रकार स्त्री की अतिरिक्त स्वतन्त्रता को भी समाप्त करना चाहा है । दोनों को अपनी-अपनी मर्यादा में रखा है ।

नाटककार कन्हैयालाल ने अपने 'अंजना सुन्दरी' नाटक में स्त्री-पुरुष दोनों का जीवन में समान महत्व माना है । कोई किसी से हीन नहीं । पवन जब अपनी पत्नी का इस प्रकार से तिरस्कार करते हैं तो प्रहसत उनका मित्र उन्हें समझाता है कि '.... स्त्री सहित होने से ही पुरुष की क्रिया ठीक रह सकती है । स्त्री-पुरुष का क्लेश बहुधा बड़ी-बड़ी हानि उत्पन्न करता है ।... यह संसार स्त्री-पुरुष दोनों ही से विद्यमान है ।'[2] यदि स्त्री-पुरुष में प्रीतिकर सम्बन्ध न रहें तो गृहस्थाश्रम कभी भी सुखकर नहीं हो सकता है[3] । अतः स्त्री और पुरुष दोनों को अपने सम्बन्धों को मधुर बनाने का यत्न करना चाहिए, क्योंकि जीवन की सुखदता के लिए दोनों का प्रयत्न अपेक्षित है । नाटककार हनुमन्त सिंह रघुवंशी ने अपने नाटक 'सती चरित्र' में स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों का समर्थन किया है । चन्द्रोदय सिंह कहते हैं कि 'गृहस्थ सुख के लिए जिस प्रकार स्त्री को पुरुष की आवश्यकता है, उसी प्रकार स्त्री को पुरुष की

---

१ रामनाथ सुमन — "गांधी-वाणी", चतुर्थ सं०, १९५२ई०, पृ०२१० ।

२ कन्हैयालाल — "अंजनासुन्दरी", १९०९ई०, प्र०सं०, अंक३, गर्भांक ३, पृ०९० ।

३ वही, अंक३, गर्भांक २, पृ०५५ ।

आवश्यकता है, उसी प्रकार पुरुष को भी स्त्री अपेक्षित है। स्त्री और पुरुष दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं। तभी दोनों पूर्ण हो सकेंगे।[1]

कुछ नाटककारों ने स्त्री को पुरुष की अधीनता में ही रखने को आदर्श माना है। मध्ययुग का प्रभाव कहीं-न-कहीं अब भी शेष था। राधेश्याम कथावाचक अपने नाटक 'श्रवणकुमार' में स्त्री का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व पुरुष के ऊपर रखते हैं। यह उनका कर्तव्य है कि वह स्त्री का मार्ग-प्रदर्शन करे, क्योंकि स्त्री स्वयं अपने में सबल नहीं है। विद्या, श्रवणकुमार की पत्नी भी इसी भाव से प्रेरित है -- '... स्त्री अबला और विवेकहीन हुआ करती है, उसको बुद्धि और विवेक देना पुरुषों ही का कर्तव्य है। गृहस्थी रूपी नदी पार करने के लिए स्त्री रूपी नौका को पुरुष रूपी चतुर नाविक मिलना चाहिए... नाविक नौका को जहां ले जायगा वहीं तो वह जायेगी..।'[2] स्त्री को पुरुष की अधीनता में रखना अत्यन्त रूढ़िवादी दृष्टिकोण हुआ। मो० इसहाक ने इसके विपरीत स्त्री को एक शक्ति रूप माना है। बिल्वमंगल जो कि नितान्त वेश्यागामी है, वह भी स्त्री को एक प्रेरणा मानता है। 'रम्भा। स्त्री दुनिया की शक्ति है..।'[3] ज्ञानदत्त सिद्ध ने शारीरिक अवयवों को प्रतीकात्मक पात्र बनाकर स्त्री और पुरुष के एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य का निर्देश किया है। बुद्धि एक पति प्राण पत्नी है। पति सरल सिंह मायावी के जाल में फंसकर फैशन और मदिरा युवतियों में ही रह जाता है। लेकिन अनेक प्रताड़ना के बावजूद 'बुद्धि' पति को रास्ते में लाने का प्रयत्न करती रहती है। यही स्त्री का कर्तव्य है। '... रोग के समय विषय-वासना की प्राप्ति के मोह में पुरुष अपना कर्तव्य भूल जाय तो स्त्री को चाहिए कि समयोचित शिक्षा दे।'[4]

चन्द्रराज भण्डारी की यशोधरा स्त्री-धर्म को जानती है। वह यह समझती है कि यदि पुरुष अपना कर्तव्य कम करता है तो स्त्री भी अपने पथ से विचलित नहीं हो सकती, क्योंकि पहले तो वह सिद्धार्थ के द्वारा निर्वाण-खोज में जाने पर अत्यन्त

---

१ हनुमन्तसिंह रघुवंशी -- 'सती चरित्र', १९१०ई०, प्र०अ०, अंक२, पृ०२५।

२ राधेश्याम कथावाचक -- 'श्रवणकुमार', १९१६ई०, प्र०सं०, अंक२ सीन १, पृ०८३।

३ मोहम्मद इसहाक -- 'बिल्वमंगल', १९१८ई० ? अंक१, सीन ४, पृ०१३

४ ज्ञानदत्तसिद्ध -- 'मायावी', १९२२ई०, प्र०सं०, अंक १, दृश्य६, पृ०२०।

झिझकती है लेकिन बाद में सचेत हो कहती है--" ... मेरे लिए तुम कोई चिन्ता मत करो । रमणी का हृदय त्याग का मन्दिर है । त्याग ही उसका आदर्श है । यदि पुरुष अपना कर्तव्य पालन करते हैं तो रमणियां भी अपना धर्म समझती हैं । जाओ ... ।[1]" यहां स्त्री, पुरुष की अनुगता नहीं है अर्थात् केवल छाया मात्र नहीं है, वरन् वह अपने उत्सर्ग से प्रेरणा-स्वरूपा है । बलदेवप्रसाद मिश्र ने स्त्री के लिए स्नेह और सेवा विशेष सम्पत्ति मानते हुए भी उसके पति-गौरव को सुरक्षित रखने के लिए सम्पूर्ण अधिकार दिए हैं । "शंकर दिग्विजय" नाटक की भारती इसी तथ्य को सामने रख शंकर से शास्त्रार्थ करती है--" मैं जानती हूं कि शक्ति और तर्क, बुद्धि पुरुषों की और स्नेह तथा सेवा स्त्रियों की विशेष सम्पत्ति है । मैं मानती हूं कि परमाणुओं का भी पोषण करना, निकालना और थोड़े मत-विरोध पर घण्टों बहस करना पुरुषों को ही शोभा देता है ... तुम्हारे साथ शास्त्रार्थ करने से मेरी हीनता न होगी ... ।[2]" कृष्णलाल वर्मा ने नारी के प्रति पुरुष के एकांगी दृष्टिकोण को तोड़ा है । बलजीत सिंह को छुड़ाने के लिए कमला जब वीर वेश में पहुंचती है तो वह कमला को स्त्री होने के कारण इस कार्य के लिए अयोग्य बताते हैं । तब कमला को बड़ा क्षोभ होता है, पुरुष की इस प्रवृत्ति से । वह कहती है --" .... न मालूम पुरुष क्यों अपने घमण्ड के नशे में इतने अन्धे होते हैं कि उनके लिए स्त्रियां भले ही प्राण क्यों न दे दें, उनको कुछ परवाह नहीं होती ... ये सदा उनके गुणों को ढक उनके लिए डरपोक, कायर, अबला आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं ... ।[3]" नाटककारों ने प्राय: स्त्री को सहायक रूप में ही देखना चाहा है । अपनी स्वाभाविक सीमाओं में रहकर ही उसे पति-प्रेम को सुरक्षित रखना चाहिए । लक्ष्मीनारायण मिश्र नारी को स्वतन्त्र तो करते हैं, पर सीमा के अन्दर ही । "अशोक" नाटक में भवगुप्त की पत्नी विमला बहुत अधिक ऐश्वर्य एवं वैभव की भूखी है, जिसके लिए वह पति को परेशान करती रहती है । पर स्त्री को हमेशा स्नेह और त्याग के दायरे में ही रहना चाहिए । भवगुप्त विमला से कहता है-- "तुम स्त्री हो । तुम्हारा कर्तव्य है दया, स्नेह और त्याग । साम्राज्य की चिन्ता मुझे होनी चाहिए, तुम्हें नहीं । तुम्हें चिन्ता होनी चाहिए मेरे प्रेम की ... ।[4]" यहां भी स्त्री

---

1. चन्द्रराज भण्डारी -- "सिद्धार्थ कुमार", १९२२ ई०, प्र०सं०, अंक ३, दृश्य ३, पृ० ९० ।
2. बलदेवप्रसाद मिश्र -- "शंकरदिग्विजय", १९२३ ई० ,?, प्र अंक २, दृश्य ७ , पृ० ८३ ।
3. कृष्णलाल वर्मा -- "बलजीत सिंह", ?, प्र०सं०, अंक १, दृश्य ७, पृ० २७-२८ ।

को बाह्य कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करने दिया है,लेकिन फिर भी उसे पुरुष के समक्ष एकदम निम्न स्थान भी नहीं दिया गया है । जगन्नाथशरण अपने नाटक 'कुरुक्षेत्र' में पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों में कष्ट सहन की शक्ति अधिक बताते हैं । व्यास कहते हैं--'... स्त्रियों के आपद के समय दु:ख सहने का जो साहस होता है, वह पुरुषों में कम पाया जाता है...।'[1] वस्तुत: पुरुष समाज का न्याय है, स्त्री दया । पुरुष प्रतिशोधमय क्रोध है, स्त्री क्षमा । पुरुष शुष्क कर्तव्य है, स्त्री सरस सहानुभूति और पुरुष बल है, स्त्री हृदय की प्रेरणा है ।[2]

उमाशंकर मेहता ने भी नारी को जीवन में पुरुष के लिए आवश्यक माना है । उन्होंने स्त्री जीवन को पुरुष के समान ही महत्वपूर्ण चित्रित किया है । राजकुमार पवन विवाह से दूर रहते हैं,लेकिन प्रहसित उसे समझाते हैं--'...सांसारिक जीवन-निर्वाह करने का स्त्री साधन रूप है,इसी कारण लोग उसे गृहिणी भी कहते हैं ।'[3] स्त्री और पुरुष का सहयोग जीवन की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है । दोनों एक-दूसरे के बिना सफल नहीं हो सकते । सुदर्शन के 'अंजना' नाटक में शांता पुरुष की छाया से भागती है । वह उसके साहचर्य के महत्व को नहीं समझ पाती है । तब अंजना अपनी सखी को समझाती है-- '... स्त्री और पुरुष रथ के दो पहियों के समान हैं । जब तक दोनों इकट्ठे न हों, तब तक उन्नति के मार्ग पर चलना कठिन ही नहीं असम्भव है .. पुरुष स्त्री का शृंगार है ।'[4]

जयशंकर 'प्रसाद' जी ने भी अपने नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में पुरुष की साकार कठोरता का विरोध किया है । पुरुष स्त्री के ऊपर मनमाना व्यवहार करता है । रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी के साथ कटु व्यवहार ध्रुवस्वामिनी को विरोध के लिए विवश कर देता है । ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त शकराज के पास उपहार स्वरूप भेजने को तैयार हो जाता है । क्या पत्नी के स्त्रीत्व की यही सीमा है । वह कह देती है--

----

1 जगन्नाथ शर्मा --'कुरुक्षेत्र' ,1928ई0,प्र0सं0,अंक1,दृश्य8,पृ040 ।

2 महादेवी वर्मा --'शृंखला की कड़ियाँ',पृ013

3 उमाशंकर मेहता --'अंजनासुन्दरी',1929ई0,प्र0सं0,अंक5,दृश्य3,पृ0100 ।

4 सुदर्शन --'अंजना',1930ई0,[illegible]सं0,अंक1,दृश्य4,पृ019 ।

"पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु सम्पत्ति समझकर उनपर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, यह मेरे साथ नहीं चल सकता।"[1] 'प्रसाद' जी ने पुरोहित के माध्यम से स्त्री और पुरुष के बीच सहयोग की व्यवस्था की है[2]। यदि ऐसा नहीं है तो स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का विच्छेद ही उत्तम है। जागृत स्त्रीत्व का एक अन्य रूप लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'राजयोग' में मिलता है। चम्पा आधुनिक नारी की जीवन्त स्वरूपा है। चम्पा से बलात्, नरेन्द्र के प्यार को तोड़कर विवाह करने वाले शत्रुसूदन को उसका समर्पण नहीं मिल पाता है। अतः वह उस पर तनिक सन्देह कर बैठता है। इसे चम्पा पुरुष का सबसे बड़ा पौरुष बताती है। वह यह नहीं समझ पाती कि पुरुष स्त्री को अपने हाथ का खिलौना क्यों समझता है? पुरुष नारी को मात्र वासना का खिलौना समझता है[3]। वस्तुतः नाटककार स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के विषय में यथार्थवादी है। वह संबंधों को आध्यात्मिक कहकर झुठलाना नहीं चाहता है। आध्यात्मिकता की आड़ लेकर आकाश की ओर देखने वाले जीवन को सच्चे रूप में नहीं देख पाते। स्त्री-पुरुष संबंधों में फिर कृत्रिमता आ जाती है। सुख सम्भव नहीं। इसी कारण नरेन्द्र चम्पा को समझाता है--

"....स्त्री पुरुष का संबंध किसी आध्यात्मिक आधार पर नहीं, नितान्त भौतिक है। उसे और भी आकर्षक, उन्मादक और विनाशात्मक बनाने के लिए आध्यात्मिक रंग चढ़ाया जाता है[4]।"

रामनरेश त्रिपाठी ने पुरुष का आत्मिक संतोष पोषण में ही दिखाया है। यह उसका मुख्य कार्य है। वासंती जब अपने पति के बारे में बताती है तो वह यही कहती है-- उसके पति को स्त्री और[5] बच्चों के पालन-पोषण में ही सुख मिलता था, क्योंकि इसे वह पुरुष का धर्म बताते थे। नाटककार ने स्त्री को इस बोझ से स्वतंत्र

---

१ जयशंकर 'प्रसाद' -- 'ध्रुवस्वामिनी', १९३[illegible]ई०, प्र०सं०, अंक१, पृ०२५।

२ वही, अंक३, पृ०५३ ।

३ लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'राजयोग', १९३४ई०, प्र०सं०, अंक२, पृ०४३ ।

४ वही, अंक ३, पृ०९२ ।

५ रामनरेश त्रिपाठी -- 'वसंत', १९३४ई०, प्र०सं०, अंक१, दृश्य१, पृ०३ ।

रखा है,लेकिन फिर भी उसे स्त्री और पुरुष का सहयोगी रूप ही पसन्द है। लक्ष्मी-नारायण मिश्र जी स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में आकर्षण के तत्व को मुख्य मानते हैं, जिसके कारण पुरुष, स्त्री की ओर आकर्षित होता है। मनोरमा पुरुष का इस दृष्टि से घृणा करती है। मुरारीलाल द्वारा विवाह के लिए जोर दिए जाने पर वह कहती है--"पुरुष आंख के लोलुप होते हैं, विशेषत: स्त्रियों के सम्बन्ध में...।"[1] वस्तुत: यह तो सृष्टि का एक अनिवार्य तत्व है। स्त्री-पुरुष परस्पर सदैव आकर्षण का विषय रहे हैं। लेकिन हां, नाटककार उसे नैतिक आवरण में रखना पसन्द करता है। दोनों एक ही पथ के पथिक हैं, एक ही मार्ग पर चलते हुए यदि वे एक-दूसरे को सहयोग नहीं देते तो कभी भी सफल न हो पायेंगे। सुमित्रानन्दन पंत अपने "ज्योत्स्ना" नाटक में प्रतीकात्मक पात्रों के माध्यम से इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं--"... इस समय देश जाति के बन्धनों से मुक्त मनुष्य केवल मनुष्य है। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध भी अब पात्रों की बेड़ी या जीवन का बन्धन नहीं रहा। वह एक स्वाभाविक,आत्म-समर्पण और जीवन की मुक्ति बन गया है। निरन्तर आश्चर्य,परस्पर सद्भाव एवं सहशिक्षा के कारण आधुनिक युवक-युवती का प्रेम देह की दुर्बलता न रहकर हृदय का बल एवं मन का संयम बन गया है।"[2] स्पष्ट है कि इस कथन में नाटककार स्त्री-पुरुष के बीच भौतिक संबंध को नहीं,परन्तु आत्मिक संबंध को ही उचित मानता है। वह स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों को शारीरिक पूर्ति के हेतु से भी और अधिक ऊंचा उठाना चाहता है। स्त्री-पुरुष सृष्टि के अभिन्न अंग हैं। दोनों का सहयोग ही सृष्टि का चालक है। उदयशंकर भट्ट की अम्बा इसी तथ्य की पोषक है। --"... मनुष्य और स्त्री स्वर्ग के पुजारी हैं। अभिन्नता सृष्टि है, और भेद विनाश का झरना है, जिसमें प्रलय का जल गिरकर सृष्टि को डुबा देता है...।"[3] स्त्री और पुरुष के बीच अभिन्न संबंध की ही अति आवश्यकता है। इस तथ्य को अम्बिका एवं अम्बालिका भी समझती हैं--"पुरुष और स्त्री तो संसार की गाड़ी के दो पहिये हैं...।"[4] पर पुरुष प्रारम्भ से ही स्त्री के ऊपर अपनी

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र --"सिन्दूर की होली",१९३४ई०,प्र०सं०,अंक१,पृ०४२।

२ सुमित्रानन्दन पंत --"ज्योत्स्ना",१९३४ई०, प्र०सं०,पृ०८५,3।

3 उदयशंकर भट्ट --"अम्बा",१९३५ई०,प्र०सं०,अंक२,दृश्य४,पृ०३२।

४ वही,अंक२,दृश्य२,पृ०८६।

प्रभुता स्थापित करता चला आया है । उसके लिए स्त्री का गौरव और मान नगण्य है । शाल्व अपनी सभा के बीच यही कहते हैं कि स्त्रियों का मानापमान क्या है? लेकिन नाटककार पुरुष की इस वृत्ति का नारी द्वारा प्रतिशोध लेता है । जब भी नारी का अनादर हुआ है,वहां अनिष्ट भी अवश्य हुआ है । व्यास जी कहते हैं--'... एक बड़े स्त्री के अनादर का फल यह महाभारत हुआ और दूसरी स्त्री के अनादर का फल है भीष्म की मृत्यु[1] ।

अम्बा के नारीत्व की अवहेलना ही भीष्म की मृत्यु का कारण बनी । स्त्री अपने स्वभाव के अनुसार ही पुरुष को भी देखना चाहती है । पुरुष की कठोरता उसके लिए असहनीय होती है । शिवरामदास गुप्त की मलोना पुरुष जाति की कठोरता से ही अत्यन्त क्षुब्ध है । केदारनाथ की मिल-मजदूरों के ऊपर निर्मम क्रूरता देख, वह एकदम पुरुष जाति से ही विरक्त हो जाती है । ऐसे व्यक्ति के साथ वह अपने स्त्री जीवन को बांधना नहीं चाहती है । वास्तव में जब तक स्त्री और पुरुष एक ही मार्ग पर नहीं चलेंगे, तब तक उनका सम्पर्क न होना ही श्रेयस्कर है[2] ।

नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र जी ने नारी को जिस सामाजिक मर्यादा के भीतर रखा है, उसका कारण उन्होंने 'आधीरात' की मायावती में बताया है । स्त्री जब अपनी सीमाओं को नहीं समझ पाती, तब वह जीवन से हार हो जाती है । मायावती ने अपने स्त्री-जीवन को पुरुष के संग,बिना किसी भय के रखा और वही व्यवहार उसके जीवन का अभिशाप हुआ । वह बाद में महसूस करती है कि पाश्चात्य जीवन-प्रणाली पर व्यतीत किया गया नारी का जीवन सुख और शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता । उसको तभी सुख होगा जब कि वह पुरुष की सेवा करे । '... स्त्री को अवसर मिल सके कि वह पुरुष की सेवा करे । संसार जब इन नये प्रयोगों से ऊब जायगा, इस प्रयोग की ओर झुकेगा[3] ।' पुरुष के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को लय

---

१ उदयशंकर भट्ट --'अम्बा', अंक३,दृश्य७,१९३५ई०,प्र०सं०,पृ०११० ।

२ शिवरामदास गुप्त --'आज की बात',१९३६ई० ? अंक ३,दृश्य३,पृ०८६ ।

३ लक्ष्मीनारायण मिश्र -- 'आधीरात',१९३६ई०,द्वि०सं०अंक१,पृ०३३ ।

कर देना, अभिन्नता स्थापित करना ही स्त्रीत्व की सार्थकता है । वह पुरुष से पृथक् स्वतन्त्रतापूर्वक अपने जीवन में कभी भी दाम्पत्य एवं सामाजिक जीवन में सफल नहीं हो सकती है । वह कहती है-- `स्त्रीत्व का आदर्श और विकास अपनी भिन्नता मिटा कर पुरुष में लय हो जाना है ।`[1] यही कारण है कि मायावती ने अपने पाश्चात्य जीवन की विडम्बना को महसूस किया । अपने भारतीय आदर्शों के अनुसार प्रकाशचन्द्र से तादात्म्य स्थापित कर उसकी सेवा द्वारा अपने जीवन का सुधार करने का उद्योग किया । उसने महसूस किया --`पुरुषत्व की रक्षा, पुरुष के नहीं, स्त्री के आधीन है । हम इसीलिए पैदा हुई थीं । हमें पैदा करने में प्रकृति का यही मतलब है ।`[2] चन्द्रशेखर पाण्डेय ने स्त्री-पुरुष में शक्ति और शक्ता का सम्बन्ध बताया है । नारी पुरुष की शक्ति है । परस्पर एक-दूसरे को सहयोग देना उसका आन्तरिक व गुण है । न तो शक्ति शक्ता से पृथक् रहकर पूर्ण हो सकती है और न शक्ता शक्ति से । रूपवती के पिता राव शिवरत्न उसकी सखी चपला से वार्तालाप के मध्य अपने इस विचार को स्पष्ट करते हैं `... मेरे विचार से पुरुष शक्ता है, परन्तु उनकी शक्ति नारी समाज ही है ... ।`[3] प्रो० सत्येन्द्र के अनुसार जीवन-यज्ञ में आहुति देने के लिए स्त्री-पुरुष दोनों का होना आवश्यक है । स्त्री के प्रति समाज में जो सामान्य अवहेलना व्याप्त है, नाटककार उसे दूर करने के लिए स्त्री को विशेष गौरव एवं महत्व प्रदान करता है । वीरमती कहती --`... भारत में स्त्रियों की महानता और उनके कर्मों की एक दीर्घ परम्परा है । वे स्वयं तो मुक्त होती ही हैं, पुरुषों को भी मुक्ति प्रदान कराने में वे ही सहायक होती हैं ।`[4] जसमा ओडों का नेतृत्व करने वाली एक वीर महिला है । साथ ही मेहनती भी है । वह अपने कर्मों द्वारा राज्य के कितने ही पुरुषों को कार्य के लिए प्रेरित करती है । जगदेव का जीवन बचाने के लिए स्वयं ह को आहुति दे देती है । स्त्री पुरुष के साथ-साथ बराबर सहयोग देती है, लेकिन साथ ही यदि कभी जीवन-यज्ञ में बलि भी देनी पड़े तो उससे भी पीछे

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र -- `आधी रात`, १९३४ई०, द्वि०सं०, अंक२, पृ०८६ ।

२ वही, अंक२, पृ०८४ ।

३ चन्द्रशेखर पाण्डेय -- `राजपूत रमणी`, १९३७ई०, प्र०सं०, अंक१, दृश्य६, पृ०५९ ।

४ प्रो० सत्येन्द्र -- `जीवन-यज्ञ` ? प्र०सं०, अंक२, दृश्य३, पृ०१०८ ।

नहीं मांगती । ब्रजनन्दन शर्मा ने 'सत्याग्रही' नाटक में स्त्री को सबल दिखाया है । पुरुष ही स्त्री की रक्षा करने वाला नहीं है, वरन् स्त्री भी स्वयं में सबल है, अत: इस दृष्टि से स्त्री को हीन ~~दृष्टि से~~ देखना सर्वथा अनुचित है[1] । मायादत्त नैथानी भी स्त्री को पुरुष के लिए एक प्रकार से शक्ति मानते हैं । संयोगिता से सुनन्दा कहती है कि यदि वह चाहे तो उस की राजनैतिक महती शक्तियों को नष्ट होने से बचा सकती है । पृथ्वीराज चौहान के आन्तरिक जीवन में प्रविष्ट होकर क्योंकि '... स्त्री-पुरुष के जीवन का कर्णधार है ...[2] ।' वस्तुत: नाटककार ने स्त्री को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान में प्रतिष्ठित करना चाहा है ।

भगवतीप्रसादवाजपेयी ने भी स्त्री को पुरुष के बिना अपूर्ण बताया है । स्त्री को जिन्दगी की अन्य खुशियां वह सुख-शान्ति नहीं दे सकती जो स्त्री-पुरुष के ऐक्य में प्राप्त हो सकती है । कल्पना पुरुष से नहीं, वरन् वैभव से प्यार करती है । उसकी सखी कामना उसके टूटते हुए जीवन को इंगित कर कहती है--'... पुरुष को तुम नारी से सर्वत्र भिन्न देखती हो । तुम्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि नारी के बिना पुरुष अपूर्ण है, वैसे ही जैसे पुरुष के बिना नारी ... आघात सहकर सदा मैंने यही सोचा कि पुरुष नारी के मनोराज्य के लिए अभिशाप है... पर अन्त में मैं फिर प्रतिक्रियाओं की शिकार हुई... मैंने बिना कुछ सोचे-विचारे अपने-आपको पुरुष के आगे समर्पित कर दिया[3] ।' वस्तुत: नारी जागरण-काल में पड़ता हुआ पाश्चात्य प्रभाव भी अत्यन्त हानिकारक था । स्त्री-पुरुष संबंधों में बढ़ने वाली उलझनें उसी का परिणाम था । डा० राधाकृष्णन् ने इसीलिए लिखा है कि '... आधुनिक स्त्रियां अपना आत्म सम्मान खो रही हैं... वे तेजी के साथ पुरुषवत् और यन्त्रवत् होती जा रही हैं[4] । आत्मिक प्रयत्नों के कारण उनका अपनी आन्तरिक प्रकृति के साथ ही संघर्ष हो रहा है ।' हमारे युगीन विचारक नारी को न तो मात्र पुरुष की छाया ही बनाकर रखना चाहते हैं और न

----

१ ब्रजनन्दन शर्मा -- 'सत्याग्रही', १६३६ई०, प्र०सं०, अंक२, दृश्य४, पृ०७६ ।

२ मायादत्त नैथानी -- 'संयोगिता', १६३६ई०, प्र०सं०, पृ०५४ ?, अंक२, दृश्य६ ।

३ भगवती प्रसाद वाजपेयी -- 'कल्पना', १६३६ई०, प्र०सं०, अंक२, दृश्य२, पृ०४८।

४ डा० राधाकृष्णन् -- 'हिन्दुओं का जीवन-दर्शन' अनु०-कृष्ण किंकर सिंह, प्रथम, १६५१, पृ०८५।

उसे पाश्चात्य नारी के समान पुरुष के प्रतिस्पर्धी रूप में देखना चाहते हैं, उन्हें स्त्री-पुरुष दोनों के समत्व सहयोग में ही सन्तोष होता है। नवीन मिश्रा से कहता है कि नारी हर हालत में पुरुष की प्रेरणा है, साधना है, अन्तरात्मा की ज्योति है। उसे न पाकर या खोकर पुरुष एक ओर जहां पागल बन जाता है, वहां दूसरी ओर वह उठता भी है। उसे जागरण भी मिलता है।[1]

श्री शम्भुदयाल सक्सेना ने नारी को यथार्थ की धरातल पर रखा है उसे पुरुष की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक दुनिया में रखना और देखना ही पसन्द करते हैं। मीरा की महारानी सास -मां अपने संयम एवं पटु व्यवहार के कारण ही राणा सांगा द्वारा प्रशंसा की पात्र बनती हैं। वह राणा से कहती हैं--" हम नारी हैं। हम घर के भीतर रहती हैं। हम भावना में उड़ना नहीं जानती। हम यथार्थ और व्यावहारिक को देखती हैं। पुरुष यथार्थ से इतने भाराक्रान्त रहते हैं कि अवसर पाते ही कल्पना के आकाश में ऊंची उड़ान लेने लगते हैं ..।"[2] नाटककार सेठ गोविन्ददास स्त्री को पुरुष की दृष्टि से बराबरी का स्थान दिलाना चाहते हैं। "कुलीनता" में विन्ध्यबाला पति के विपरीत मार्ग को देखकर भयभीत होती है और पति को समझाना चाहती है, लेकिन वह उसकी अवहेलना करता है, क्योंकि वह स्त्री थी। तब विन्ध्यबाला कहती है "....आपको नारी मार्ग बता रही है, आपकी पत्नी मार्ग बता रही है। नारी नर से निम्न कोटि की होती है, पत्नी पति से बहुत छोटी वस्तु है, इन बातों को आप अपने हृदय से निकाल दीजिए।"[3] कंचनलता सब्बरवाल का आदित्य भी नाटक के अन्त में स्त्री की आवश्यकता को महसूस करता है। नारी के बिना जीवन अपूर्ण है। "..कितना अपंग है पुरुष, नारी के बिना? कर्तव्य पूर्ण हुआ। टूटी हुई कीर्ति की रक्षा हुई, किन्तु जीवन तो अपूर्ण ही रह गया..।"[4] वह अपने जीवन में बहन का स्नेह, मां की ममता तथा कोणकुमारी के अनुराग को हर तरफ देखता है। और सोचता है कि बिना स्त्री के पुरुष कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता।

---

१ राधाकृष्णन् --"हिन्दुओं का जीवन दर्पण" (अनु० कृष्ण किंकर सिंह) १९५२ ई०, अंक ३, दृश्य ३, पृ० ८५

२ श्री शम्भुदयाल सक्सेना--"साधनापथ", १९४० ई०, प्र० सं०, अंक २, दृश्य ४, पृ० ६४।

३ सेठ गोविन्ददास --"कुलीनता", १९४१ ई०, प्र० सं०, अंक २, दृश्य ५, पृ० ५६२।

४ कंचनलता सब्बरवाल --"आदित्यसेन गुप्त", १९४२ ई०, प्र० सं०, अंक ५, दृश्य ५, पृ० ११६।

स्त्री की मर्यादा के लिए पुरुष हमेशा मनमाना व्यवहार करता आया है । लेकिन सेठ गोविन्ददास ने कुसुम के साथ व्यवहार करने वाले मदन को धिक्कारा है । उसके एक बार विवाह के लिए सहमत होना, फिर मना करना नाटककार स्त्री की स्थिति से अत्यन्त दु:खी है । वह कुंज द्वारा मदन को समझाता है -- "... स्त्री कोई खिलौना नहीं कि जब चाहा उससे खेला तथा जब चाहा तब तोड़ डाला, और न वह कोई कमोडिटी है कि जो चाहे, वह उसे खरीद ले ।"[1] पुरुष की अधिकार-भावना, स्त्री की इस हीन स्थिति का कारण है । सेठ गोविन्ददास ने जहाँ नारी के प्रति पुरुष को सहृदय होने की इच्छा की है, वहीं वह यह भी नहीं चाहते कि नारी अपने स्वाभाविक गुण कोमलता को छोड़ दे । स्त्री व पुरुष में एक मूल स्वाभाविक अन्तर तो होता ही है, लेकिन दोनों का मेल ही यथार्थ एवं संतुलस्थिति होगी । सौदामिनी अपने सौत पुत्र के अन्दर हिंसात्मक भावों को भरना चाहती है, उसे एकदम क्रूर बना देना चाहती है । अलकनन्दा को उसकी इस प्रवृत्ति पर आश्चर्य होता है । वह उसे समझाती है कि कोमलता स्त्री का स्वभाव है । "जिस प्रकार पुराने और नए युग में फर्क होता है, उसी प्रकार पुरुष और स्त्री के हृदय में भी अन्तर होता है ।"[2] दीनानाथ व्यास विशारद ने भी कंचनलता सब्बरवाल के समान ही बिना नारी के पुरुष को पंगु माना है । सुनयना नाटक में एक जीवन्त नारी शक्ति है, जो नारी के अस्तित्व के लिए सचेत है । वह महारानी से कहती है कि "... स्त्री शक्ति की अब आवश्यक है । स्त्री शक्ति से ही पुरुष का अस्तित्व कायम है । स्त्री शक्ति, पुरुष की शक्ति से प्रधान है । स्त्री के बिना पुरुष पंगु है ... ।"[3]

नाटककार प्रेमचन्द की जैनी पुरुष के कठोर शासन से मुक्त होने का प्रयत्न है । जैनी स्वतन्त्र होती हुई नारी की आवाज है । स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में जो कटुता आ गई थी, उससे जैनी को पुरुष से घृणा हो गई । उसका कथन है कि मर्द स्त्री की जितनी इज्जत करता है, वह सब दिखावा है । पुरुष दिल में खुब समझता है कि उसने स्त्री की वह चीज़ छीन ली जिसकी पूर्ति में वह जितनी खातिरदारी करे, वह

---

१ सेठगोविन्ददास -- "दलित कुसुम", १९५२ई० ? अंक२, दृश्य१, पृ०३६ ।
२ सेठ गोविन्ददास -- "हिंसा या अहिंसा", १९५२ई०, प्र०सं०, अंक२, पृ०६३ ।
३ दीनानाथ व्यास विशारद -- "धर्माचार्य", १९५४ई०, प्र०सं०, अंक१, दृश्य२, पृ०१४ ।

थोड़ी है । वह चीज[1] स्त्री की आजादी है । पुरुष स्त्री को विवाह बाद लौंडी बना कर रखना चाहता है । अत: वह स्त्री जीवन को पुरुष के शासन से एकदम मुक्त करना चाहती है । जिस प्रकार पुरुष का व्यक्तित्व स्वतन्त्र है, उसी प्रकार स्त्री का भी होना चाहिए । स्त्री और पुरुष के बीच शासन की भावना कैसी ? आज की नारी का सबसे बड़ा असन्तोष यही है, वह अपने और पुरुष के अधिकारों में समानता चाहती है । स्त्री के लिए हीन दृष्टिकोण समाज का क्यों है ? जब कि वह तो पुरुष की शक्ति है । श्री नारायण प्रसाद बिन्दु ने भी स्त्री को पुरुष को शक्ति माना है, वह चाहे तो पति की सहायक बनकर उसकी शक्ति द्विगुणित कर सकती है...[2] । नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी का दृष्टिकोण आदर्शवादी है । जहाँ नारा अपनी भाभी नादिरा से कहती है-- '... जो स्थान प्रकृति में निर्मल झरने का है... वही पुरुष के जीवन में स्त्री का है[3] ।' पुरुष का पुरुषत्व नारी के लिए आवश्यक है, जैसे लताएं तरु का सहारा पाकर बढ़ती हैं, उसी भाँति नारी भी[4] । आचार्य चतुरसेन शास्त्री मानते हैं कि स्त्री पुरुष से कभी भिन्न नहीं हो सकती है । अजीत सिंह से रानी कहती है-- 'स्त्रीत्व तो ऊषा की एक स्वर्ण-रेखा है जो वास्तव में पुरुषत्व रूपी सूर्य की एक किरण मात्र है । सूर्य के आगमन से पूर्व ही उसका आगमन होता है और अन्त में पुरुषत्व को उसी पर न्यौछावर भी होना पड़ता है[5] ।' जिस प्रकार नारी को अपने नारीत्व की सार्थकता के लिए पुरुषत्व की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार पुरुष का तेज भी स्त्रीत्व में विलीन होकर ही प्रदीप्त होता है, लेकिन स्त्री-पुरुष दोनों यथार्थ जगत से संबंधित हैं, अत: उनका व्यवहार भी यथार्थ होना चाहिए । स्त्री-पुरुष दोनों को यथार्थ से ऊपर स्वप्न में विचरण नहीं करना चाहिए । रानी ने इस तथ्य को खूब अच्छी तरह समझा है 'स्त्री-पुरुष दोनों ही जगत में सत्य हैं, वे स्वप्न नहीं, इसलिए दोनों की भटकती हुई भावनाएं स्वप्न की नहीं होनी चाहिए । जगत में जब पुरुषत्व मध्य सूर्य बिन्दु की भाँति अपने तप और तेज का विस्तार करे तो उसे ऊषा

---

१ प्रेमचन्द -- 'प्रेम की वेदी', १९४७ई०, प्र०सं०, दृश्य१, पृ०५ ।

२ श्रीनारायण प्रसाद 'बिन्दु' -- 'सत्य का सैनिक', १९४८ई०, प्र०सं०, अंक२, दृश्य४, पृ०४९-५०।

३ हरिकृष्ण प्रेमी -- 'स्वप्नभंग', १९४९ई०, द्वि०सं०, अंक१, दृश्य३, पृ०५७ ।

४ वही, अंक१, दृश्य३, पृ०५८।

५ आचार्य चतुरसेन शास्त्री--'अजीतसिंह', १९४९ई०प्र०सं०, अंक४दृश्य७, पृ०१४६।

का अनुगत नहीं होना चाहिए[1]।" पुरुष को स्त्रीत्व के सम्मुख अपने कर्तव्य को नहीं भूलना चाहिए।

वस्तुत: स्त्री-पुरुष संबंध पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन स्तर पर एक समस्या बन जाते हैं। जब जीवन में दोनों की आवश्यकता है और दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं तब फिर एक को उच्च और एक को उससे निम्न स्थान क्यों दिया जाय ? पुरुष स्त्री को अपने शासन में ही रखना चाहता है। यही कारण था कि मध्य युग में नारी की स्थिति बहुत अधिक शोचनीय हो गई थी। लेकिन नारी जब अपने संबंध के प्रति सचेत हुई तो उसने पूरी शक्ति के साथ समानाधिकारों को पाने का प्रयत्न किया। गोपालकृष्ण कौल लिखते हैं कि वर्तमान समाज के पारिवारिक जीवन में हर पुरुष, चाहे वह पति हो या पिता, स्त्री के प्रति अपने को नेपोलियन से कम नहीं समझता .. आज की जागृत नारी अपना सिर काटने वालों से केवल जवाब ही तलब नहीं करती, बल्कि सिर काटने वाली तलवार को भी तोड़ने के प्रयत्न में संघर्ष रत है[2]। नारी अपने अधिकार को पाना चाहती है। वह पुरुष के साथ जीवन में सहयोगी होना चाहती है। प्रत्येक गृहस्थ और समाज में जब तक स्त्री-पुरुष सत्य, प्रेम और परस्पर की सहानुभूति का व्यवहार करना न सीखेंगे, तब तक चाहे कितने ही कानून और कायदे बन जायं, कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती[3]। वृन्दावनलाल वर्मा की 'लक्ष्मी बाई' मानती हैं कि जब तक स्त्रियां स्वयं में दृढ़ न होंगी, पुरुष भी तब तक सबल न हो पायेंगे। स्त्री में वीरता एवं साहस होना बहुत आवश्यक है। वह मोती बाई से कहती है--" ... स्त्रियां पुष्ट और बलिष्ठ बनें, अपनी रक्षा करना सीखें, तभी पुरुष, पुरुष बन सकते हैं और तभी स्वराज्य मिल सकता है और बना रह सकता है[4]।" देश के लिए, परिवार के लिए सभी जगह स्त्री को पुरुष के समान ही समरस रहना चाहिए। लेखक विजयकुमार, पुरुष और नारी के जीवन के विकास के लिए समन्वय को आवश्यक मानते हैं। जीवन में समझौते की बुद्धि जीवन की कई विषमताओं को नष्ट कर डालती है। पुरुष नारी

---

१ आचार्य चतुरसेन शास्त्री -- 'अमरसिंह', १९५९ ई०, द्वि०सं०, अंक४, दृश्य७, पृ० १५०।

२ गोपालकृष्ण कौल -- 'नाटककार अश्क', प्र०सं०, १९५४ ई०, पृ० २५६।

३ श्रीमती सोमवती -- 'स्त्री और प्रेम' - 'विशाल भारत', फरवरी, १९३७ ई०

४ वृन्दावनलाल वर्मा-- 'झांसी की रानी', १९५२ ई०, द्वि०सं०, अंक२, दृश्य१, पृ०४७।

को खरीदा हुआ सप्राण पशु न समझें, वरन् जीवन-पथ का एक साथी समझें और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे भी आगे बढ़ने का उत्साह प्रदान करें... जीवन में विजय प्राप्त करना है तो जीवन की उन मान्यताओं को लेकर चलना चाहिए जो जीवन की प्रगति की राह ले जाती है।[1]

प्राय: सभी नाटककारों ने अपने नाटकों में स्त्री-पुरुष को सहयोगी के रूप में देखना चाहा है। उन्होंने स्त्री को पुरुष के समान गौरव युक्त देखा है, उसे शक्ति माना है।

—0—

---

१ विजयकुमार -- 'हमारी सामाजिक विषमताएं'-विश्वामित्र', जून १९४७ई०

अध्याय--४

नारी और शिक्षा

अध्याय --४

नारी और शिक्षा

शिक्षा द्वारा ही व्यक्ति का विकास सम्भव होता है । चाहे नारी हो या पुरुष, सभी शिक्षा द्वारा ही मानसिक विकास कर पाते हैं । मानसिक विकास ही व्यक्ति को आध्यात्मिक ऊंचाइयों पर ले जाने वाला है । यह शिक्षा चाहे किसी भी प्रकार प्राप्त हो-- घर में या कहीं बाहर, किसी संस्था या अन्य शैक्षिक संस्थाओं में । स्त्री-पुरुष जब समाज के दो सुदृढ़ स्तम्भ हैं, तब दोनों का ही शिक्षित होना अनिवार्य है । पुरुष तो शिक्षित होता ही है, नारी के लिए भी शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है । प्राचीन भारत में अभिभावक अपने पुत्रों के साथ-साथ पुत्रियों को भी शिक्षित करते थे[1] । अपाला, घोषा, विश्ववरा, लोपामुद्रा आदि नाम मिलते हैं, जो विदुषियां थीं[2] । उस समय विदुषी स्त्रियों को ब्रह्मवादिनी कहा जाता था । कहने का तात्पर्य यह है कि उस प्राचीन वैदिक युग में भी स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार था । स्त्री, पुरुष के समान ही शिक्षा की अधिकारिणी थी ।

मध्ययुग में भक्ति की ओर बढ़ते हुए चरणों ने स्त्रियों की दशा एकदम हीन कर दी थी । ज्यों-ज्यों वैराग्य और सन्यास की प्रवृत्ति बढ़ती गई, जीवन के प्रति उदासीनता भी बढ़ने लगी । इस युग में स्त्री-शिक्षा को बहुत धक्का लगा था । सामान्य स्त्री वर्ग तो एकदम अज्ञान के पर्दे में ही रहा था । संगीत, कला की शिक्षा वैश्यावर्ग तक निहित था । भारतीय नारी के अस्तित्व के लिए, उस युग में शिक्षा का

---

1. Prof. Indra - The status of women in Anc. India- 1st edition, Kage 1940.

   Swami Madvananda- Great Women of India- 1st edition- 1953.

2. A.S.Altekar - The position of women in Hindu Civilisation- 3rd edition, 1962, -Page 12.

न होना ही मुख्य कारण था । जैसे-जैसे नारी ने शिक्षा प्राप्त करनी आरम्भ की, वैसे-वैसे उसके अधिकार सुरक्षित हुए, उसे समाज में स्थान मिला । स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ और आज उसका सार्वजनिक क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है । पुनर्जागरण काल में राजनैतिक नेताओं एवं समाज-सुधारकों ने नारी को शिक्षा दिलाने का प्रयत्न किया। राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्रविद्यासागर आदि सभी ने नारी-शिक्षा के लिए कानूनी अधिकार प्राप्त किये तथा जगह-जगह शिक्षा-केन्द्रों[1] की स्थापना की । नारी ने पुन: एक बार अपने वैदिक गौरव को प्राप्त किया । स्वामी विवेकानन्द ने भी स्त्री-शिक्षा को अति आवश्यक बताया, जिससे शिक्षा प्राप्त होने पर स्त्रियां अपनी समस्याएं स्वयं ही हल कर लेंगी । अब तक तो नारी केवल असहाय अवस्था में दूसरों पर आश्रित हो जीवनयापन करती रही, लेकिन अब उसे आत्मरक्षा भी करना सीखना होगा[2] । लेकिन साथ ही स्वामी विवेकानन्द शिक्षा के स्वरूप के लिए यह भी कहते हैं कि " हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता[3] है, जिससे चरित्रनिर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े एवं बुद्धि विकसित हो । यही कारण था कि नारी जब अपने विषय में स्वयं सचेत हुई, तभी वह राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी भूमिका निभा पाई । नारी के लिए शिक्षा की आवश्यकता के प्रति हमारे आलोच्यकाल के नाटककारों ने सम-सामयिक दृष्टिकोण ही अपनाया है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अशिक्षा को ही देश के पतन का कारण माना । नारी शिक्षा को उन्होंने बहुत जरूरी माना है । जिससे शिक्षित हो वे अपने स्वत्व को पहचान सकें । घर में तथा बाहर सभी जगह अपने कर्तव्यों का निर्वाह कर सकें[4] ।

---

१ . P.Thomas -Indian Women through the Ages- 1964, Page 322.

'The spread of female education has not only revived the feminine genius of the anceint Vedic and Buddhis days, but has also enabled Indian women to play almost as important a part as men in building up the new literature of India'- by P.Thomas.

२ "विवेकानन्द साहित्य",अष्टमखण्ड, पृ०२७७(अद्वैत आश्रम) ।

३ वही

४ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : "नीलदेवी"-१८८१ -भा०ना० (आमुख)

'भारत दुर्दशा' नाटक में सभी को पढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं[1]। पुत्र-पुत्री के शिक्षित होने पर ही भारत के सौभाग्य का उदय हो पायेगा। केशवराम भट्ट ने नारी-शिक्षा का समर्थन किया है। गुलशन और बुल्बुल दोनों ने शिक्षा प्राप्त की थी। अब्बास कहते हैं --" लोगों[2] का ख्याल कि औरतों का पढ़ाना-लिखाना अच्छा नहीं, न मालूम कब दूर होगा।" हनुमन्त सिंह रघुवंशी भी नारी का शिक्षित होना आवश्यक मानते हैं। जब तक वह शिक्षित नहीं होगी, तब तक अन्धविश्वासों की शिकार बनी रहेगी तथा साधु-सन्यासी के द्वारा ठगी जायगी। चन्द्रोदय सिंह कहते हैं--"---- दोष पुरुषों का भी है जो उनको मूर्ख रखते हैं और उनके सुधार की कुछ चिन्ता नहीं करते, उनकी दृष्टि में तो घर बाहर के काम-काज के लिए जैसे और दास दासी हैं, वैसी ही सन्तान उत्पन्न करने या उनके पालन-पोषण करने और गृहस्थी के साधारण काम-काज करने के लिए ये भी हैं[3]।" उस युग में वास्तव में पुरुष-समाज का एक बहुत बड़ा भाग नारी को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखता था। वे उसके उत्थान को सहन नहीं कर सकते थे। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने अपने नाटक 'भीष्म' में उनकी सबसे बड़ी आशंका[4] यही चित्रित की है कि " यदि स्त्रियां पढ़ जायंगी तो पुरुषों की बराबरी करेंगी।"

दुर्गाप्रसाद गुप्त के 'विश्वामित्र' नाटक में नारी की शिक्षा के अपरूप का भी चित्रण किया है। नारी ने शिक्षित होकर मध्ययुग में हुए अपने ऊपर पुरुष-अत्याचार का पूरा बदला लिया है। नाटक में इसी कारण भगवानदास का जीवन सुखी नहीं रह पाता --" ------ घर में आने पर अपनी स्त्री से दस-दस गालियां खाता हूं[5]। बुरा हो इस स्त्री एज्यूकेशन का, जिसने इन औरतों को स्वतन्त्र बना दिया ---।" स्वयं नारी ने महसूस किया कि अशिक्षा के कारण

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'भारतदुर्दशा', १८८०, भा०ना०,पृ०६३५, अंक ६।
२ केशवराम भट्ट -: 'सज्जाद सुम्बुल', प्र०सं०, १९०४ई०, पृ०७५, अंक ४-४।
३ हनुमन्त सिंह रघुवंशी : 'सती चरित्र नाटक', १९१०ई०, द्वि०सं०,पृ०३०,अंक ३।
४ विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'भीष्म',१९१८, ? पृ०५६, अंक २,दृश्य ३।
५ दुर्गाप्रसाद गुप्त : 'विश्वामित्र',१९२१ई०, ? , पृ०२३, अंक १,दृश्य ४।

ही हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा गिर गई है । बिना शिक्षित हुए हम अपने गौरव को नहीं प्राप्त कर पायेंगे । 'मधुरमिलन' नाटक की श्यामा अपनी परिस्थिति के कारण ही सोचती है, '----आजकल हम बहुत गिर गये हैं । अपना स्वरूप, अपना आदर्श सब हम भूल गये हैं, इसी से आज हमारी ऐसी दुर्दशा हो रही है । जब तक स्त्री-शिक्षा का प्रचार न होगा, हमारी उन्नति नहीं हो सकती ।'[1] डा० लक्ष्मणसिंह की उर्मिला शिक्षिता है । वह अपनी शिक्षा के कारण ही अपना सार्वजनिक अस्तित्व बना पाई है । जो शिक्षित नहीं हो पाई हैं, वह इसी नाटक में शशि (श्रीधर की पत्नी) की तरह केवल गृहकार्य तक ही सीमित रह जाती है ।[2] हरदारप्रसाद जालान के नाटक 'सुरवेणी' में सरस्वती शिक्षिता है, लेकिन इसपर भी नाटककार ने उसे मर्यादा के भीतर ही रखा है । शिक्षा के साथ वह नारी को अस्वाभाविक स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता ।[3]

उमाशंकर सरमंडल ने नारी-शिक्षा की आवश्यकता को महसूस किया है । क्योंकि जब तेजसिंह के समान लड़के पढ़ी-लिखी लड़की की मांग करेंगे, तब तो शिक्षा का नारी के मध्य प्रचार होना आवश्यक है । सोमदत्त कहता है, '--- जहां योग्य वर है, वहां स्त्री-शिक्षा का प्रचार न होने के कारण योग्य कन्याएं नहीं मिलतीं --- ।'[4]

चंचला प्रबुद्ध नारी-वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो कि नारी शिक्षा की मांग करती है । वह भारतीय आदर्शों के बीच में रहते हुए स्त्री का शिक्षित होना आवश्यक समझती है, जिससे वह अपने कर्तव्यों को समझे और उनको बुद्धिमानी से कर सके । उसके पति तेजसिंह मध्यकालीन मनोवृत्ति के उदाहरण हैं । लेकिन चंचला के द्वारा नाटककार अपना मत प्रकट करता है -- 'विद्या केवल पुरुषों के लिए ही नहीं, वरन् स्त्रियों के लिए है ।'[5] नाटककार नारी द्वारा विद्या के सदुपयोग की ही इच्छा

---

१ जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी : 'मधुरमिलन', १९२३ई०, प्र०सं०, पृ०३३, अंक १, दृश्य ६।

२ डा० लक्ष्मणसिंह : 'गुलामी का नशा', १९२४ ई०, ?।

३ हरदारप्रसाद जालान : 'सुरवेणी', १९२४, प्र०सं०, पृ०४७, अंक१, दृश्य ४।

४ उमाशंकर सरमंडल : 'अनोखा बलिदान', १९२८ई०, प्र०सं०, पृ०१७, अंक१, दृश्य २।

५ वही , पृ०७७, अंक२, पर्दा ८।

रखा है। उसने अपने नाटक में अंग्रेजी पढ़-लिखकर भारतीय-धर्म को भुलाने वाली नारियों की भी आलोचना की है[1]। व्यक्तिगत,सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति के लिए नारी-शिक्षा आवश्यक है। गोपाल दामोदर तामस्कर 'राजा माधव' में स्त्री की शिक्षा के लिए प्रयत्नशील हैं। उनका कहना है कि यदि उन्हें गुलामी में रखा जायगा तो उन्नति कैसे सम्भव होगी ? शिक्षिता कन्याएं पुरुष के समान ही राष्ट्रीय विकास में सहयोग दे सकती हैं[2]। रमा नारी पात्र स्त्रियों के लिए अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा अच्छी समझती है और राधा मातृभाषा में ही। नाटककार मध्यममार्ग पर चलता है। वह नारी वर्ग को अशिक्षित भी नहीं रखना चाहता है और अंग्रेज स्त्रियों की तरह उच्च शिक्षा भी नहीं देना चाहता जो कि उन्हें अपने आदर्श से ही गिरा दें[3]। लक्ष्मीनारायण मिश्र जी ने शिक्षा द्वारा नारी में आत्मनिर्भरता लाने की कोशिश की है। नारी शिक्षित , हो अपनी समस्याओं का हल स्वयं सोचे। 'सन्यासी' नाटक में मालती एक अध्ययनशीला नारी है। विश्वकान्त द्वारा किये गए प्रेम का तिरस्कार वह सहन नहीं कर पाती। उसका चिरन्तन नारीत्व उसे युद्ध करने की प्रेरणा देता है[4]। वह अपना निर्णय स्वयं अपने आप ले लेती है। शिक्षा ने नारी में आत्मनिर्भरता उत्पन्न की है, वह परिस्थितियों से बुद्धि सम्मत समझौता करने में सफल हुई है।

मध्यकालीन नारी की अशिक्षा ही उसके जीवन को दु:खदायी बना रही थी,क्योंकि साहित्य,संगीतकला आदि भी वेश्या की ओर पुरुष के आकर्षण का एक कारण बनते थे। पुरुष की इस प्रवृत्ति के कारण पारिवारिक जीवन बर्बाद हो रहा था। अत: उसके लिए यह आवश्यक था कि घर की बहू-बेटियों को भी साहित्य-संगीत आदि की शिक्षा दी जाय। नाटककार जमुनादास मेहरा ने अपने नाटक 'जवानी की भूल' में इसका उल्लेख किया है। साहित्य संगीत और ललित कलाओं की शिक्षा न होने के कारण ही घर की बहू-बेटियां दु:ख भोग रही हैं[5]। जब स्त्री को ज्ञान प्राप्त

1 उमाशंकर सर्मा : 'अनोखा बलिदान',1938ई0, प्र0सं0,पृ077, अंक1, परदा 4।

2 गोपाल दामोदर तामस्कर : 'राधामाधव या कर्म योग',1937ई0 , पृ016 अंक1, दृश्य3।

3 वही।

4 लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'सन्यासी',1929ई0, प्र0सं0,पृ0151, अंक4।

5 जमुनादास मेहरा : 'जवानी की भूल',1932ई0,प्र0सं0, पृ042, अंक 2।

होगा,तभी तो वह अपने जीवन में समयोचित व्यवहार कुशलतापूर्वक कर सकेगी ।

जब शिक्षा की उपयोगिता सामने आई,तब पुरुष वर्ग भी विवाह में, कन्या के लिए शिक्षा को प्राथमिकता देने लगे । शिक्षा अपने में एक आकर्षण का विषय बन गई । रामनरेश त्रिपाठी के "जयंत" नाटक में मनोहर अपनी पत्नी कल्याणी से कहते हैं, " तुमने ऊंचे दर्जे तक शिक्षा पाई है, इससे आकर्षित होकर मैंने तुम्हारे साथ विवाह किया था[1] ।" अशोक भी पढ़ी लिखी कन्या चाहता है[2] । रानी अपनी एकमात्र राजकुमारी पुष्पावती को ऐसी शिक्षा दिलाना चाहती है,जो आत्मा के पतन को रोक सकती है[3] । स्पष्ट है कि नाटककार नारी-शिक्षा के प्रति सजग है । मिश्र जी के "सिन्दूर की होली" नाटक में, शिक्षा नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता का साधन है । यदि नारी शिक्षिता है तो वह अपने जीवन का निर्वाह का प्रबन्ध तो वह अपने आप कर सकती है । चन्द्रकला अपने पिता द्वारा उसके जीवन निर्णय में विरोध करने पर कह देती है --" ---- मेरी शिक्षा इतनी हो चुकी है कि मैं अपना प्रबन्ध कर लूंगी --[4] ।" "राजयोग" की चम्पा भी शिक्षिता है । शिक्षिता नारी बड़े अभिमान के साथ अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के लिए पुरुष को चुनौती देती है । शत्रुसूदन द्वारा तर्क करने पर वह उससे कहती है--"सैकड़ों हजारों वर्षों के बाद नारी की नींद अब खुलना चाहती है । स्त्री-शिक्षा और साथ ही साथ उसके अधिकार-- पर्वत फोड़कर नदी बाहर निकली है ----[5] ।" स्त्री -शिक्षा ने नारी के अन्दर एक बहुत बड़े अंश में उसके अन्दर साहस भर दिया है । मिश्र जी ने नारी को शिक्षिता भी रखना चाहा और स्वतन्त्र भी, लेकिन फिर भी वे उसे परिस्थिति से बुद्धिसम्मत समझौता कराया कर आदर्श से एकदम गिरने नहीं देते हैं । इससे पृथक् नाटककार प्रेमशरण सहाय सिन्हा ने "नवयुग"

---

१ रामनरेश त्रिपाठी : "जयंत",प्र०सं०,पृ०२१, अंक१, दृश्य ७ ३ । १६३४ई०

२ वही , पृ०७८, अंक३,दृश्य२ ।

३ वही, पृ०३७,अंक २, दृश्य १ ।

४ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "सिन्दूर की होली", १६३४ई०, प्र०सं०,पृ०८६,अंक ३ ।

५ लक्ष्मीनारायण मिश्र :"राजयोग", १६३४ई०, प्र०सं०, पृ.४५ , अंक २ ।

नाटक में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का चित्रण किया है।[1] स्त्री जाति के लिए वह कितनी व्यर्थ की शिक्षा है, इसे राजकुमारी के जीवन में दिखाया है।[2]

सेठ गोविन्ददास ने अपने नाटक "प्रकाश" में नारी पात्रों को शिक्षित चित्रित किया है।[2] मनोरमा भी बी०ए० की परीक्षा दे रही है, लेकिन उसने अपनी शिक्षा का सदुपयोग किया है, वह अपने आदर्श से नहीं गिरी है, जब कि रुक्मिणी पाश्चात्य प्रणाली से प्रेरित है, लेकिन उसका जीवन कितना नष्ट हो जाता है। शिक्षा के द्वारा नारी को नैतिक मानसिक उन्नति की ओर बढ़ना चाहिए। नाटककार चाहता है कि मनोरमा की तरह से ही शिक्षा ग्रहण कर अपनी एवं देश की उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। भारतीय नारी के जीवन में पाश्चात्य प्रणाली ने अपना काफी प्रभाव जमाया। नारी थोड़ी-सी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करते ही अपने जीवन को एकदम बदल लेती है। फिर उसे अपने कर्तव्यों को एकदम भुला देती है। कुटमप्यारी देवी ने "बीरसतीसरदार बाई" में लेखिका ने नारी की शिक्षागत स्वरूपों को चित्रित किया है। करुणा बी०ए० पास है, लेकिन अपने पति को एक नौकर से भी निम्न स्थान देती है। वह अपने कर्तव्य को भूल, रूमानी दुनिया में खो सी जाती है। उमा, उसकी सहेली उसे कर्तव्य मार्ग का निर्देश करती है। वह अपने पति से, करुणा के पति के सामने ही कहती है--" ------ स्त्री का अपमान मत करो, परन्तु उस शिक्षा का अपमान करो जो करुणा ने पाई है -- ।"[3] वास्तव में शिक्षा ने जहां नारी को रूढ़ियों से मुक्त किया है, वहां उसे गिराया भी है। यही कारण है कि "आधीरात" की मायावती पाश्चात्य शिक्षा के कारण जब गिर कर सम्हलती है तो वह यही इच्छा करती है कि शिक्षिता होकर अपने बच्चे भी गंवार बनी रहे। " --- सुधार इस जीवन का नहीं, उस आने वाले जीवन का करना होगा --- मैं जिस समय मरने लगूं, --- गंवार हिन्दू व स्त्री रहूं।"[4]

---

१ प्रेमशरणसहाय सिन्हा : "नवयुग", १९३४ई०, प्र०सं०।

२ सेठगोविन्ददास : "प्रकाश", १९३५ई०, द्वि०सं०, पृ०५६, अंक१, दृश्य७।

३ कुटमप्यारी देवी : "बीरसती सरदार बाई", १९३६ई०, प्र०सं०, पृ०६६, १३वां दृश्य।

४ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "आधीरात", १९३६ई०, द्वि०सं०, पृ०३५, अंक १।

सरयूप्रसाद 'बिन्दु' भी नारी के गिरते चरित्र के लिए चिन्तित है । अंग्रेजी शिक्षा के कारण नारी, अपनी मर्यादाओं एवं सीमाओं को भूल कर, जो मार्ग अपनाती है, वह भारतीय वातावरण के साथ संगत नहीं बैठ सकता है । मैना अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर, उसी पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंग जाती है । अपने पति स्वार्थचन्द को छोड़कर प्रोपराइटर के पास बस जाती है, फिर तृप्ति न मिलने पर गुप्ता के यहां भाग जाती है । नारी का यह जीवन वास्तव में एक समस्या है, यदि शिक्षा का यही अर्थ है तो फिर त्याज्य ही है ।[1]

राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से गांव-गांव में शिक्षा का प्रचार होने लगा । रामचन्द्र सक्सैना ने लता में सेवा-भाव को दिखाया है, जिससे प्रेरित हो, वह अपने गांव में स्त्री-शिक्षा के लिए एक स्त्री-समाज की स्थापना करती है । जीवन के प्रति नाटककार नारी को सचेत करना चाहता है । नाटक में देहातियों के संवाद द्वारा बालिका-विद्यालय खोलने के कार्य को स्तुत्य कहा गया है । "बालिका-बालिकाओं के लिए पाठशालाएं, खोली गई हैं । स्त्री शिक्षा के लिए स्त्री-समाज है ।"[2] नारी यदि शिक्षा ग्रहण करेगी, तब वह समाज के अत्याचारों का विरोध कर सकती है । वह शिक्षा द्वारा आर्थिक निर्भरता प्राप्त करती है । 'कन्या-विक्रय' नाटक में लीलावती सेठ नगरदास की पुत्री है, लेकिन सेठ बेटी का विक्रय करना चाहता है । पिता के विचारों से अवगत हो, वह कहती है,--"यह मैं क्या सुन रही हूं ---मैं पढ़ी लिखी हुई कन्या हूं । मैं इसका घोर विरोध करूंगी ----- ।"[3] स्पष्ट है कि नारी की शिक्षा ने नारी के अन्दर साहस का संचार किया है । पुरुषोत्तम महादेव वैद्य ने भी नारी के लिए शिक्षा को आवश्यक माना है । अन्यथा अशिक्षित नारी समाज के लिए भारस्वरूप हो जाती है । सुमति अपनी मां से कहती है--[4] "देखती नहीं मां, सुन ! बे-पढ़ी औरतें आज हमारे घरों में भार रूप हो रही हैं --- ।" सुमति स्वयं एक

---

१ सरयूप्रसाद 'बिन्दु' : "भयंकर भूत", १९३७ई०, प्र०सं०, पृ०१०९, अंक २, दृश्य ४ ।

२ रामचन्द्र सक्सैना : 'लता', ? , प्र०सं०, पृ०५४, अंक ३, दृश्य३।

३ चन्द्रिकाप्रसाद सिंह: 'कन्या विक्रय', १९३७ई०, प्र०सं०, पृ०११, अंक १, दृश्य२ ।

४ पुरुषोत्तम महादेव वैद्य : 'आहुति', १९३८, प्र०सं०, पृ०७ , अंक १, प्रवेश २ ।

अध्ययनरत स्त्री है । उसने सत्याग्रह संग्राम के लिए भी प्रयत्न किया है[1]। देवीप्रसाद भी स्त्री-शिक्षा को अति आवश्यक मानते हैं । शिक्षा द्वारा नारी अपने परिवार को सुधार सकती है । स्वयं समय पड़ने पर आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो सकती है । दुर्गावती विधवा हो जाने के बाद अपना समय अध्ययन में अधिक देती है, जिसे उसकी रूढ़िवादी माँ पसन्द नहीं करती । उसकी अध्यापिका गार्गी माँ चम्पा को शिक्षा के लाभ बताती है । ---- यदि स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी और अच्छी तरह से शिक्षित होंगी तो उनकी सन्तान भी जरूर शिक्षित और विद्वान् होगी । --- शिक्षा के प्रताप से चार पैसे कमाकर अपना और अपनी सन्तान का स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाह भी कर सकती है[2]। इस प्रकार नाटककार स्त्री-शिक्षा से नैतिक एवं आर्थिक लाभ बताकर, उसका पूरा-पूरा समर्थन करता है ।

उपेन्द्रनाथ "अश्क" ने अपने नाटक "स्वर्ग की झलक" में आधुनिक नारी की शिक्षा पर बहुत ही तीक्ष्ण व्यंग्य किया है । वस्तुत: व्यंग्य आधुनिकता या शिक्षा की ओर नहीं, वरन् नारी द्वारा उसके उपयोग पर है । जहाँ शिक्षा प्राप्त कर नारी को और अधिक समझदार एवं जीवन में क्रियाशील होना चाहिए, वहाँ वह अपने नारीत्व को छोड़ बैठी है । उसकी चमक-दमक ऊपरी है, निस्सार है । रघु आधुनिक वातावरण का एक नवयुवक, जो शिक्षित नारी की ओर आकर्षित है । अपनी प्रथम पत्नी की मृत्यु पर वह महसूस करता है कि उसका बिना बी०ए०,एम०ए० पास लड़की के गुजारा नहीं हो सकता है । पर उसी दिन उसे अपने मित्रों की पत्नियाँ --[3] मिसेज़ अशोक, और मिसेज़ राजेन्द्र का जो रूप और व्यवहार देखने को मिलता है, तो उसका आकर्षण नफरत में बदल जाता है । यह स्त्रियाँ केवल नाचना, गाना जानती हैं । इनमें मातृत्व भी तिरोहित हो जाता है । ऐसा जीवन, जीवन ही नहीं रह जाता । वह नाटक के अन्त में कहता है-- "---- इस वातावरण में पली, इतनी पढ़ी-लिखी लड़की से शादी करने के लिए पुराने संस्कारों

----

१ पुरुषोत्तम महादेव वैद्य --"आहुति", १९३८ई०, प्र०सं०, पृ०५१, अंक २, प्रवेश २

२ देवीप्रसाद :"आदर्श महिला", १९३८ई०, प्र०सं०, पृ०३९, अंक १, दृश्य ४ ।

३ उपेन्द्रनाथ "अश्क" : "स्वर्ग की झलक", १९४९ई०, प्र०सं०, पृ०५१, अंक ३ ।

को सर्वथा त्याग देना पड़ता है और दुर्भाग्य से मैं अभी ऐसा नहीं कर सका । जिस स्वर्ग की ये झलक देखती हैं, वह इससे भिन्न है ।"[1] नाटककार की दृष्टि में आधुनिक शिक्षा का अर्थ जीवन में और अधिक सादगी से रहना है । जीवन को और अधिक गम्भीर दृष्टि से देखना ही चाहिए । रघु की भाभी, प्राचीन और नवीन का सम्मिश्रण है, जो अध्ययन द्वारा अपने जीवन में हर परिस्थिति के लिए तैयार रहती है । वह अपने पत्नीत्व को बड़ी सुन्दरता के साथ निभाती है । यही कारण है कि रघु रक्षा से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाता है । आज की शिक्षा प्राप्त नारी जो जिस स्वर्ग की आशा रखती है, वह उसे दे नहीं सकता है ।[2] उदयशंकर भट्ट की कमला एक पढ़ी-लिखी स्त्री है । शिक्षा के कारण ही, जीवन में उसका दृष्टिकोण बहुत उदार है । वह अपनी मानसिक स्थितियों को परिष्कृत ही रखने का प्रयत्न करती रहती है । वह प्रतिमा के समान अपनी शिक्षा का दुरुपयोग नहीं करती । प्रतिमा जब उससे यह कहती है कि "--- इतनी पढ़ी लिखी हो, यदि मैं तुम्हारी जगह होती तो लोग मेरे तलवे चाटते ---"[3] । तो कमला स्वयम् प्रतिमा से विरक्त हो जाती है, उसकी मनोवृत्तियों से उसे घृणा हो जाती है ।

सेठ गोविन्ददास के नाटक "त्याग और ग्रहण" में चित्रित नारी जीवन से पता चलता है कि नारी ने अपने जीवन को खोखले सिद्धान्तों में रखकर कितना गिरा लिया है । विमला एक पढ़ी-लिखी स्त्री है । सोशलिज्म को मानकर जिस राह पर अपने-अपने जीवन को चलाया, उसने चारों और समाज में अनैतिकता का वातावरण उपस्थित कर दिया । विमला प्रेम का नग्न प्रदर्शन पढ़-लिख कर करती है, यह उसकी बुद्धि की विडम्बना है । कात्यायनी का रोष, नाटककार का रोष है-- "आह ! उस विमला ने सारी नारी जाति[4] की नाक कटवाई है और --- पढ़ा-लिखा महिला-समाज रसातल को पहुंच गया है ।" नाटककार शिक्षा द्वारा नारी का उत्थान

---

१ उपेन्द्रनाथ "अश्क" : "स्वर्ग की झलक", १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०९९, अंक ४ ।

२ उदयशंकर भट्ट : "कमला", १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०१६, अंक१, सीन १ ।

३ वही, पृ०१७, अंक१, सीन १ ।

४ सेठ गोविन्ददास : "त्याग या ग्रहण", १९५३ई०, ? पृ०६३-६४, अंक३ ।

चाहता है, पतन नहीं । सेठ गोविन्ददास तो जहांनारा की तरह नारी का शिक्षा द्वारा चरित्र-निर्माण चाहते हैं । वह एम०ए०, एल०एल०बी० पास होने पर भी खाना बनाना अच्छी तरह जानती है । वस्तुतः[1] शिक्षा के साथ-साथ नारी को अपने अन्य कर्तव्यों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए ।

रामानन्दसहाय ब्रजविषा ने अपने नाटक में नारी की गिरी हुई सामाजिक स्थिति के कारण शिक्षा को अनिवार्य बताया है । शिक्षित स्त्रियां धनोपार्जन द्वारा स्वतन्त्ररूप में खड़ी हो सकती हैं अन्यथा पति अथवा सास-श्वसुर से प्रताड़ित होकर बहुएं जलती रहेंगी और नारकीय जीवन व्यतीत करती रहेंगी । दो व्यक्तियों के वार्तालाप से पता चलता है कि शिक्षा अनिवार्य है --"भारत में स्त्रियों के लिए एक ऐसा शिक्षा भवन बनाया जाय, जिसमें विविध कलाओं की शिक्षा बनानी दी जायं । जब स्त्रियां अपने पैर पर स्वयं खड़ी होंगी --- तभी वे अपने जीवन में स्वतन्त्र हो सुखी हो सकेंगी[2] ।"

वृन्दावनलाल वर्मा भी नारी को, शिक्षित कर आर्थिक क्षेत्र में पति के लिए सहायक बनाना चाहते हैं । 'पीले हाथ' नाटक की निर्मला एक स्नातक है । विवाह बाद पति से स्वयं नौकरी करने के लिए आज्ञा लेती है । वह कहती है-- "--- स्त्रियों की शिक्षा में यदि पहले, शिल्प, उद्योग और धन्धे सिखलाए जायं तथा डाक्टरी इत्यादि पढ़ाई जाय तो समस्या सरल हो सकती है[3] ।" इससे स्पष्ट है कि नाटककार नारी को हर विषय में शिक्षित करना चाहता है, जिससे परिस्थिति के अनुसार वह कोई भी काम कर सके ।

वस्तुतः आलोच्यकाल के सभी नाटककारों ने नारी के सर्वांगीण विकास की इच्छा की है । वे उसे रूढ़ियों के अंधेरे से बाहर निकाल कर रोशनी में खड़ा करना चाहते हैं । शिक्षा के माध्यम से उसके अन्दर जागरण फैलाना चाहते हैं । शिक्षा के द्वारा नारी आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकती है, लेकिन साथ ही नाटककार शिक्षा का उचित रूप चाहते हैं, वैसी ही शिक्षा प्राप्त हो, जिससे कि वे अपने कर्तव्य से भ्रष्ट न हो सकें ।

-0-

---

1. सेठ गोविन्ददास : 'पाकिस्तान', १९४६ई०, प्र०सं०, उपक्रम, पृ०१०।
2. रामानन्दसहाय ब्रजविषा : 'आर्याभिनय', १९५६ई०, प्र०सं०अंक३, पृ०४२-४३।
3. वृन्दावनलाल वर्मा : 'पीले हाथ', १९५७ई०, प्र०सं०, पृ०३२-३३, दृश्य ७।

अध्याय -- ५ :

नारी और विवाह

अध्याय -- ५.

नारी और विवाह

विवाह जीवन की एक अत्यन्त आवश्यकता है । चाहे स्त्री हो, या पुरुष-- कोई भी बिना विवाह के पूर्ण नहीं हो पाता । सृष्टि की प्रक्रिया बिना इसके गतिशील रह ही नहीं सकती । जीवन के आदिम युग में हो सकता है कि विवाह इस रूप में न हो, लेकिन फिर भी बिना किसी स्वरूप के वह विद्यमान अवश्य था । शनैः शनैः सभ्यता के विकास के साथ-साथ विवाह-व्यवस्था का भी विकास होता रहा । वैदिक युग में विवाह अपने पूरे महत्व के साथ समाज में प्रतिष्ठित था । विवाह एक सामाजिक आवश्यकता है । बर्ट्रेण्ड रसेल ने इसे विधिगत संस्था कहा है[१] । यह सत्य है, लेकिन फिर भी वैदिक युग में विवाह का धार्मिक पक्ष अधिक मान्य था । डा० अल्टेकर लिखते हैं कि उस समय विवाह एक पवित्र धार्मिक कृत्य था, उसमें 'कॉण्ट्रैक्ट' का कोई स्थान न था[२]। यद्यपि कुछ कथाएं ऐसी पाई जाती हैं, लेकिन वे विकसित नहीं हो पाई थीं । पति-पत्नी के युगल सम्बन्धों में दार्शनिकता अधिक थी । भावनाओं को आध्यात्मिक ऊंचाई तक पहुंचाने का एक साधन है । विवाह में इन्द्रिय-सन्तोष, सृष्टि की गतिशील प्रक्रिया के साथ-साथ साहचर्य की भावना भी गहराई में निहित रहती है । प्राणिशास्त्रीय पहलू से भिन्न एक साहचर्य की आवश्यकता होती है, जिसे विवाह पूर्ण करता है । मनुष्य में सचेतनता की, विचारों के

---

१ बर्ट्रेण्ड रसेल : 'विवाह और नैतिकता', पृ०८७, अनु०धर्मपाल, संस्करण ३, १९५२

२ . Dr. A.S.Altekar - The position of women in Hindu Civilisation - Page 48.

" The conception of marriage as a secular contract did not arise in ancient India. Marriage was regarded as a sacred religious union brought about by divine dispensation... complete unity of interest left no room for a contract.'

P. K. Anant Narayan: The Genius of Hindu Culture - East-West-- Page 19. Nov.1931

आदान-प्रदान की ,बौद्धिक आनन्दों में हिस्सा बंटाने की और सुकुमारता की, संक्षेप[1] में अनुभव की पूर्णता की लालसा होती है । हम बिल्कुल अकेले नहीं रह सकते । "विवाह सम्बन्ध में व्यक्ति की सम्पूर्णता के विकास के लिए तथा उस वास्तविकता को पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं,जिसके बिना आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

विवाह की आवश्यकता एवं महत्व

विवाह इन सब विचारों से अलग नर की अपेक्षा नारी के लिए अधिक ज़रूरी है,क्योंकि नारी को अपने जीवन में सामाजिक सहृदयता कम मिल पाती है । उसके जीवन में उलझनों की अधिक आशंका रहती है । मध्ययुग में विवाह नारी के लिए खोखली रूढ़ियों[2] का बन्धन भर रह गया था । देश के पुनर्जागरण के ने हमारी प्राचीनता को प्रकाश में लाकर नारी के जीवन को ज्यों-का-त्यों रूप देने का प्रयत्न किया । पुनर्जागरण काल के प्रयत्नों को नाटककारों ने भी विचारा है ।

१६ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के नाटककारों ने विवाह की परिभाषा कम दी है । उन्होंने पूर्व दृष्टि के अनुसार विवाह को धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति माना है । लेकिन कालान्तर में नाटककारों ने विवाह की सामाजिकता पर अधिक बल दिया है । मध्ययुग में प्रचलित वैवाहिक विषमताओं पर नाटककारों ने व्यंग्य भी किया है । विवाह तो जीवन को सरल करता है, न कि उसकी जीवन की उलझनें बढ़ती हैं । कन्याएं जब जीवन में बिना किसी औचित्य के स्थिर की जातीं, तो जीवन अत्यन्त दुरूह हो जाता था । सेठ गोविन्ददास की कालिन्दी के लिए तो "विवाह माता-पिता या कुटुम्बीजनों[3] की इच्छा है, वह जिसे कन्याओं को बांह पकड़ा दें, वही उनका वर है ।" वह नहीं समझ पाती कि क्या अग्नि

१डा० राधाकृष्णन् :"धर्म और समाज",अनु०विराज,पृ०१७८,सन् १६६१ई०,द्वि०सं०

२. Sex Life in Anc. India- CANDA CAKRAVARTI, 1st edition, 1963.

३ सेठ गोविन्ददास :"विश्वप्रेम", प्र०सं०,१६१७ई०,पृ०५,अंक१,दृश्य १

परिक्रमा करने या सामाजिकता की मुहर लगने से ही विवाह पूर्ण हो जाता है । जब दो हृदयों का सम्मिलन ही न हो तो वह विवाह कैसा ? विवाह में तो हृदय की वास्तविक मोहर होनी चाहिए, न कि समाज की मोहर ? क्योंकि विवाह केवल विषय वासना की पूर्ति के लिए ही नहीं है, कर्तव्य के लिए उसकी सृष्टि हुई । उसमें पति और पत्नी खरीदने और बेचने की चीज़ नहीं है । `विवाह एक स्वर्गीय पदार्थ है, स्वार्थ त्याग का सच्चा मन्त्र निष्काम एवं साधना का प्रतिबिम्ब है ।`[1]

मध्ययुगीन समाज में विवाह में नारी की अकेली सर्वस्व बलि ली जाती थी । विवाह के लिए नारी अपना सब कुछ `उत्सर्ग` के नाम पर बलि करके रिक्त हो जाती थी । गोविन्दवल्लभ पंत की वैशालिनी इसी ओर व्यंग्य करती है । `सर्वस्व बलि देने का नाम विवाह है --- ।`[2] वैशालिनी के इस कथन में नारी की एकांगी बलि के प्रति क्षुब्धता, एवं वेदना निकली है । ठाकुर लक्ष्मण सिंह की कमला विवाह को एक गम्भीर रूप देती है । वह संवत दिमाग की चीज है । युवराज संभा जी से कहती है--`प्रेम बिलवाह हो सकता, पर ब्याह नहीं`[3] ।`नाटककार बनीराम प्रेम ने भी विवाह को एक पवित्र प्रेम बन्धन माना है । मालती के पिता दयाशंकर कहते हैं कि विवाह एक पवित्र प्रेम-बन्धन है,जिसमें पवित्रता और प्रेम दोनों चाहिए। हिन्दु-विवाहों[4] में प्रेम नहीं, पवित्रता है । पश्चिमी विवाहों में प्रेम है,परन्तु पवित्रता नहीं ।

वास्तव में नाटककारों ने विवाह में नारी के व्यक्तित्व को भी स्वतन्त्र स्थान देना चाहा है । `ध्रुवस्वामिनी` नाटक तो अपने पूरे कलेवर में नारी की इसी समस्या को लिए हुए है । ध्रुवस्वामिनी के रूप में नारी अपनी स्वतंत्रता के लिए व्याकुल है । ध्रुवस्वामिनी का विवाह उसके लिए नरक सम है । `प्रसाद` जी ने

---

१ चन्द्रराज भण्डारी : `सिद्धार्थ कुमार`, १९२२ई०,पृ०४९,अंक १,दृश्य१, प्र०सं०

२ गोविन्दवल्लभ पंत : `वरमाला`, १९२५ई०,पृ०५२,अंक १,दृश्य१

३ डा० लक्ष्मण सिंह : `उत्सर्ग `, पृ०३६,अंक१, दृश्य ८ , पु.माल. १.

४ बनीराम प्रेम : `प्राणेश्वरी`,१९३१ई०,पृ०१२,अंक१,दृश्य२, प्र०सं०

विवाह के धार्मिक पक्ष को अवश्य महत्व दिया है, लेकिन उस रूप में भी वे विवाह एवं जीवन में स्त्री तथा पुरुष दोनों का समानाधिकार मानते हैं। एक-दूसरे के प्रति विश्वास, त्याग, सौहार्द्र जब तक उत्पन्न न हो तब तक वह विवाह नहीं है। पुरोहित सब के सामने विधान करता है कि "स्त्री पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार, रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।"[1]

पाश्चात्य प्रभाव ने नारी के व्यक्तित्व में अपने समाज और अपने धर्म के प्रति और अधिक विरोध भरा। आधुनिक शिक्षित नारी ने विवाह को बन्धन नहीं, वरन् समझौता समझा है। श्री सत्यजीवन वर्मा ने 'मिस ३५ का पति निर्वाचन' में मिस ३५ के विभ्रम को, साहित्यिक के माध्यम से मिटाना चाहा है। मिस ३५ स्पष्ट कहती हैं कि "हम वैवाहिक बन्धन को बन्धन नहीं मानती--उसे हम समझौता समझती हैं। काण्ट्रैक्ट कहती हैं ---।"[2] यही कारण है कि वह कवि, साहित्यिक, आर्टिस्ट, कुंवर आदि सभी को 'रिजैक्ट' कर देती हैं, और विदेश से लौटे एक आई०सी०एस० मिस्टर से 'काण्ट्रैक्ट' कर लेती हैं। आधुनिक युग का गम्भीर चिन्तक, साहित्यिक जो कि प्राचीन परम्परा और नवयुग की चकाचौंध से भी परिचित है। विवाह में उस पवित्रता को नष्ट नहीं करना चाहता, जो कि मिस ३५ को एक विडम्बना लगती है। वह स्त्री की महत्ता व अधिकार को समझता है,[3] लेकिन उसकी स्वतन्त्रता बनाम उच्छृंखलता को वह कदापि मान्यता नहीं दे सकता। राजा चक्रधर सिंह तो विवाह को एक निश्चित वह सत्य मानते हैं। महाराजा सूर्यसिंह का कुमार चन्द्रसिंह नारी और विवाह से दूर भागता है, तो महाराजा उससे स्पष्ट कहते हैं कि नारी के आकर्षण का तिरस्कार करना आस्तिकता के नियमों का ही तिरस्कार करना है, विवाह तो इसी आकर्षण में फंसा हुआ है और वह एक निश्चित सत्य है।[4] स्पष्ट है कि नाटककार ने जीवन में विवाह को आवश्यक माना है। नाटककार सेठ गोविन्ददास ने 'कर्तव्य' में वैवाहिक जीवन को समाज तथा राष्ट्र संबंधी कर्तव्य पालन में एक

---

१ जयशंकर 'प्रसाद' : 'ध्रुवस्वामिनी', १९३३ई०, पृ०६७, अंक ३, प्र०सं०

२ सत्यजीवन वर्मा : "मिस ३५ का पति निर्वाचन", १९३५, पृ०२८, प्र०सं०

३ वही, पृ०३९

४ राजा चक्रधरसिंह : "प्रेम के तीर", १९३५, प्र०सं०, पृ०१०, अंक १, दृश्य२

बन्धन के रूप में चित्रित किया है । कृष्ण कहते हैं--' जब मनुष्य-राज्य, विवाह आदि बन्धनों से जकड़ जाता है, तब उसे कर्तव्य पालन में[1] उतनी स्वतन्त्रता नहीं रहती --- इसीलिए मैं विवाह भी नहीं करना चाहता ।'

नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने मिस ३५ जैसी आधुनिकाओं की स्थिति का बड़ा ही अच्छा चित्रण अपने नाटक 'आधीरात' में किया है । मायावती ने अपने सम्पूर्ण जीवन को भारतीय जीवनयापन प्रणाली पर न छोड़कर पाश्चात्य जीवनयापन प्रणाली पर छोड़ दिया । पाश्चात्य लीक पर चलती हुई वह नारी जीवन में कभी भी तृप्ति नहीं प्राप्त कर पाती । उसके फलस्वरूप पाश्चात्य वैवाहिक जीवन में एक प्रेमी की मौत हो जाती है । दूसरे को कालापानी । वह अपने जीवन से एकदम विरक्त हो उठती है और उसे भारतीय विवाह का आदर्श ही अच्छा लगने लगता है । वह कहती है,' इस देश में विवाह का जो आदर्श है-- स्त्री-पुरुष का दो जीवन और दो आत्मा का मिलकर एक[2] हो जाना --- एक सम्मिलित व्यक्तित्व का उदय उसका अवसर मुझे नहीं मिला । नाटककार विवाह में अपने भारतीय रूप, आदर्श को ही मान्यता देते हैं । इसी प्रकार पृथ्वीनाथ शर्मा के नाटक[3] 'दुविधा' की सुधा भी दो आत्माओं के मिलन को ही विवाह मानती है । रामदीन पाण्डेय नाटक 'ज्योत्स्ना' में विवाह को सृष्टि के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं[4] । नाटककार विष्णु भी विवाह को नर-नारी का सहयोग मानते हैं । विवाह का उद्देश्य एक-दूसरे को सहयोग प्रदान करना है न कि विरोध । नन्द अपनी पत्नी शीला के साथ नहीं रह पाता । वह अपने पिता प्रेमदत्त से कह देता है -- ' ----- विवाह सहयोग के लिए होता है, विरोध के लिए नहीं । मात्र वासना[5] की तृप्ति के लिए भी विवाह की जरूरत नहीं है । उसके लिए समाज में वेश्याएं हैं । नाटककार वृन्दावनलाल वर्मा भी विवाह को

---

१ सेठगोविन्ददास : 'कर्तव्य', १९३५ई०, प्र०सं०, पृ०१३५, अंक ३, दृश्य१

२ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'आधीरात', १९३६, द्वि०सं०, पृ०२९, अंक१

३ पृथ्वीनाथ शर्मा : 'दुविधा' पृ/३७।
सुधा -- 'विवाह दो हृदयों का लेनदेन है । अनन्त वर्षों के लिए दो आत्माओं का सम्मिलन ।', पृ०१८, अंक १, दृश्य ४

४ रामदीन पाण्डेय : 'ज्योत्स्ना', १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०७१, अंक३, दृश्य६

५ विष्णु : 'हत्या के बाद', १९३९ई०, 'हंस', मई, प्रथम, पृ०३४, अंक १

नर-नारी का सहयोग मानते हैं । कामिनी जब विवाह के लिए इन्कार करती है,तो माधव उसे समझाता है कि "विवाह तो नर-नारी का गौरव है । प्रकृति और मनुष्य का समन्वय ।"[1] इसमें भी स्पष्ट है कि नाटककार दो आत्माओं के सम्मिलन को ही विवाह मानता है । विवाह होकर भी स्त्री एवं पुरुष का आत्मिक सम्मिलन न हो सका, तो वह वैवाहिक पूर्णता कदापि न होगी । नाटककार प्रेमचन्द ने भी विवाह की स्थूल धार्मिक दृष्टि को महत्व नहीं दिया है । उनकी नारी विवाह में वैयक्तिक एकता आवश्यक मानती है । जैनी के लिए "शादी-विवाह, बच्चों का खेल है[2], यह केवल स्त्री-पुरुष के मन का समझौता है, इसमें धर्म को घसीटना भूलता है ।" वह यह मानती है कि जिस बन्धन का आधार समाज या धर्म का भय है, वह कभी सुखकर नहीं हो सकता । यद्यपि जैनी भारत से भिन्न वातावरण की नारी है, लेकिन फिर भी प्रेमचन्द उसका खण्डन नहीं करते । वे विवाह में धर्म का बन्धन नहीं रखना चाहते,चाहे वह किसी भी समाज या जाति में हो । आचार्य चतुरसेन शास्त्री की राजकुमारी चन्द्रकुमारी विवाह हो जाने पर भी अपने को विवाहिता नहीं समझ पाती । क्योंकि कुंवर अजीतसिंह[3] अपने मन से रजिया को नहीं उतारपाता और राजकुमारी से दूर चला जाता है ।

नाटककार हरिकृष्ण "प्रेमी" भी स्त्री[4]-पुरुष के बीच में होने वाले पवित्र,स्थायी प्रेम को विवाह की आत्मा मानते हैं ।

इस प्रकार आलोच्यकाल के प्राय: अनेक नाटककारों ने विवाह की वास्तविकता तथा सार्थकता तभी पूर्ण मानी है, जब कि दो आत्माओं का सम्मिलन हो । स्त्री और पुरुष के विचार एवं व्यवहार में ऐक्य स्थापित हो जाय ।

विवाह में स्वीकृति

विवाह के स्वरूप को चित्रित करने के साथ ही साथ नाटककारों ने विवाह में किसकी स्वीकृति आवश्यक है - इसे भी सुलझाने की चेष्टा की है ।

---

१ वृन्दावनलाल वर्मा : "फूलों की बोली", १९४७ई०,पृ०१७,अंक १, दृश्य १,प्र०सं०
२ प्रेमचन्द : "प्रेम की वेदी", १९४७ई०, च०सं०,पृ०११,दृश्य २
३ आचार्य चतुरसेन शास्त्री : "अजीतसिंह", १९४९,पृ०सं०,पृ०९१,अंक ३,दृश्य४ ।
४ हरिकृष्ण "प्रेमी" : "विषपान", १९५१ई०,द्वि च०सं०
   श्यामदास--"अग्नि के चारों ओर चक्कर लगाने और मन्त्र पढ़ लेने से ही (अगले पृ०)

कुछ नाटककारों ने माता-पिता की स्वीकृति आवश्यक बताई है, किसी ने केवल पति-पत्नी की, और कहीं दोनों अर्थात् अभिभावकों के साथ-साथ वर-वधू की सम्मति भी आवश्यक मानी गई है ।

इस विषय में हमारी परम्परा माता-पिता को ही महत्व देती आई है । पर आधुनिक युग में स्वतन्त्रता की भावना ने "स्व" को महत्व देना शुरू कर दिया, जिससे नर-नारी की दृष्टि विवाह में अपनी इच्छा तक ही निहित रहने लगी । पर ~~ह~~ हमारे आलोच्यकाल की अधिकांश नारी-चरित्र विवाह तभी करना चाहती हैं, जब कि उनके माता-पिता की स्वीकृति मिल जाय । उन्होंने अपने आदर्श को नहीं छोड़ा है । माता-पिता की विवाह विषयक पसन्द हमारे यहां तो आदर्श मानी ही गई है, लेकिन इसका चित्रण पाश्चात्य नाटक में भी मिलता है । नाटककार बर्नार्ड शा के "मैन एण्ड सुपरमैन"[१] में ANN माता-पिता की पसन्द को पूरा आदर प्रदान करती है । वह यह समझती है कि माता-पिता की इच्छा उसके लिए अधिक सहायक होगी । उनकी इच्छा हमारा अनहित नहीं कर सकती । हमारे हिन्दी नाटककारों ने भी इसी महत्ता को जाना है । "पर्दे का शिकार" नाटक में यदुनाथ की मां गोमती विवाह में केवल माता-पिता की सम्मति ही उचित मानती है । उस विषय में विवाह योग्य लड़के-लड़की का बोलना उसे पसन्द नहीं[२] ।

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी)

विवाह नहीं हो जाता । हृदय का मिलन ही सच्चा विवाह है ।"

— "विषपान", पृ०३७, अंक२, दृश्य १

---

१. ANN : ' My father loved me. My mother loves me. Surely their wishes are a better guide than my own selfishness'.
- Bernard Shaw - Man and Superman - Page 398, Act IV.

२ गोमती —"आजकल चाहे ~~ह~~ जो कुछ भी होता हो, परन्तु मुझे तो यह बात पसन्द नहीं है कि लड़का अपनी बहू को स्वयं देखकर विवाह करे । कौन-सा माता-पिता अपने पुत्र को दुखी रखना नहीं चाहेगा ।"

नत्थीमल उपाध्याय ; "पर्दे का शिकार", पृ०१४, अंक १, दृश्य ४, प्र०सं०

चन्द्रराज भण्डारी की प्रणयिनी अशोक को चाहते हुए भी उसकी प्रार्थना को बिना माता-पिता की अनुमति के स्वीकार नहीं कर पाती[1]। सरयूप्रसाद बिन्दु के नाटक 'भयंकर भूत' में शान्तिसेन की कन्या रती भी अपनी इच्छा से विवाह नहीं करना चाहती। बिना माता-पिता की इच्छा से विवाह करने को वह अत्यन्त लज्जास्पद मानती है[2]। वृन्दावनलाल वर्मा की 'मन्दाकिनी' जैसी आधुनिका विवाह में माता-पिता की स्वीकृति लेना आवश्यक समझती है। वह फूलचन्द जैसे नवयुवकों के साथ[3] स्वतन्त्र रूप से विवाह करने के पक्ष में नहीं है। वह विवाह नहीं अभिशाप होगा। इसके अतिरिक्त[4] मिलारिन पुनीता जो अशिक्षित है, विवाह में मां की स्वीकृति आवश्यक मानती है। नाटककार ने आधुनिका एवं अशिक्षिता दोनों नारियों के आदर्श में साम्य दिखाया है। इसी प्रकार इनके एक अन्य नाटक 'पीले हाथ' में नारी ने अपनी सांस्कृतिक परम्परा को नहीं छोड़ा है। निर्मला वीरेन्द्र से प्रेम करके भी विवाह बिना अनुमति के करने के लिए तैयार नहीं है। जब तक कि दोनों पक्ष के माता-पिता अनुमति न दे दें, तब तक वह अपनी संस्कृति को तोड़ नहीं सकती।" हम अपने हृदय के टुकड़े कर सकते हैं, परन्तु अपनी संस्कृति को नहीं तोड़-फोड़ सकते[5]।"

---

१ प्रणयिनी -- "---- उसकी एक तुच्छ याचना को मैंने उल्टे पैरों वापस कर दी ---- बिना माता-पिता की आज्ञा के मैं एक विधर्मी को कैसे अपना सकती हूं ---- ।" प

--'सम्राट अशोक', पृ०१३२, अंक ३, दृश्य५, सन् १९२३ई०, प्र०सं०

२ रती -- "छि: छि: !! क्या कुलीन कन्याओं को अपनी इच्छा से वर ढूढ़ लेना, चाहिए? यह तो बड़े शर्म की बात है।"

--'भयंकर भूत', पृ०२२, अंक१, दृश्य२, १९३७ई०, प्र०सं०

३ मन्दाकिनी -- "मैं ऐसी फूहड़ नहीं हूं। ---- माता-पिता के आशीर्वाद बिना विवाह अधिक अंशों में अभिशाप ही न होकर रहेगा।"

--'बांस की फांस', १९५७ई०, पृ०३७, अंक १, दृश्य३, प्र०सं०

४ पुनीता -- "मैं क्या उत्तर दे सकती हूं ? मेरी मां ही इस बात का निर्णय कर सकती हैं।"

-- वही, पृ०६१, अंक २, दृश्य ३

५ वृन्दावनलाल वर्मा --'पीले हाथ', १९५७ई०, पृ०३, दृश्य १, प्र०सं०

नाटककार बलदेवप्रसाद खरे ने विवाह में लड़के-लड़की की पसन्द को उचित माना है । मौर्यदेव नन्ददेव अपनी पुत्री की इच्छा के विरुद्ध एक विदेशी से विवाह करना चाहता है, लेकिन उसकी पत्नी उससे कहती है कि "पत्नी और पति का चुनाव उन्हीं दोनों की इच्छा पर निर्भर होना चाहिए । ऐसा न करने से बड़े-बड़े अनिष्ट होने का डर रहता है ---- ।"[1]

इसके विपरीत सुदर्शन के नाटक "अंजना" में पवन माता-पिता की सम्मति के साथ-साथ वर-वधू की सम्मति भी उचित समझता है । वह प्रहसित से कहता है--" ----- यह विषय माता-पिता पर ही छोड़ देना चाहिए, वे जैसा चाहें करें । परन्तु यह आवश्यक है कि अन्तिम "निश्चय करने से प्रथम वर-वधू से भी सलाह ले लें कि हमारा यह विचार है कि , तुम्हें कोई एतराज तो नहीं ।"[2] धनीराम प्रेम भी विवाह में सब की सम्मति आवश्यक समझते हैं । दयाशंकर कहते हैं --" मैं इस बात में विश्वास नहीं करता कि बच्चों के विवाह का सारा भार माता-पिता पर ही है तथा बच्चों को अपने भाग्य-निर्णय का कोई अधिकार नहीं है"[3]

संक्षेप में नाटककारों ने विवाह की महत्ता स्थापित करते हुए उसकी जिम्मेदारी माता-पिता पर ही रखी है । स्वयं नारी इस विषय में सतर्क है । हां, जहां माता-पिता ही अपने कर्तव्य से च्युत हों, वहां सन्तान को अपने भाग्य-निर्णय का अधिकार होना चाहिए । मध्ययुग में जब कि बाल-विवाह,कन्या -विक्रय होते थे । वर-वधु के भविष्य की सफलता को ध्यान में न रखकर माता-पिता "स्व" दृष्टि को ही प्रमुखता देते थे, तभी समाज ने यह महसूस किया कि विवाह में वर-वधु की सम्मति आवश्यक है ।

विवाह से असहमति

आलोच्यकाल के नाटकों में नारी ने कहीं-कहीं अविवाहित रहना ही श्रेयस्कर समझा है । जहां कहीं विवाह उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास में

---

१ बलदेवप्रसाद खरे : "परोपकार" ,पृ०७४, सन् १९२२ई०, अंक २,दृश्य५, प्र०सं०

२ सुदर्शन : "अंजना" ,पृ०९, सन् १९३०ई०, अंक १,दृश्य २, द्वि०सं०

३ धनीराम प्रेम : "प्राणेश्वरी" , १९३१ई०, पृ०१२, अंक १, दृश्य२, प्र०सं०

बाधक लगा वहीं उन्होंने उसका तिरस्कार कर दिया है। वास्तव में नारी का विवाह से इन्कार करना जीवन की पूर्णता से इन्कार करना है। लेकिन २०वीं शताब्दी के मध्य में नारी पाश्चात्य प्रभाव से इतनी अधिक आक्रान्त हो गई कि हर परिस्थिति में सामंजस्य स्थापित करना, उसके लिए कठिन हो गया। अत: हमारे विचारकों और सुधारकों ने भी यह तथ्य उपस्थित किया कि यदि नारी यह समझती है कि जीवन में वह शक्ति के साथ रह सकती है, तो उसके लिए विवाह आवश्यक नहीं हो सकता है। डा० राधाकृष्णन् का भी यही मत है कि यदि स्त्री में महत्वाकांक्षा अत्यन्त तीव्र रूप में है तो उसके लिए विवाह की छूट अनावश्यक नहीं है।[1] स्वामी विवेकानन्द भी राष्ट्र-सेवा एवं समाज-सेवा का व्रत लेने वाले नवयुवक तथा नवयुवतियों को; जो कि उसे अपने लक्ष्य में बाधक महसूस करते हों, कौमार्य-व्रत की अनुमति देते हैं।[2]

किशनचन्द जैबा की नूर बेगम में विवाह के प्रति अवहेलना मध्ययुग की समाज भावना के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया मात्र लगती है।[3] गोविन्दवल्लभ पन्त की बिंदु प्रेम भी करती है और विवाह की ओर भी उन्मुख है, लेकिन जब विवाह पूर्व ही उसका प्रेमी विनायक उसे कार्यक्षेत्र की कर्तव्य की याद दिलाकर सीमित करना चाहता है, तो बिंदु के अहं को ठेस पहुंचती है और वह तुरन्त कह उठती है कि "विवाह का अर्थ यदि बंधन है तो मुझे कदापि स्वीकार नहीं।"[4] श्री रामचन्द्र वर्मा कृत "लता" नाटक में विवाह में सम विचार की सहचरी प्राप्त न होने से जीवन एवं कर्तव्य में बाधा पड़ती है, इसीलिए अविवाहित रहना ठीक है। लता एवं वरुणा दोनों का यही

---

१ राधाकृष्णन् : "धर्म और समाज", पृ०१६६, सन् १६६१ई०, द्वि०सं०, अनु० विराज

२ स्वामी विवेकानन्द : "भारतीय नारी", पृ०३८, अनु० इन्द्रदेव सिंह

३ नूरबेगम -- "जो शख्स मुझको पसन्द होगा, उसकी दिल से इज्जत करूंगी, लेकिन निकाह की जंजीर या बेड़ियां न पहनूंगी। शादी एक दिखावा है। निकाह एक रस्म है। परदा एक कैद है।"
--किशनचन्द जैबा : "गरीब हिन्दुस्तान", १६२२ई०, प्र०सं०, पृ०२५, अंक१, सीन३

४ गोविन्द वल्लभ पंत : "अंगूर की बेटी", सन १६३७ई०, प्र०सं०, पृ०३२, अंक१, दृश्य २

विचार है, इसीलिए वे आजीवन कौमार्य का व्रत ले लेते हैं।[1]

युग की मार्क्सवादी या समाजवादी विचारधारा ने इस प्रवृत्ति को और अधिक तीव्र गति प्रदान की। सेठ गोविन्ददास की विमला इसी विचारधारा से आक्रान्त नारी है। वह विवाह को स्त्री की गुलामी समझती है और विवाह-कार्य से दूर हटती है। वह समाजवाद की समर्थक है। सोशलिज्म नर-नारी को समान स्वतन्त्रता प्रदान करता है। "सोशलिज़्म विवाह बन्धन को नहीं मानता ----- विवाह-प्रथा का मूलोच्छेदन होना खास तौर पर इस देश में होना मैं सबसे ज़रूरी बात मानती हूं।[2]" यही कारण है कि वह नीतिराज के साथ विवाह न कर उसके साथ उन सभी सुखों को भोगती हुई रहती है। उसके आचरण की नग्नता समाज में कितने अनाचार की वाहक बनती है-- यह नाटककार ने दिखाया है। अविवाहितावस्था की यह रीति कभी भी सफल नहीं हो सकती है। अतः नाटककार ने सैद्धान्तिकरूप से धर्मध्वज द्वारा इसका खण्डन करवाया है। "वह प्रेम के उस स्थायित्व का द्योतक है, जिसके बिना किसी भी सच्चे प्रेमी को सन्तोष नहीं हो सकता। --- और यह विवाह, विवाह के केवल संस्कार नहीं, सच्चे विवाह से ही हो सकता है, हां संस्कार उसकी एक विशद् खानापूरी अवश्य है।[3]" इसी प्रकार पृथ्वीनाथ शर्मा के नाटक 'साध'[4] की मृदुला भी स्वतन्त्रता के अपहरण के कारण विवाह को उचित नहीं समझती है। लेकिन वहां भी नाटककार ने बिना इस कर्तव्य के नारी की मानसिक अपूर्णता दिखाकर उसे आवश्यक बताया है।

नाटककार प्रेमचन्द ने विवाह को आत्मिक सम्बन्ध मानते हुए भी विशेष परिस्थिति में विवाह को अनिवार्य नहीं माना है। जैसे आधुनिक

---

१ गोविन्दवल्लभ पंत : 'अंगूर की बेटी', पृ०४२, १९३७ई०, प्र०सं०, अंक १, दृश्य २

२ रामचन्द्रसक्सैना : 'लता' ? प्र०सं०, पृ०४७, अंक ३, दृश्य १

३ सेठगोविन्ददास : 'त्याग या ग्रहण', १९४३ई०, पृ०३५, अंक २

३ वही, पृ०११७, अंक ५

४ पृथ्वीनाथ शर्मा : 'साध', १९४४ई०, पृ०११, अंक १, दृश्य २

नारी की प्रतिनिधि है , जो विवाह को जिन्दगी में बन्धन मानती है । वह कहती है, --" जिन स्त्रियों का अपना व्यक्तित्व है, अपनी इच्छा है,जिन्हें कीर्ति और ख्याति की लालसा है, उन्हें विवाह नहीं करना चाहिए ।"[1]

विवाहावस्था में वृद्धि
----

१९ वीं शती पूर्वार्द्ध में विवाह के लिए वर-वधु की अवस्था सामान्यरूप से ८ वर्ष से भी कम होती गई है । विवाह की यह अवस्था समाज के लिए अत्यन्त घातक थी । बाल-विवाह के कारण बढ़ती हुई समाज की बुराइयां शारीरिक विकासमें बाधा पहुंचा रही थीं । पुनर्जागरणकाल के समाज-सुधारकों एवं राजनैतिक कार्यकर्ताओं ने प्राचीन आदर्शों की और ध्यान आकर्षितकर विवाहावस्था की वृद्धि के लिए दबाव डाला । स्वामी विवेकानन्द ने भी सबके सामने यह प्रस्तुत किया कि विवाह की उम्र अधिक किए बिना देश का कल्याण सम्भव नहीं है,[2] क्योंकि उनका शिक्षा उचित रूप से नहीं हो पाती । सरकार ने भी इस दिशा में योग दिया । १९२९ई० में शारदा कानून पास किया गया, जिसके अन्तर्गत वर-वधु की उम्र क्रमशः १८ एवं १४ होनी ही चाहिए ।

आलोच्यकालमें नाटककारों ने आयु के अधिक होने का ही समर्थन किया है । उन्होंने कम उम्र में होने वाले विवाहों के कुपरिणामों को दिखा कर मानसिक एवं शारीरिक विकास हो जाने पर ही विवाह करवाया है । जीवन की स्वस्थता जिसमें निहित हो वही कार्य सर्वथा उचित है । प्रस्तुत अध्याय के"बाल विवाह" प्रसंग में उल्लिखित नाटककारों ने परोक्षरूप से विवाहावस्था में वृद्धि ही करनी चाही है । कुछ नाटककारों ने आयु का स्पष्ट उल्लेख किया है । कामताप्रसाद गुरु कृत

---

१ प्रेमचन्द : "प्रेम की वेदी" ,सन् १९४७ई०, प्र०सं०,पृ०१६,दृश्य १

२ "पठन-पाठन कराके अधिक उम्र होने पर कुमारियों का विवाह करने से उनकी जो सन्तान होगी, उसके द्वारा देश का कल्याण होगा । तुम्हारे यहां घर-घर में जो विधवाएं हैं, इसका कारण बाल-विवाह ही तो है ----- ।"

-- विवेकानन्द साहित्य, खण्ड अष्टम"अद्वैत आश्रम" से ,पृ०२७७ पृ०४०, ~~षष्ठ खंड~~

'सुदर्शन' में सुबाहु अपनी पत्नी चन्द्रप्रभा से कहते हैं --' जिस समय लड़की[1] अपना-पराया समझने लगे उस समय उसके विवाह का प्रबन्ध करना चाहिए ।' कुमार हृदय की 'सरदार बा' १६ वर्ष की हो जाने पर ही माता-पिता की चिन्ता का विषय बनती है । उसकी माँ,पति हेमराज से कहती है, --'अब हमें सरदार के विवाह की चिन्ता अवश्य करनी चाहिए । वह सोलहवाँ साल पूरा कर चुकी है[2] ।' माध्वाचार्य ने सरोजा के लिए चिन्तित सुल्पा को चतुर द्वारा समझाया है कि 'शारदा ऐक्ट ने शीघ्रबोध में लिखी विवाह की आयु को बढ़ा दिया है । उसकी धाराओं के अनुसार हमारी सरोजा दुधमुंही बच्ची है । उसके विवाह की अभी से[3] क्या चिन्ता ? जब हमारा-तुम्हारा ब्याह हुआ था, वह समय दूसरा था ।' सेठ गोविन्ददास की अबला बालिग है--१८ वर्ष की कन्या स्वयं विवाह कर सकती है[4] । यह नाटककारों के सुधारों का प्रयत्न है ।

वस्तुत: विवाह एक ऐसा सूत्र है, जिससे समस्त जीवन परिचालित होता है । अत:यदि इस विवाह की व्यवस्था में कहीं भी त्रुटि होगी, तो सम्पूर्ण जीवन विश्रृंखलित हो जायगा । क्योंकि विवाह 'सापेक्षिक दृष्टि से सर्वोच्च आदर्श की ओर ले जाने वाला --- एक सोपान स्वरूप है[5] ।' वह केवल वासनाओं की पूर्ति की व्यवस्था नहीं है । उसमें तो[6] पवित्रता व स्थिरता का भी मिश्रण[7] है । अनेक बौद्धिक भावनाओं का स्वीकरण है । वह एक भावनात्मक सम्बन्ध है, जो

---

१ कामताप्रसाद गुरु : 'सुदर्शन', १६३१ई०,पृ०३४,अंक २, दृश्य १

२ कुमार हृदय : 'सरदार बा', १६३८, पृ०६, अंक १,दृश्य १

३ माध्वाचार्य रावत : 'सरोजा का सौभाग्य', १६४२ई०, पृ०३, दृश्य १

४ सेठ गोविन्ददास : 'गरीबी या अमीरी', १६४७ई०,पृ०५८, अंक २, दृश्य २,प्र०सं०

५ विवेकानन्द - ७ 'साहित्य', प्रथम खण्ड ,पृ०३१६

६ आनन्दकुमार : 'समाज और साहित्य',पृ०५७,प्र०सं०, सं० १६६५ ।

७. Sir Harold Greenwald & Lucy Freeman- 'Emotional Maturity in love & Marriage'. Copyright 1961.

' Marriage, as an extremely emotional, intimate relationship, is frequently a local point of this self imposed task of trying to reach divinity with foot we feel are hopelessly clay -encased'-

- Page 238.

आत्म सन्तुष्टि के साथ-साथ लोक सन्तुष्टि का भी साधन बनता है । अतः यदि समाज में विवाह विषयक कुछ कमजोरियां व्याप्त हो गई हों, तो उन्हें सर्वथा दूर करने का उपाय करना ही चाहिए । यही कारण था कि पुनर्जागरण काल में व्याप्त विवाह विषयक कमजोरियां को नाटककारों ने नाटकों में चित्रित कर, उसे दूर करने का प्रयत्न किया और विशेषकर नारी जीवन के विषय में कुछ सोचने के लिए विवश किया है । कन्या-विक्रय, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि। वैवाहिक समस्याओं को अपने नाटकों में उठाया है जिनका आगे उल्लेख किया गया है ।

<u>अन्तर्जातीय विवाह</u>

आलोच्य काल के नाटकों में विवाह में जाति विषयक समस्या महत्वपूर्ण नहीं रही है। वैसे उस युग में विवाह के लिए जातीयता पर ही जोर दिया जाता था, लेकिन उससे कोई समस्या ऐसी नहीं उत्पन्न हुई, जो सबका केन्द्र बनती। सम्भवतः इसीलिए नाटककारों ने इस पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया । वैसे आलोच्यकाल में एक दो उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं, जिससे पता चलता है कि विवाह में नाटककारों ने योग्यता को ही महत्व दिया है, न जाति को न वर्ण को । नाटक कार "प्रसाद" ने आर्य व अनार्य को विवाह द्वारा एक किया है । नाग-कन्या मणिमाला का राजा जनमेजय से पाणिग्रहण करवा कर "प्रसाद" जी ने दो विपरीत जातियों के आपसी वैमनस्य को दूर किया है[1] । अनन्दि प्रसाद श्रीवास्तव के "अछूत" नाटक में वर्ण का सर्वथा त्याग किया गया है। नाटककार ने अछूत लड़के दया-सागर तथा हरिकृष्ण उपाध्याय की पालिता पुत्री सुशीला का अनेक विरोधों के बावजूद विवाह करवाया है । यद्यपि बाद में सुशीला भी उसी वर्ण की निकल जाती है[2]। पं० ज्वाला प्रसाद दुबे ने भी अन्तर्जातीय विवाह की ओर अपना उत्साह दिखाया है। राजा के लड़के प्रताप के साथ मेहरुन्निसा की शादी कर हिन्दु मुस्लिम विवाह

---

१ जयशंकर प्रसाद : "जनमेजय का नागयज्ञ" ,१९२६ई०,पृ०६५,अं०१, दृश्य ८

२ अनन्दि प्रसाद श्रीवास्तव : "अछूत" , १९३०ई०, द्वि० सं० पृ०११८ अं०३ दृश्य ५

द्वारा उनकी एकता को और मजबूत करना चाहता है। पहले तो राजा-रानी इस संबंध को स्वीकार नहीं करते, मगर बाद में मेहरुन्निसा के अन्दर प्रताप के लिए सच्चा प्रेम व त्याग पाकर जातीयता के बंधन को तोड़ देते हैं जिससे अनुदार जातीयता की दुर्गन्ध स्वतन्त्रता के पवित्र मन्दिर को गन्दा न कर सकेगी[1]। पा० बेचन शर्मा उग्र दयाराम व भिखारी की लड़की लाली का विवाह करवाते हैं[2]।

नाटक 'अछूतों का इन्साफ' में नाटककार विवाह में वर्ण-भेद नहीं मानना चाहता। वह अछूत और ब्राह्मण में भी विवाह का पक्षपाती है। मलीना एक ब्राह्मण की बेटी है, और विमल एक चमार का बेटा - दोनों आपस में विवाह करना चाहते हैं लेकिन उनका समाज इसमें बाधक होता है। मलीना अपने पिता से कहती है कि '....पुरुष समाज अपने हेतु नित नये विधान बना लेते हैं, और स्त्रियों को दुबा देते हैं'। ब्राह्मण अछूत लड़की से विवाह कर सकता है, परन्तु एक सछूत कन्या, सुशील सुशिक्षित, अछूत युवक, से नहीं कर सकती[3]। पर शायद नाटककार समाज का अतिक्रमण नहीं कर पाया और मलीना तथा विमल अपना-अपना बलिदान कर वर्ण-भेद की ही क्या जीवन को मिटा कर एक हो जाते हैं? सेठगोविन्ददास का शशिपतपाल रूढ़ि के प्रति विरोध करता है। इस नवयुवक के रोष एवं विद्रोह के माध्यम से इस विवाह विषयक रूढ़ि को तोड़ना चाहता है[4]।

वृद्ध-विवाह

वृद्ध-विवाह नारी जीवन के लिए एक अन्य सामाजिक अभिशाप था। मध्ययुग में नारी के ऊपर विवाह एक बलात् हो गया था। देश की राजनैतिक,

---

१ पं० ज्वाला प्रसाद दुबे : 'नवीन प्रताप', १९३१ ई०, प्र०सं०, पृ०४७ अंक २ दृश्य ८

२ पा० बेचन शर्मा उग्र : 'आवारा' १९४२ ई० पृ०१०७, अं० ३ दृ०७

३ नन्दलाल जायसवार वियोगी : 'अछूतों का इन्साफ', १९४३, प्र०सं०, पृ०२८अंक२, सीन१

४ शशिपतपाल -- 'मैं कायस्थ हूं- पर कायस्थों में भी सब से यहां शादी नहीं कर सकता, मेरी शादी मेरे फिरके में ही हो सकती है।'

'अगर मैं हिन्दुस्तान में शादी करना चाहूं और फादर की मर्जी के मुताबिक तो मुझे साढ़े सोलह करोड़ में से नहीं सिर्फ दो औरतों में से चुनाव करना होगा। -- सेठ गोविन्ददास-- 'सेवापथ', १९४३? पृ०२८, अंक १, दृश्य३

आर्थिक अवस्था ने नारी को विवाह के बन्धन में शीघ्र से शीघ्र बांधने के लिए दबाव डाला । फलतः विवाह की शीघ्रता में माता-पिता को जो वर मिला, उसी के साथ उन्होंने अपने कर्तव्य की इतिश्री की । कन्या के जीवन का क्या रूप होगा—इसपर विचार करने का उन्हें कभी अवसर ही न मिला । वृद्ध-विवाह समाज में फैलने लगा । विवाह हमेशा समान अवस्था में ही शोभा देता है । वृद्ध-विवाह ने कन्याओं के अन्दर कुण्ठा, निराशा उत्पन्न कर दी और उनके चरित्र का पतन होने लगा जो आश्चर्यपूर्ण न होकर अवश्यम्भावी था ही ।

पुनर्जागरण युग के सुधारकों, विचारकों ने इसकी ओर सबका ध्यान आकर्षित किया और समाज की इस प्रवृत्ति को मोड़ देने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न किया । यह समस्या आलोच्यकाल के नाटकों में कैसे न आती ? नाटककारों ने वृद्ध-विवाह के दुष्परिणाम दिखाकर इसे पूरी तरह दूर करने की कोशिश की ।

गंगाप्रसाद श्रीवास्तव के नाटक 'दुमदार आदमी' में बूढ़ों को खिजाब व नकली दांत के माध्यम से जवान होने को कोसा है । जो लड़कियों की ओर हमेशा ताकते ही रहते हैं[1] । आनन्दप्रसाद कपूर इसे समाज का दुनाला विष कहते हैं[2] । कुंजीलाल जैन मयंक मोहिनी की सखियों के माध्यम से उन माता-पिता को ही कोसते हैं, जो बिना विचार किए उन भोली सी गैयों को कसाइयों के हाथ में दे देते हैं, चाहे वह फिर रांड हो भख मारती फिरे[3] । रामेश्वरीप्रसाद 'राम' की दृष्टि में वृद्ध-विवाह मानो धर्म का अपमान ही है । सेठ चतुर्भुजमल धनवान, वृद्ध सेठ खोखीमलाल के साथ अपनी पुत्री शान्ति का विवाह करना श्रेष्ठ समझते हैं, लेकिन शान्ति की मां सरला अपने कर्तव्य के प्रति एक सजग नारी है, वह खुलकर सेठ के इस विचार का विरोध करती है । इस विवाह से तो वह मरना ही उत्तम समझती है । उसकी सखी लीलावती भी चतुर्भुजमल से कहती है कि 'एक वृद्ध पुरुष से अपनी कन्या

---

१ गंगाप्रसाद श्रीवास्तव : 'दुमदार आदमी', १९१९, पृ०२३-२४, अंक १ ?

२ आनन्दप्रसाद कपूर : 'दुनाला विष', १९१९ ई०, अंक २, दृश्य ५, पृ०सं०, पृ०३७।

३ कुंजीलाल जैन : 'धर्मोदय', १९२१ ई०, पृ०३७, अंक १, दृश्य ५, पृ०सं० ।

का ब्याह कराना भी कोई धर्म है? जब आप सखी का जीवन यों ही दु:ख के भंवर में डुबाना चाहते हैं तो इससे बेहतर है कि इसकी शादी उस दरिद्र --- के साथ ही कर दें ।[1] डा० नत्थीमल ने वृद्ध-विवाह के कारण खराब होने वाली जिन्दगियों को दिखाया है । कुन्दनलाल ५५ वर्ष का वृद्ध कस्तूरी से विवाह करता है । उसके जैसे समाज में अनेक वृद्ध हैं, जो कि धन के बल से कन्याओं का जीवन खरीद लेते हैं । चाहे कोई २० हजार ले ले, लेकिन वह शादी अवश्य करेंगे । गांव के लोग इसकी निन्दा करते हैं --" ---- कहां लड़की नादान और कहां ये बुड्ढा हैवान, इसे शर्म न आई व जो बुढ़ापे में फूल खाई --- ।[2]" नाटककार नन्दकिशोरलाल वर्मा माता-पिता कृत अबलाओं के ऊपर इस दु:ख से चिन्तित हैं । "आज चारों ओर[3] लोग सभी वर्णों में बाल-विवाह,वृद्ध-विवाह करके अबलाओं को सता रहे हैं --- ।" बलदेवप्रसाद खरे ने अपने नाटक "राजा शिवि" में वृद्ध-विवाह का दु:ख भरा मखौल उड़ाया है । सेठ हांडुचन्द का ६५ वर्ष की उम्र में एक कन्या से द्वितीय विवाह होता है । पंडित द्वारा उनपर व्यंग्य कसा गया है --" सन्तोष तो यही है कि आप जैसे धनी सेठ[4] के यहां से ६५ वर्ष की उम्र में द्वितीय विवाह की दक्षिणा अभी तक नहीं मिली ।" "कलियुग की सती" नाटक में सत्प्रताप वृद्धावस्था में धन की लोभी नारी मोहिनी से विवाह कर लेते हैं, जो कि अवसर पा उनका समस्त धन लेकर भाग जाती है । चरित्र का गिरना, घर का बिगड़ना-- सभी का कारण वृद्ध-विवाह ही है । सत्प्रताप सोचते हैं--"अंतिम अवस्था में विवाह करने का परिणाम यही होता है ---[5]"। ऊषांगिनी" में मकुन्ददास वृद्धावस्था में तारा से द्वितीय विवाह कर पछताते हैं, उनके घर की सुख-शान्ति ही सब कुछ समाप्त हो गई । " इस वृद्धावस्था में चारों ओर अन्धकार[6] ही अन्धकार दीख पड़ता है । --- इस वयस में विवाह करने की क्या आवश्यकता थी । "नाटककार

---

१ रामेश्वरीप्रसाद राम : "प्रेमयोगिनी" ,१६२२ई०,पृ०३६, अंक१, दृश्य६।

२ डा० नत्थीमल : "अर्ली फिर्स्ट" ,१६२३,पृ०४५, ड्राप २ सीन ३,प्र०सं०
३ नन्दकिशोरलाल वर्मा : "महात्मा विदुर" ,१६२३ई०,पृ०४३, अंक १,दृश्य६,प्र०सं०
४ बलदेवप्रसाद खरे : "राजा शिवि" ,१६२३ई०,पृ०२६, अंक १, दृश्य४,प्र०सं०
५ अब्दुल वली साहब "आरजू" : "कलियुग की सती" ,पृ०८४,अंक३ सीन ४,१६२३ई०,प्र०सं०

६ ब्रजनन्दनसहाय : "ऊषांगिनी" ,१६२५, पृ०१५१, अंक ४ दृश्य२,प्र०सं० ।

किशनचन्द जेबा के नाटक में श्रद्धानन्द देश के उद्धारक हैं, जो कि देश की सामाजिक, राजनीतिक सभी तरह की समस्याओं को सुधारने का प्रयत्न करते हैं। वृद्ध-विवाह को भी समाज के अहित[१] में मानता है। "दस बरस की कन्या अस्सी बरस के बुड्ढे से ब्याही जाती है ---- ।" फिर कहां से शक्ति उत्पन्न हो। समाज इसविषय में अब सचेत हो रहा है। "सन्यासी" नाटक में दीनानाथ की ५० वर्ष की अवस्था किरणमयी के असन्तोष का कारण है। किरणमयी साफ इन्कार कर देती है-- "मैं भी विधवा होती और मेरी[२] अवस्था भी चालीस की होती तो हम लोगों का विवाह स्वाभाविक होता। बाद में दीनानाथ भी अपनी इसगलती को स्वीकार कर लेते हैं। कृपानाथ मिश्र के मणिगोस्वामी ढलती उम्र में प्रभा से विवाह करते हैं, जो कि कभी तृप्त नहीं हो पाती, अत: गांव के लोग उसके विरोध में आवाज उठाते हैं--" जो वृद्ध ढलती अवस्था में एक छोटी बच्ची से विवाह कर उस[३] नादान बच्ची का सर्वनाश करेगा, वह वृद्ध समाज से निकाल दिया जायगा --- ।" सैयद कासिम अली भी इसे देश के नाश का कारण मानते हैं। गांव का जमींदार, कई स्त्रियों के[४] होते हुए भी पचास वर्ष की उम्र में एक अबोध कन्या से विवाह कर अनर्थ करता है। छ: मास में उस वृद्ध के मर जाने पर उसकी नवपरिणीता, अपने जीवन के प्रति अत्यन्त दुःखी हो जाती है और पटवारी के साथ भाग जाती है। नाटककार ऐसी अबोध नवपरिणीता को पटवारी के साथ भगाकर सन्तोष करता है। विज्ञान विशारद जी इस प्रथा को, संरक्षण देने वालों के प्रति रोष प्रकट करते हैं। वह कन्या भले ही क्वांरी रह जाय या मर जाय, पर वृद्ध-विवाह करने के पक्ष में नहीं है। हीरा अपनी कन्या के लिए इच्छुक वृद्ध रामजस की तीव्र भर्त्सना करती है। वह अपनी[५] पुत्री का विवाह उससे हरगिज नहीं कर सकती, भले ही उसके गले में छुरी फेर दे। भारत में नारी पतन के मुख्य कारण यह पतनोन्मुख विवाह प्रथाएं ही रही हैं।

---

१ किशनचन्द जेबा : "शहीद सन्यासी", १९२७, पृ०४६, एक्ट १, सीन ३
२ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "सन्यासी", १९२९ई०, प्र०सं०, पृ०८९-९०, अंक २
३ कृपानाथ मिश्र : "मणि गोस्वामी", १९३१ई०, प्र०सं०, पृ०१९, दृश्य२
४ सैयद कासिम अली : "ग्रामसुधार", १९३५ई०, प्र०सं०, पृ०६, अंक १, दृश्य१
५ विज्ञान विशारद : "भारत कल्याण", १९३२ई०, प्र०सं०, पृ०१०, अंक १, दृश्य २
~~६ उदयशंकर भट्ट : "कन्या", १९३५ई०, प्र०सं०, पृ०२१, अंक १, दृश्य२~~

यह समस्या उदयशंकर भट्ट के नाटक `अम्बा` में भी अत्यन्त तीव्ररूप में आई है । भीष्म के पिता अपनी इच्छा से वृद्ध होकर भी विवाह करके अपने पीछे जो कमजोर संतति छोड़ गए क्या वह समाज के लिए न्यायपूर्ण है ? स्वयं उनका निस्तेज पुत्र चित्रांगद अपने पिता के इस कर्म पर रोष उत्पन्न करता है --" तो, क्या पिता का बूढ़ी उमर में एक अनन्त यौवना से विवाह करके ----- अपने मोहे बुढ़ापे का कलंक एक विधवा और दो निस्तेज अपाहिज बालकों को छोड़ जाना, समाज के प्रति अन्याय नहीं हुआ ?"[1] नाटककार की दृष्टि में वृद्ध-विवाह करने वाले तिरस्कार के पात्र हैं । `ईशानवर्मन` नाटक में जब सम्राट प्रकटादित्य धर्मदोष की कन्या राजकुमारी इन्दु से विवाह का प्रस्ताव रखता है तो वह स्पष्ट कह देती है -- `आपकी आयु चालीस वर्ष की है और मेरी केवल २० साल की, तो अनमेल विवाह कैसे हो ?"[2] यहां नारी स्वयं सचेत है ।

नाटककार देवीप्रसाद की दुर्गावती भी एक बाल-विधवा है जो कि कम उम्र में वृद्ध के साथ विवाह होने पर शीघ्र ही विधवा हो जाती है । उसके पिता स्वयं अपनी गलती पर पछताते हैं -- पत्नी चम्पा से कहते हैं--" ----- अगर हमने पचपन बरस के बुड्ढे कल्याणमल जी से पांच हजार रुपये लेकर उनके साथ अपनी बच्ची का भाग न फोड़ा होता तो आज यह दु:खदाई दिन हमको कभी देखने को नसीब न होता -----[3] । आर्थिक अस्तता ने गरीब माता-पिता को अपनी कन्या का विवाह, वृद्ध के साथ करने के लिए विवश कर दिया था । इसका कुपरिणाम निरीह अबलाओं को भोगना पड़ता था । नाटककार समाज के इस अन्याय का विरोध करता है । वह दुर्गावती के माध्यम से वृद्ध-विवाह, बाल एवं अनमेल विवाहों को इसका कारण बताता है[4] । मथुरामल उपाध्याय के सेठ मानिकचन्द वृद्धावस्था में तीन शादी

---

१ उदयशंकर भट्ट : `अम्बा`, १६३५ई०, प्र०सं०, पृ०२१, अंक १, दृश्य३

२ मिश्रबन्धु : `ईशानवर्मन्`, १६३७, पृ०८५, अंक २, दृश्य३, प्र०सं०

३ देवीप्रसाद : `आदर्श महिला`, १६३८ई०, प्र०सं०, पृ०२२, अंक १, दृश्य१

४ वही, पृ०२६, अंक २, दृश्य१ ।

के बाद भी कन्या कल्याणी से विवाह करते हैं। "राम को भुलाकर वृद्धावस्था में एक नवयुवती के साथ ब्याह रचाया ---- ।"[1] उदयशंकर भट्ट की कमला अपने वृद्ध पति देवनारायण के झक्की स्वभाव से तंग आ जाती है, तभी वह प्रतिमा से कहती है-- यहाँ जो न हो जाय थोड़ा है। जिसका पति झक्की, चिड़चिड़ा, धुनी और बुड्ढा हो उसके लिए तो संसार ---- ।"[2] आयु की असमानता जीवन को कितना विषाक्त बना देती है। शिवकुमारी देवी की अश्वपति की रानी ही अपनी कैकेयी का विवाह वृद्ध दशरथ से करने के लिए इन्कार कर देती हैं। रानी के मन में क्षोभ है कि वह अपनी सुन्दर, पढ़ी-लिखी एकमात्र कन्या का विवाह उस अधेड़ और बहुपत्नीक राजा से कैसे कर दे[3]। विवाह के लिए आयु की समानता पहले विचारणीय है। देवीलाल सामर के "राजस्थान का भीष्म" नाटक में भी जनता इस विषय में सचेत है। चंड के पिता महाराणा को मजबूर होकर विवाह करना पड़ा, लेकिन फिर भी नागरिकों में असंतोष फैल जाता है। "लेकिन बुड्ढे इस तरह विवाह करने लगेंगे तो गजब हो जायगा। राजा ---- का अनुसरण प्रजा क्यों न करे ? यह जो होने लगेगा, तो हमारे देश की सारी पौध ही बिगड़ जायेगी और बेचारी नन्हीं विधवाएं जीवन भर अपने भाग्य को कोसती रहेंगी[4]।"

इस प्रकार हमारे आलोच्यकाल की अन्तिम सीमा तक यह समस्या यत्र-तत्र पाई जाती है। इससे केवल नारी का जीवन ही नहीं, वरन् समाज, देश की सफलता भी नष्ट होती है। आयु की असमानता में तो विचारों में और न कार्यों में कभी भी एकमत नहीं हो सकती है। अनमेल विवाह कभी भी सुखकर नहीं हो सकता है। कहीं-कहीं तो नाटककारों ने यह भी चित्रित किया है, कि वधु की उम्र वर

---

१ नत्थीमल उपाध्याय : "धनी और निर्धन", १९३८, प्र०सं०, पृ०६३, अंक २, दृश्य२

२ उदयशंकर भट्ट : "कमला", १९३९ई० प्र०सं०, पृ०१५, अंक १ सीन १

३ शिवकुमारी देवी : "आर्योदय", १९५०ई०, प्रथम, सं०, पृ०१५-१६ अंक १, दृश्य५

४ देवीलाल सामर : "राजस्थान का भीष्म", १९५६ई०, पृ०२६, प्र०सं०, अंक १ दृश्य ७।

की उम्र से ज्यादा होने पर भी ब्याह कर दिया जाता है । फलतः वर पहले तो भावनाओं को समझ नहीं पाता और जब बड़ा होता है, तो वह उसे बड़ा मान छोड़ देता है । फलतः तृप्ति दोनों में किसी को नहीं मिल पाती और चरित्र-हीनता अलग पैदा हो जाती है ।[1] नाटककार जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, नत्थीमल उपाध्याय[2] तथा जमुनादास मेहरा[3] ने इस पक्ष को भी चित्रित किया है ।

कन्या-विक्रय

कन्या-विक्रय की प्रवृत्ति समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक थी । नारी जीवन कौड़ी-मूल्य से भी बदतर था । विवाह तो उसके लिए एक नारकीय कष्ट बन गया था । पुनर्जागरण काल में इसे सभी चिन्तकों, सुधारकों ने अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा । उन्होंने स्पष्ट किया कि अपने इन्हीं सब कलंकों के कारण ही तो हिन्दूसमाज प्रगति नहीं कर पा रहा है ।

धनी अपने धन से कन्या का जीवन खरीद-खरीद कर बरबाद कर रहे थे । वृद्धावस्था में कामियों को कंचन के रहते हुए यदि कामिनी भी मिल जाय, तब तो उनकी खुशियों का कोई ठिकाना नहीं । समाज में धनी और निर्धन यही तो दो वर्ग रह गए थे । धनी दिन-ब-दिन अमीर होते जा रहे थे, और

---

१ श्यामा -- " ---- पति के रहते विधवा बनी हूं । जब मेरा ब्याह हुआ तब मेरी उम्र ग्यारह की थी और उनकी छः की । मैं सयानी हुई तो वह नन्हें नादान थे ---- घर-घर यही होता है --- ।"
-- 'मधुर मिलन', पृ०६३, अंक २, दृश्य८, १९२३, प्र०सं०

२ चम्पा --" ---- अफसोस ... नादान है.... जिन्दगानी का मजा बेकार है जरा-जरा सी बात पर चिल्लाता है ... ।"
'जईफे रिन्द', १९२३, पृ०२०, ड्राप-१, सीन-४, प्र० सं०

मोतीलाल -- " ---- माँ-बाप ने ऐसी औरत मेरे सिर पर मढ़ी ठीक दुगनी मुझसे बड़ी है क्या कहूं कमल की डण्डी से हथिनी को बांधा है --
पृ० ३२, ड्राप०१ सीन ४, जईफ-रिन्द - १९२३

३ हीरालाल-मदन से -- ---- तुम्हारे पिता ने स्त्रियों के भ्रष्ट विचारों में आकर तेरह वर्ष की अवस्था में ही तुम्हारा विवाह सोलह वर्ष की कन्या से केवल धन के लालच में, पक्का, कर दिया है ।
'पाप परिणाम' - पृ० ९८-९९, अंक १ दृ०६, १९२४; प्र० सं०

निर्धन दिनब्व -दिन अपनी गरीबी की प्रगति देख रहे थे। ऐसी स्थिति में वे माता-पिता जो कन्या को कठिनाई से पाल रहे हैं - कैसे न रुपए के लोभ में आते। फलत: कन्या उनके लिए एक आय का माध्यम बन गई थी। नाटककारों ने समाज के इस कलंक को अपने नाटकों में यत्र-तत्र चित्रित किया है। इसके कुपरिणामों को दिखा कर दूर करने का यत्न किया है।

कुंजी लाल जैन " धर्मांजय " में कन्या - विक्रय करने वालों की पर्याप्त निन्दा करते हैं। मयंक मोहिनी की सखियों के वार्तालाप से विदित होता है कि परमानन्द ने तीन हजार रुपए रुक्मणी के पिता को देकर साठ वर्ष की उम्र में ब्याह किया। " दिन भर खांस -खांस कर थूक-थूक कर भर देता है, बिचारी लीपते-पोतते मरी जाती है[1]। उन माता-पिता की घोर निन्दा करती है जो भोली भाली गैया को कसाइयों के हाथ में बेच देते हैं[2]।" प्रेमयोगिनी " के सेठ चतुर्भुजमल की पुत्री की अवस्था विवाह योग्य हो गयी है। उनकी आमदनी घटती जा रही है, फिर भी उनका विचार यही रहता है कि " एक बेटी तो है, उसी को बेचूंगा, रुपया पाऊंगा, कर्जा चुकाऊंगा।" और फिर उस बेटी का हृदय विदारक चित्रण कर नाटककार समाज के इस कृत्य पर काफी वेदना उत्पन्न कर देता है[3]। नन्दकिशोर लाल वर्मा का " महात्मा विदुर " नाटक में कथन है -- " कन्या[4], बिक्री की चाल तो आजकल ऐसी चल पड़ी है कि पांच सौ, हजार में लड़की खरीद लो।" राधेश्याम कथावाचक भी इसकी भर्त्सना करते हैं -- " चौदा-चौदा बरस में नादान लड़कियाँ सत्तर-सत्तर और अस्सी-अस्सी बरस के बुड्ढों के साथ ब्याह दी जाती हैं[5]। कभी-कभी वर पक्ष वालों को

---

१ कुन्जी लाल जैन -- " धर्मांजय " - पृ०३८, अं०१ , दृश्य५ १९२१,प्र० सं०

२ ,, वही ,, -- " ,, " - पृ०३७, अं०१ , दृश्य०५

३ रामेश्वरी प्रसाद राम -- " प्रेमयोगिनी " - १९२२, पृ०३ अं०१ दृश्य २

४ नन्दकिशोर लाल वर्मा -- " महात्मा विदुर " - १९२३, पृ०२०, अं०१ दृश्य ३ प्र०सं०

५ राधेश्याम कथावाचक -- " परमभक्त प्रह्लाद " - १९२५, पृ०२८,अं०१ दृश्य ३

लड़की की कुलीनता का मूल्य चुकाना पड़ता है । हब्बूमल अपने लड़के की शादी उंचे कुल में करने के लिए २० हजार रुपए कन्या के पिता को देते हैं[1] । दुर्गाप्रसाद गुप्त के स्वार्थचन्द भी अपनी कन्या लक्ष्मी का वृद्ध सेठ लोलुपचन्द के साथ विक्रय करते हैं । उनकी पत्नी सुनीति उन्हें इस बात के लिए कितना धिक्कारती है, लेकिन वह अपनी इसी बात पर दृढ़ रहते हैं --" इस कलिकाल में कन्या-विक्रय का बड़ा माहात्म्य है । जो कन्या को बेचते हैं वह बड़े भारी धर्मात्मा कहलाते हैं। अब तो लोग कन्याओं को बेचकर इसीधर्म के प्रताप से सेठ बन जाते हैं[2]। समाज में इस विक्रय के विरुद्ध विरोध प्रारम्भ हो गया था, लेकिन फिर भी" ग्रामसुधार" के अखंड सिंह ऐसे लोग अपने धन के प्रभाव से पुरोहित औरपुलिस अफसर को मिला कर पांच हजार रु० देकर विवाह करने का साहस रखते हैं[3] । श्रीकृष्ण मिश्र की राजमती अपनी देवकन्या पुत्री मैनका को विक्रय करना चाहती है। गुरुपुर के राजराघव से जमींदारी उसके नाम करवाना चाहती है। स्त्री होते हुए भी पैसे की लोभी, जीवन को न समझ ने वाली है । लेकिन नाटककार ने मैनका के व्यक्तित्व को सबलता प्रदान की है । वह साफ इन्कार कर देती है --" मेरे हृदयमें यह बात नहीं जमती कि परमात्मा ने किसी स्त्री को अपना सतीत्व-विक्रय करने के लिए पैदा किया है .. ऐश आराम के लिए पापी कुत्तों की कामाग्नि की आहुति बनना अधर्म है . . ।"[4] मैनका को इसके लिए काफी सामाजिक संघर्ष करना पड़ता है, पर अन्त में नाटककार उन कामुकों का हृदय परिवर्तन करके सब कुछ शान्त कर देता है। चण्डिका प्रसाद सिंह के " कन्या विक्रय" नाटक में भी इसी नारी दुर्दशा का चित्रण है । सेठ नगरदास अपनी अबंध- पुत्री लीलावती का विक्रय स्वार्थचन्द वृद्ध के साथ कर पांच हजार रुपया करना चाहते हैं, लेकिन नवीनचन्द बलात् लीलावती का ब्याह अपने वृद्ध पिता से न करवाकर गोकुलदास से करवा देता है, और स्पष्ट अपने पिता से कह देता है --" इस कन्या -विक्रय नाटक का सूत्रधार मैं हूं। जब वर कन्या राजी तो क्या करेगा गांव का काजी।

---

१ राधेश्याम कथावाचक --" परमभक्त प्रह्लाद" - पृ०५२ अं०१ दृश्य-४

२ दुर्गा प्रसाद गुप्त ----" भारत रमणी" - १६२५ , पृ०८६, अं०१ दृश्य-४

३ सैयद कासिम अली --" ग्राम सुधार" - १६३५, पृ०७ अं०१,दृश्य १ प्र० अं०

४ श्री कृष्ण मिश्र --" देवकन्या" - १६३६, पृ०३० , अं-१, दृश्य ४, S.A.1

७० वर्ष की अवस्था में मेरे जैसे २५ वर्ष के पुत्र रत्न के होते हुए[१] भी आज आप ब्याह करने की नशा में.... युवती कन्या का सर्वनाश करना चाहते थे।" इसी में कणिवती वृद्ध से विक्रय करने के कारण विधवा हो जाती है। नवीनचन्द्र उससे विवाह करके समाज में सुधार का एक कदम और आगे रखता है। नाटककार नारी-सुधार मण्डल की स्थापना नारी को स्वयं अपने लिए कुछ करने की प्रेरणा दी है। समाज अब सजग हो चुका है। कन्या-विक्रय करने वालों का नाटककारों ने खुलकर विरोध किया। राष्ट्रीय चेतना के कारण यह समस्या भी कम होने लगी। फलत: आगे के नाटकों में इसका सन्दर्भ विरल हो गया।

बाल-विवाह

हिन्दू-समाज की संकीर्णता बाल-विवाह रूप में भी पल्लवित हो रही थी। मध्ययुग में कम उम्र के लड़के-लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था। समाज की दशा अत्यन्त हीन हो रही थी। बढ़ती हुई बाल-विवाहों की संख्या समाज में बुराइयों को उत्पन्न करती जा रही थी। छोटे-छोटे वर-वधू जो विवाह को और न उसके उद्देश्य को ही समझ पाते थे- बलात् विवाह की जंजीरों में न जकड़ दिए जाते थे। बढ़ती हुई परिवारों की अशान्ति इसी का परिणाम थी।

बाल-विवाह के सन्दर्भ वैदिक युग में नहीं पाए जाते हैं। वैदिक युग में कन्याएं जब वयस्क हो जाती थी तभी विवाह होता था। डा० अल्टेकर लिखते हैं कि वैदिक युग में कन्या को वयस्क होने पर ही विवाह[२] होता था। यही प्रवृत्ति पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व के गृह सूत्रों में प्राप्त होती है। महाकाव्यों तथा बौद्ध साहित्य से भी यही पता चलता है कि चौथी शताब्दी ईसा पूर्व तक सुसंस्कृत[३] परिवारों में कन्याओं की उम्र विवाह के समय सोलह वर्ष की होती थी।

---

१ चन्द्रिका प्रसाद सिंह -- "---- कन्या विक्रय" - १९३७, पृ०३७, अंक-२ दृश्य २ प्रथम सं०

२ . Dr. A.S. Alteker- ' The position of woman in Hindu Civilisation ,3rd edition 1962, - Page 52.

३

विवाह में कुछ शीघ्रता धर्मसूत्रों के समय से प्राप्त होती है तथा कामसूत्र में यौवनागमन के पूर्व तथा पश्चात् दोनों उम्र में विवाह का उल्लेख है। बाल-विवाह तो मध्ययुग में जन-सामान्य में अत्यन्त प्रचलित हो गया था। प्रारम्भ में तो विदेशी आक्रमणकारियों की कामुक दृष्टि से बचने के लिए हिन्दू समाज ने विवाह को कन्या की मर्यादा का रक्षक माना है। अत: वे शीघ्रातिशीघ्र विवाह कर उन्हें जीवन में स्थिर करने लगे। संकट-कालीन स्थिति में बना हुआ नियमकालान्तर में जब प्रवृत्ति ही बन गया, तब असह्य हो उठा। इसलिए पुनर्जागरण काल में हमारे समाज-सुधारकों एवं नेताओं ने इसे दूर करने का प्रयत्न किया। बाल-विवाह समाज में रूढ़ि के रूप में अत्यन्त कठोरता से चिपक गया था, अत: इसे दूर करने के लिए सभी की सहायता अपेक्षित थी। हमारे आलोच्यकाल के प्रारंभ में यह समस्या नाटककारों के लिए प्रमुख थी। यद्यपि बाद में भी यत्र-तत्र इसका चित्रण मिलता है। इसे सामाजिक बुराई के रूप में चित्रित कर नाटककारों ने इसे पूर्ण रूप से निकाल देने का प्रयत्न किया है।

नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसे वैवाहिक जीवन के प्रेम एवं सुख के अन्त का कारण माना है, इसीलिए वे इसे एक कुप्रथा के रूप में चित्रित करते हैं।[1] मिश्रबन्धु ने इसे एक सामाजिक अभिशाप माना है। बाल-विवाह, विधवा-विवाह का कारण है। अत: जब तक यह दूर नहीं होगा, विधवाओं की संख्या बढ़ती ही जायगी। पं०जगदम्बासहाय कहते हैं--"-----जब तक बाल विधवाओं का होना बन्द न हो जाय, तब तक विधवा-विवाह को रोकना मानो पाप की वृद्धि करनी है।[2] कृपानाथ मिश्र ग्रामों में ग्रामसुधार समितियों के माध्यम से इसे दूर करना चाहते हैं।[3] नन्दकिशोर लाल वर्मा शान्ति के माध्यम से इस बुराई को सर्वथा उन्मूलित कर देना चाहते हैं।[4] चण्डीप्रसाद "हृदयेश" ने समाज के उन रूढ़िवादियों पर व्यंग्य किया है, जो बाल-विवाह को समाज की एक आवश्यक आवश्यकता समझते हैं।[5] तुलसीदत्त शैदा

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : "भारत दुर्दशा", १८८०ई०, मा०ना०, पृ०६०५

२ मिश्रबन्धु : "नेत्रोन्मीलन", १९१४ई०, प्र०सं०, पृ०८७, अंक३

३ कृपानाथ मिश्र : "मणिगोस्वामी", १९३१ई०, प्र०सं०, पृ०१९, दृश्य२

४ नन्दकिशोरलाल वर्मा: "महात्माविदुर", १९२३ई०, प्र०सं०, अंक१, दृश्य६, पृ०४२-४३

५ चण्डीप्रसाद हृदयेश : "विनाशलीला", "चांद", अप्रैल१९२५ई०, वर्ष३, खण्ड१, संख्या ६

कहते हैं कि यदि बाल-विवाह की कुलनाशिनी[1] बाढ़ को नहीं रोका गया तो बहू-बेटियों की दशा चरम पतन पर पहुंच जायगी। हरिहरशरण मिश्र ईसाइयों की बढ़ती हुई संख्या का एक कारण बाल-विवाह को बताते हैं। जिस समाज में विवाह गर्भ में ही हो जाता हो तथा ललनाएं जन्म लेने से पहले ही विधवा हो जाती हों, तो उस समाज में नारी या तो चरित्रहीन हो जायगी या फिर वह अन्य धर्म का ही आश्रय लेगी। यही कारण है कि बाल-विधवाओं की मर्यादा का हरण एक आम बात हो गई। मालती ऐसी ही बाल-विवाह से सताई हुई विधवा नारी है, जो कि गुण्डों के जाल में फंसकर सताई जाती है।[2] तुलसीदत्त शैदा ने बाल-विवाह की बुराइयों को विस्तार में दिखाकर उसको रोकने का प्रयत्न किया है। देश और समाज की सबसे बड़ी बुराई है। विवाह, प्रेम, पति एवं विधवावस्था को न समझने वाली बालाएं जिन्दगी के सुख से विरत हो रही थीं। उस समय के आनन्दी मिश्र जैसे रूढ़िवादी समाज के शत्रु, जितेन्द्री के बहुरूपियापन में स्त्रियों को बहका रहे थे। ब्रजमोहन की पत्नी सरस्वती से कहते हैं--"तुम्हारी लड़की ने आठवें वर्ष में पांव रखा है, यदि कहीं नवां वर्ष लग गया तो अंधेर हो जायेगा, समाज में हाहाकार मच जायगा ---।"[3] इसी सीख से प्रेरित हो सरस्वती अपनी ८ वर्ष की लड़की सावित्री का विवाह करने के लिए उत्सुक हो जाती है। पति ब्रजमोहन द्वारा नाटककार ऐसी 'मां' को समझाना चाहता है-"तुझे मालूम नहीं कि क्यों हिन्दुस्तान का पतन हो रहा है, जिसलिए हर साल बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ रही है -----।"[4] पर बलात् ब्याही सावित्री कुछ दिन बाद ही देव के मर जाने से विधवा हो जाती है और फिर जीवन में सामाजिक ठेकेदारों से अपनी इज्जत बचाने के लिए घूमती फिरती है। इसी प्रकार इसी नाटक में अन्य बालिकाओं के जीवन की दुर्दशा बताकर इसे अवश्य दूर करना चाहा है[5]। 'ग्राम-सुधार' में सैयद कासिम अली भी इसे देश के विनाश का कारण मानते हैं। जमुनादास

---

१ तुलसीदत्त शैदा : 'लज्जा', 'चांद', अप्रैल, १९२४ई०, पृ०५४१,५४२ ।

२ हरिहरशरण मिश्र : 'भारतवर्ष', १९२७ई०, पृ०२९, अंक १, दृश्य ५ ।

३ तुलसीदत्त शैदा : 'नन्ही दुल्हन', १९३०ई०, पृ०६, अंक १, दृश्य १

४ वही, पृ०१२-१३, दृश्य ३ अंक १।

५ सैयद कासिमअली : 'ग्रामसुधार', १९३५ई०, प्र०सं०, पृ०६, अंक १, दृश्य १ ।

मेहरा बाल-विवाह की पूरी ज़िम्मेदारी माता-पिता को मानकर उनकी भर्त्सना करते हैं। रमा भी इस प्रथा से आक्रान्त है। पति का आचरण सहित नष्ट हो जाने पर वह अत्यन्त दु:खी हो सोचती है--"क्या इस अनर्थ का मूल कारण वर-कन्या के माता-पिता नहीं, जो गुण-दोष की परीक्षा देने वाली अवस्था आने के पहले ही नाता जोड़ देते हैं और अबोध-बालिका का भविष्य होनहार पर छोड़ देते हैं ---।"[1] अब इस प्रथा का विरोध अत्यन्त उग्र हो चला था। इसे एक पाप समझा जाने लगा। कुमार हृदय के उपाध्याय जी भी यही स्वीकार करते हैं कि यदि बाल-विवाह के कुपरिणामों को जानते हुए भी करते हैं तो अवश्य पाप के भागी बनेंगे।[2] लक्ष्मीनारायण मिश्र की मनोरमा भी इस सामाजिक अभिशाप से ग्रसित है।[3] इसी प्रकार नाटककार सेठ गोविन्ददास की कुसुम भी बाल-विधवा है। उसकी माँ ने स्वीकार किया कि उन्होंने पुरोहित के झूठे लोभ में फंसकर बेटी का विवाह जल्दी कर दिया।[4] वह विवाह सच्चा विवाह न था।

इस प्रकार यह समस्या नाटककारों के चित्रण का विषय बनी रही है। यद्यपि पुनर्जागरण काल की यह समस्या, १९२९ई० में शारदा कानून के बाद कम होने लगी, लेकिन आज भी यह समस्या इतनी कम नहीं है कि वह अपवाद रूप कही जा सके। "धर्मयुग" में एक लेखक ने इस विषय का विश्लेषण किया है। उसमें स्पष्ट लिखा गया है कि "बाल-विवाहों की संख्या १९२९ई० में शारदा कानून के बनने के बाद घटी अवश्य है, पर इतनी नहीं कि आज किसी अल्पायु में होने वाले विवाह को हम अपवाद कह सकें। सर्वेक्षण के अनुसार गांवों में जहां सन् १९२०ई० के पहले ३२प्रतिशत बाल-विवाह होते थे, वहां पांच दशक बाद इतने प्रचार-प्रसार और रोकथाम के बावजूद यह संख्या सिर्फ ८ प्रतिशत ही घटी है। १०० में २४ लड़कियों का आज भी गांवों में १२-१३ वर्ष की अल्पायु में विवाह हो जाता है --- २० प्रतिशत लड़कियां

---

१ जमुनादास मेहरा : "जवानी की भूल", १९३२ई०, पृ०३८, अंक१, दृश्य७।
२ कुमारहृदय : "निशीथ", १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०३९, अंक २, दृश्य२।
३ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "सिन्दूर की होली", १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०४२, अंक१
४ सेठ गोविन्ददास : "दलित कुसुम", १९४२ई०, पृ० २४, अंक १, दृश्य ४।

आज भी शहरों में ऐसी हैं, जिनका विवाह १५ वर्ष की आयु के पूर्व हो चुका है।[1]
स्पष्ट है कि वैवाहिक समस्या आज भी समाज में वर्तमान है, जिसके मूल में सम्भवत:
आर्थिक कारण है, यद्यपि संस्कार, रूढ़ि का भी प्रभाव है। जो कि बिना किसी
व्यापक सामाजिक चेतना के दूर नहीं हो सकता।

विधवा-विवाह

भारतीय के इतिहास के मध्ययुग से ही, जब कि सामाजिक
बन्धन अपने में ही संकुचित होते चले जा रहे थे, नारी का वैवाहिक जीवन अपने
वैधव्य रूप में एक सामाजिक अभिशाप होता जा रहा था। वर-वधू का अल्पायु विवाह
और उसके फलस्वरूप विधवाओं का समाज में एक अलग वर्ग बनता जा रहा था। विधवा-
समाज में अस्पृश्य थी, किसी शुभ-कार्य में उसका आना गुनाह था। असमय में ही अपनी
इच्छाओं का दमन कर, समाज द्वारा निर्दिष्ट की गई व उस "खोली" में ही उसे जीना
था, जो विशेष आचार-व्यवहार के धागों से बुनी व बन गई थी। डा०अल्टेकर लिखते
हैं कि धार्मिक लोग तो विधवाओं के हाथ का छुआ भोजन या पानी तक ग्रहण नहीं
करते थे।[2] Dr. Maghus Hirschfeld -- ने हिन्दू-विधवा को "सिन्ड्रेला"
अर्थात् रसोई के समान आदि की दासी कहा है, जो कि पुराने कपड़ों में लिपटी
किसी भी प्रकार की सम्वेदना से दूर है, और साथ ही उसे घर की सीमा के अन्दर
ही कठोर कार्य करने रहते हैं।[3]

---

१ विजयकुमार : "क्या भारत में बाल विवाह अब नहीं होते"? - "धर्मयुग", 6अगस्त,
१९७२ई०, पृ०८-९।

२. Dr. A.S.Altekar- The position of women in Hindu Civilisation'- 3rd edition 1962. -Page 161.

' The custom of tonsure was quite common till the end of the last century. A widow was regarded as impure and ellágible for association with religious rites and functions as long as she had not removed her hair, orthdox people would not take any water or food touch by her'.

3. Dr. Maghus Hirschfeld- Women east and west 1935, - Page 167.

3

हमारी सभ्यता एवं संस्कृति का आदि वैदिक युग भी विधवा के प्रति इतना कठोर न था । वेदों में भी हमें विधवा के पुनर्विवाह का आख्यान मिलता है।[1] ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट 'विधवेव देवर' आया है । उसके बाद प्राप्त होने वाले साहित्य भी इस विषय में अनुदार नहीं हैं । फिर यह दुर्दशा मध्ययुग में ही क्यों? कारण, सम्भवत: राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियां थीं । मुसलमानों के आक्रमणों के कारण हिन्दू-सामाजिकों ने अपने समाज को सुरक्षित रखने के लिए इन संकीर्ण दृष्टि-कोणों को अपनाया होगा । लेकिन उनकी यह प्रवृत्ति कालान्तर में जब नियम बन कर सामने आई तथा जीवन विवश होने लगा, तब उसकी कठोरता सामने आई ।[2] १६वीं शती के पुनरुत्थान काल के कर्त्ताओं ने विधवाओं की इस असहनीय स्थिति के विरोध में कदम उठाया । उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह की मांग की । उन्होंने महसूस किया कि पुनर्विवाह न होने के कारण वैयक्तिक व एवं सार्वजनिक चरित्रहीनता उत्पन्न होती है । नारी जीवन की अतृप्ति कहीं तो वेश्या रूप में फंस रही थी, कहीं चिता की लपटों में दु:खी दिखाई देती थी । विधवा-विवाह का यह समर्थन २६ जुलाई १८५६ में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों से कानूनी रूप में सामने आया ।

आलोच्यकाल के नाटककार युगीन हलचल से कैसे पृथक् रह सकते थे । उन्होंने अपनी-अपनी कृतियों में इस विषय को उठाया है । विवेचना कर कतिपय सुझाव भी दिए हैं ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में सुधारवादी बंगाली द्वारा पुनर्विवाह को उचित बताया है।[3] इसके न करने से कुछ पाप नहीं होता और जो न करे तो पुण्य होता है । क्योंकि विवाह न करके आचरण की शुद्धता नहीं आ पाई तो उससे लाभ ही क्या होगा ? 'पुनर्विवाह न होने से बड़ा नुकसान होता है, धर्म का नाश होता है, ललनागन पुंश्चली हो जाती है ।'[4]

---

१ ऋग्वेद , मण्डल १०, सूक्त ४०, मंत्र ५

२. V.N.Sarasimmiyengar: Tonsure of Hindu widows. Indian Antiquary -1874.

३ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (सं०१६३०), पृ०३६७, अंक १

४ वही, पृ०३६६, अंक १

नाटककार मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है । वह रूढ़ियों को लक्ष्मण-रेखा मान कर बैठने वाला नहीं है । वास्तविक नैतिकता से अनभिज्ञ व्यक्ति ही विधवा-विवाह को रोक कर व्यभिचार के प्रचार में सहायक होते हैं[1] । मिश्रबन्धु ने अपने नाटक नेत्रो-न्मीलन में विधवा के विरोधियों के विरोध भाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया है । वकील रामस्वरूप जैसे रूढ़िवादी व्यक्ति यही सोचते रह जाते हैं कि इस विधवा -विवाह की धूम के आगे किसी के मरने में कोई हानि नहीं है[2] । वस्तुत: नाटककार इन जैसे व्यक्तियों के भ्रम को हटाने के लिए किशोरसिंह के शब्दों में कहता है,-- "विधवा-विवाह के पक्षियों का केवल यह प्रयत्न है कि बुराई स्वभाव के कारण चाहे भले ही रहे, परन्तु पति बिछोहादि दशाओं के कारण नहीं[3] ।" कृत्रिम नैतिकता, कृत्रिम आचरण को ही जन्म देगी । 'स्वर्णदेश का उद्धार' नाटक[4] में विधवाओं की बढ़ती संख्या का कारण राज्य के अत्याचार को भी माना है । नाटककार समाज के प्रति राज्य को सचेत करना चाहता है ।

ब्रजनन्दनसहाय कृत 'कृषांगिनी' में मनोरमा भी एक ऐसी ही रूढ़ियों की सताई विधवा स्त्री है, जो तृप्ति न प्राप्त होने के कारण कन्हाई जैसे सामाजिक बुराइयों के ठेकेदारों के चक्कर में फंस जाती है । पीड़ितावस्था में उसे साधु अभयानन्द सहायता प्रदान करता है । उसकी पश्चात्ताप की चरम सीमा को देख अभयानन्द कहता है--" सामाजिक नियमों का दोष है । विधवाओं को केवल निषेध बताया जाता है । विधि की बात नहीं कही जाती । वासनाओं को रोकने, उनको दमन करने के लिए कहा जाता है, किन्तु वे कैसे रुकेंगी-- यह नहीं कहा जाता[5] ।" वस्तुत: नाटककार मनोरमा को चित्रित कर थोथे आदर्श की दुर्दशा दिखाता है । इस

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'भारत दुर्दशा', सं०१६३७, पृ०५ ६०५, अंक३, भा.ना.।

२ मिश्रबन्धु : 'नेत्रोन्मीलन', सन् १६१५ई०, पृ०८४, अंक३

३ वही, पृ०८६, अंक३

४ इन्द्रवेदालंकार : 'स्वर्णदेश का उद्धार', १६२१ई०, पृ०५१-५२, प्र०सं०अंक२गर्भांक७

५ ब्रजनन्दनसहाय : 'कृषांगिनी', १६२५ई०, पृ०१५६, अंक ४, दृश्य८, प्र०सं०

समय के नाटककारों ने विधवाओं का विवाह करवाकर सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप प्रदान किया है । हरिकृष्णशरण मिश्र जी "भारतवर्ष" नाटक में विधवा का पुनर्विवाह करवाते हैं । मालती एक बाल-विधवा नारी उनकी दृष्टि में समाज में पुनः स्थान प्राप्त कर सकती है । सेठ किरोड़ीमल की पत्नी चम्पा मालती के साथ अपने पुत्र का विवाह करना चाहती है, पर सेठ किरोड़ीमल के न मानने पर उनसे प्रश्न करती है कि "फिर बाल्यावस्था में उसके पिता ने उसका विवाह क्यों किया? विवाह के अनन्तर स्त्री को ससुराल जाना चाहिए । अल्पवयस्क बालिका सु ससुराल को कैसे समझ सकती है ---- मालती की इस दुर्दशा का कारण दैव नहीं उसका पिता है[1] । आश्चर्य है, उन माता-पिता पर जो अपने कार्यों का औचित्य एवं अनौचित्य भी नहीं समझ पाते । यह चम्पा का करोड़ीमल से नहीं, पूरे समाज से प्रश्न है । रूढ़िवादी वर्ग विधवा विवाह को सती धर्म का लोप होने का कारण मानता है । उसको नाटककार "कारुणिक" आश्रम साधु के शब्दों में उत्तर देता है, कि असती को सती बनाना जितना कठिन है, सती को असती बनाना उससे भी अधिक अधिक कठिन है । अतएव बालविधवाओं के अतिरिक्त विधवाओं का विवाह प्रचलित कर देने से भी सतीत्व का लोप कदापि नहीं हो सकता । हां, उल्टे[2], विलास वासनाओं से प्रपीड़ित विधवाओं को प्रकाश में आने का अवसर मिलेगा । विरोधी करोड़ीमल के विरोध भाव को दूर कर मालती का उसके पुत्र राजमल से विवाह करवा कर नाटककार ने विधवा विवाह को पूर्ण मान्यता प्रदान की है । तुलसीदत्त शैदा अपने नाटक "नन्हीं दुल्हन" में बाल-विवाह की बुराइयों को दिखाकर उसका एक उपचार निकालते हैं--विधवा विवाह[3] । जब तक विधवा विवाह नहीं होंगे, समाज में अनाचार, व्यभिचार बढ़ते ही जायेंगे । विधवा सावित्री सामाजिक अत्याचारों से प्रताड़ित होकर विधवा-विवाह के प्रचार में लग जाती है । विधवाश्रम खोलकर अपने नेतृत्व में सताई नारियों को आश्रय देकर दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करती है । नाटककार समाज के सामने समस्या एवं उसकी समाधान को प्रस्तुत कर स्वयं नारी को

---

१ हरिकृष्णशरण मिश्र : "भारतवर्ष", सन् १९२७ई०, वर्तमानांक, दृश्य ३

२ वही भविष्यांक, दृश्य ३

३ तुलसीदत्त शैदा : "नन्हीं दुल्हन", १९३०ई०, पृ०७७, अंक२, दृश्य१

इस विषय में चेतनता प्रदान करती हैं,जो सावित्री के रूप में फलीभूत होती हैं । उसके सामने विधवा-विवाह के कारणों को कहती है कि "भारत के कोने-कोने में विधवा-विवाह का प्रचार न करोगे तो याद रखिये, थोड़े ही दिनों में गरीब भारत पर व्यभिचार का राक्षस राज्य करेगा । हिन्दू धर्म वेश्याओं के टुकड़ों पर पलेगा ।"[1] मदन नवयुवक के साथ विधवा गार्गी का विवाह कर विधवा-विवाह का पूरी शक्ति के साथ समर्थन व एवं प्रचार किया है । घनानन्द बहुगुणा भी समाज की इस विषमता से अवगत थे । "समाज" नाटक में विशुद्धानन्द और उनके मित्र राधिकारमण ऐसे ही विचारों के हैं । शान्ता की माँ एक विधवा दु:खिनी थी, राधिकारमण ने उससे विवाह कर उसका उद्धार किया ।[2] ज्ञानप्रकाश नवयुवक इन सब रूढ़ियों को न मानकर शांता से विवाह कर उसे सामाजिक स्थान प्रदान करता है ।

जमुनादास मेहरा कृत "हिन्दू कन्या" में रेवा भी एक विधवा स्त्री है,जो कि टोडरमल के द्वारा सताई जाती है । वह राधा को भी अपनी इच्छा पूर्ति का साधन बनाना चाहता है । लेकिन राधा उसके धोखे को जानकर उससे अपना और रेवा का बदला लेना चाहती है । वह कहती है-- "हिन्दू विधवाओं को इस तरह धर्म-भ्रष्ट किया जा रहा है और मैं सोच में न डूब पड़ूं ? हिन्दू कन्याओं को समाज में बदनाम कराकर उनका सतीत्व नष्ट किया जा रहा है ।"[3] जौनपुर के महाराज मानसिंह से धन की प्राप्ति होने पर वह स्त्रियों का संगठन दु:खी स्त्रियों की सहायता पहुंचाया करती है । नारी जागरण के इस युग में नाटककार उसे अपनी समस्याओं को दूर करने के लिए प्रेरित करता है । नाटककार कुमार हृदय भी निर्दोष में विधवा-विवाह को युग की आवश्यकता मानते हैं । सुन्दरी भिखारी अपने रूप के कारण ज़मींदार की काम पिपासा की दृष्टि के कारण भगाई जाती है । उस काल में विधवा एक निरीह प्राणी थी, उसके पास किसी भी प्रकार का बल न था । ऐसी कन्या समाज के लिए अस्पृश्य हो जाती है । अत: नाटककार विधवा का पुनर्विवाह

---

१ तुलसीदत्त शैदा : "नन्हीं दुल्हन, १९३०ई०, पृ०१७७,अंक३,दृश्य५

२ घनानन्द बहुगुणा : "समाज",१९३०ई०, पृ०३५, अंक१, दृश्य४

३ जमुनादास मेहरा : "हिन्दू कन्या",१९३२ई०,पृ०५८, अंक१, दृश्य१

आवश्यक मानता है । "मनुष्य यदि अनेक विवाह कर सकता है तो स्त्रियां स्थिति के अनुकूल पुनर्विवाह कर कौन सा पाप करेंगी ।"[1]

इन सभी से अलग लक्ष्मीनारायण मिश्र विधवा विवाह को उचित नहीं मानते । अपने समस्या नाटकों में इन्होंने जहां अनेक समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न किया है, वहां वे विधवा के विवाह को उचित मानने के लिए तैयार नहीं । पहली बार पुरुष के राग का माध्यम बननेवाली नारी को कभी अपना स्थान परिवर्तन नहीं करना चाहिए । "सिन्दूर की होली" की मनोरमा इस कठोर शासन में ही अनुशासित है । मनोरमा एक बाल-विधवा है, लेकिन वय प्राप्त होने पर भी उसी पर कायम रहती है । मनोरमा चरित्र की वास्तविकता हिन्दू विधवा में ही पाती है । "हिन्दू विधवा से बढ़कर कविता और दर्शन कहीं नहीं मिलेगा ।"[2] वह विधवा जीवन को केवल सेवा और उपकार का मानती है । " ---- तुम्हारी समझ में विधवायें समाज के लिए कलंक हैं, मैं समझती हूं, समाज की चेतना के लिए विधवाओं का होना आवश्यक है ---- उसके भीतर संकल्प है, साधना है, त्याग और तपस्या है ---- यही विधवा का आदर्श है और यह आदर्श तुम्हारे समाज के लिए गौरव की चीज़ है --- ।"[3] मनोजशंकर को अपनी भावनाएं समर्पित करके भी यही कहती है --" मैं विधवा हूं, तुमको भी विधुर होना होगा ।"[4] इसी नाटक में मुरारीलाल की कन्या चन्द्रकला हठात् रजनीकान्त से प्रेम करने लगती है और अचानक उसके मर जाने पर विधवा बन बैठती है । वैधव्य को अपना आदर्श बना लेती है । लेकिन नाटककार की दृष्टि में मनोरमा का वैधव्य श्लाघनीय है, क्योंकि सम्भवत: वह रूढ़ियों का वैधव्य है । वास्तव में मिश्र जी विवाह को एक संस्कार मानते हैं । उनकी दृष्टि में चन्द्रकला जिस स्थिति में विधवा हुई है वह अनेक बार सम्भव है । जब कि

---

१ कुमार हृदय : "निशीथ", १९३४ ई०, पृ०३९, प्र०सं०, अंक२, दृश्य३

२ लक्ष्मीनारायण मिश्र --"सिन्दूर की होली", १९३४ ई०, पृ०५९, अंक २, पृ.सं.

३ वही , पृ०७१, अंक २

४ वही, पृ०७७, अंक २ ।

चन्द्रकला मनोरमा के रूढ़ि-वैधव्य से कहीं ज्यादा अपने आत्मिक वैधव्य को सार्थक मानती है । प्रेम की एकरूपता के खण्डित होने के भय से ही तो मिश्र जी विधवा-विवाह को अनुचित समझते हैं , अत: ध्येय तो मानसिक एकाग्रता पर ही है, पर फिर क्या चन्द्रकला के वैधव्य में मानसिक एकाग्रता के दर्शन उन्हें नहीं होते ? हां, यह अवश्य है कि इसपर सामाजिकता की मोहर नहीं लगी । चन्द्रकला स्पष्ट कहती है--" ----- तुम्हारी मजबूरी पहले सामाजिक और फिर मानसिक हुई,मेरी मजबूरी प्रारम्भ में ही मानसिक हो गयी ---[1] ।यदि मनोवैज्ञानिकता को ही प्राथमिकता देना है तो चन्द्रकला के वैधव्य की अवहेलना नहीं करनी चाहिए । डा० प्रेमलता इसे समस्या का आदर्शपूर्ण सैद्धान्तिक पक्ष मानती हैं,व्यावहारिक नहीं[2] । वस्तुत: नाटककार विधवा के पुनर्विवाह को तलाक रूप में दूसरी सम्भावित सामाजिक समस्या मानता है । यही कारण है कि उनके अन्य नाटकों में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है । राजयोग में स्पष्ट कहते है--" जिस लड़की[3] की हल्दी दूसरे के साथ हो गई, उसकी पुन: हल्दी दूसरे के साथ नहीं हो सकती ।" इसी प्रकार "मुक्ति का रहस्य " नाटक की आशा वैसी चाहते हुए भी उमाशंकर से विवाह नहीं कर पाती है और न चाहते हुए भी विषपगामिनी बनाने वाले डाक्टर की सहगामिनी होती है । विशेष मानसिक स्थिति में इस प्रकार का आचरण बुरा नहीं,लेकिन उसे एक सामाजिक नियम बनाकर मानना खटकता है ।

कहां तो लक्ष्मीनारायण मिश्र की मान्यता और कहां उदयशंकर भट्ट ? उन्होंने महाभारत से ही आख्यान लेकर जो रचना की, उसमें दिखाया है कि विधवाओं की स्थिति कितनी दर्दनाक हो जाती है । "अम्बा" नाटक में अम्बिका और अम्बालिका निरी अबोध बालिकाएं , पति के मरने पर विधवा बनकर बैठ जाती हैं, जिन्होंने कभी वैवाहिक जीवन को समझा भी नहीं, वे भी विधवा बनाकर बैठा दी गईं । उनके अन्दर का क्रन्दन उनकी स्थिति की ओर भी

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "सिन्दूर की होली",१९३४ई०, पृ०८५, अंक ३,पु.सं.।

२ डा० प्रेमलता अग्रवाल : " हिन्दी नाटकों में नायिका की परिकल्पना",पृ०२०६प्र०सं० सन् १९६९ई० ।

३ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "दस राजयोग",१९३४ई०,प्र०सं०,पृ०५६,अंक२

दयनीय बना देता है ।" ----- पहले हम कन्या थीं और अब विधवा । समाज का दूसरा नाम बन्धन ही तो है ? समाज के भीतर एक बार प्रवेश करने पर बहुती रहते हुए भी वह दृष्टि से ताकने वाले उसके नियमों ने हमारा रूप और नाम बदल दिया है ।[1] भट्टजी स्थिति के परोक्ष में ही रहकर इस विषमता का विरोध करना चाहते हैं । "रामानन्द" नाटक में नाटककार समाज में व्याप्त दुराचार के लिए चिन्तित है । विधवाएं बलात्कार के कारण पीड़ित हैं ।[2] विधवा रत्नकुमारी नूर खां द्वारा सतायी जाती हैं । अत: विधवा दशा में सुधार आवश्यक है ।[3]

नाटककार सेठगोविन्ददास विधवा-विवाह के विषय में मौन रहते हैं, लेकिन विधवा को सम्मान न देना, उन्हें सह्य नहीं । "हर्ष" नाटक में राज्यश्री का वैधव्य तिरस्कार की वस्तु नहीं, वरन् आदर एवं सम्मान का पात्र है । राज्यश्री अपने वैधव्य के कारण दरबार में आने का संकोच करती है । सामाजिकता की अवहेलना वह नहीं कर पाती, लेकिन नाटककार हर्ष के माध्यम से इस सामाजिकता का विरोध करता है । वैधव्य[4] कोई पाप नहीं । पवित्रता, त्याग, आत्मसंयम से वह परिपूर्ण है । सभी मांगलिक कार्यों में उसका प्रवेश निषिद्ध नहीं, वरन् पूजित है ।

बंधी-बंधाई लीक पर चलने के कारण ही "आदर्शमहिला" नाटक की अम्मा मां होकर भी पुत्री दुर्गावती के वैधव्य को घृणा की दृष्टि से देखती है ।[5] उसे उसके पाप का परिणाम बताती है । उसकी छाया भी उसे सह्य नहीं । दुर्गावती जैसी न जाने कितनी बाल-विवाह आदि कारणों से वैधव्य को प्राप्त[6] नारियां, दु:ख भोगती हैं । विधवाओं को समाज अनेक उपनामों से अलंकृत करता है । नाटककार ने

---

१ उदयशंकर भट्ट : "अम्बा", १९३५ई०, प्र०सं०, पृ०९९, अंक ३, दृश्य५

२ अवधकिशोरदास श्रीवास्तव : "रामानन्द", १९३५ई०, प्र०सं०, पृ० २०, अंक १, दृश्य४

३ वही, पृ०२७, अंक १, दृश्य ५

४ सेठ गोविन्ददास : "हर्ष", १९३५, ? पृ०५६, अंक१, दृश्य २

५ देवीप्रसाद : "आदर्श महिला", १९३८ई०, प्र०सं०, पृ०२१ अंक १, दृश्य १

६ वही, पृ०२९, अंक १, दृश्य १ ।

दुर्गावती का पुनर्विवाह करवाया है। उसकी दृष्टि में विधवा का पुनर्विवाह जीवन एवं समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सामान्यत: हिन्दू समाज में वैधव्य के लिए दु:खमय दृष्टिकोण ही चित्रित है। नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी की जीजाबाई देश-उद्धार के लिए अपने वैधव्य को स्वीकार कर लेती है, लेकिन फिर भी उसे आर्य नारी के लिए सबसे बड़ा अभिशाप बताती है। इसी प्रकार "बन्धन" नाटक में सरला विधवा हो जाने के बाद न तो ससुराल में ही स्थान पाती है, न अपने माता-पिता के यहाँ ही। समाज में इससे अधिक विधवा नारी की और क्या दुर्दशा होगी। मोहन कहता है," भगवान् ने इस आयु में तुम्हारी माँग का सिन्दूर पोंछकर कितनी कठोरता की है, ससुराल वालों ने भी तुम्हें भार समझा, घर पर माता जी ने तुम्हें चैन न लेने दी ----।" सेठ गोविन्ददास के एक अन्य 'कुलीनता' नाटक में भी नाटककार वैधव्य को अत्यन्त सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखता है। विधवा-जीवन समाज में सदैव सम्मानित रहेगा। विन्ध्यबाला पति के मर जाने के बाद उत्सव में सम्मिलित नहीं होना चाहती, वरन् अपना जीवन ही समाप्त करना चाहती है। सुरभिपाठक कहता है कि --" ---- जिन्हें वैधव्य प्राप्त हो गया है, और जो एक पवित्र व्रत के कारण अपना सारा जीवन महान् संयम एवं अद्भुत स्वार्थ त्याग से व्यतीत कर समस्त संसार को संयम एवं त्याग का, सजीव जीता-जागता उदाहरण बता रही हैं ---- उनका शुभ तथा मंगलकारी अवसरों पर उपस्थित होना अशुभ और अमंगल ? कृतघ्नता की सीमा होती है ---- विधवाओं के प्रति समाज का यह निन्दनीय व्यवहार असहनीय है ---- इन ---- भावों का मूलोच्छेदन करना होगा।" फिर भी विन्ध्यबाला आत्महत्या तो कर ही लेती है, लेकिन यह सती-प्रथा का अनुकरण नहीं, वरन् एक मनोवैज्ञानिक परिणति थी।" ---- जिस लज्जा से उसकी पत्नी ने पति के पाप का प्रायश्चित किया है, उसी लज्जा से वह अब अपने पाप का भी प्रायश्चित करती है ----।"

---

१ हरिकृष्ण प्रेमी : "शिवा साधना", पृ०१७६, १९३७ई०, द्वि०सं०, अंक५, दृश्य५
२ हरिकृष्ण प्रेमी : "बन्धन", १९४१ई०, पृ०२७, अंक१, दृश्य ७
३ सेठ गोविन्ददास : "कुलीनता", १९५१ई०, पृ०१२३, अंक४, दृश्य५, पु.सं.।
४ वही, पृ०१२८, अंक ४, दृश्य ७

सुश्री शारदा देवी "विवाह मण्डप" नाटक में विधवाश्रम खोलकर एक समाधान प्रस्तुत करती है । नरेन्द्र,कैलाश,बसन्त के द्वारा युवक वर्ग इस क्षेत्र में आगे बढ़ता है । सुधार का क्रियात्मक भार अपने ऊपर लेता है,लेकिन वह और अधिक उलझ जाता है । रमा की माँ सुखिया भी विधवा होना कोई पाप नहीं मानती , वह अपने देवर (चौकीदार) से कहती है कि विधवा होना कोई पाप नहीं है --- । विधवा व सधवा एक ही जगत की नारियाँ हैं ।[2] इतना सब समझते हुए भी कोई कुछ कर नहीं पाता । अतः शारदा देवी विधवाश्रम खोल कर समस्त दुःखी नारियों को उसमें आश्रय प्रदान करती हैं । नाटक में मधुसूदन सूचित करते हैं कि उमा के नाना की एक लाख की सम्पत्ति जो उमा को मिलनी है विधवाश्रम खोलने में लगाई जायगी, जिसमें पचास हजार रुपये वे अपनी तरफ से भी उमा के विवाहोपलक्ष्य में प्रदान करते हैं ।

सेठ गोविन्ददास ने भी दलित कुसुम की वेदना को सामने रखने का प्रयत्न किया है । वह समाज द्वारा दलित कुसुम को ऊपर उठाना चाहते हैं वह बाल विधवा कुसुम, जहाँ भी जाती है,वहीं समाज के ठेकेदारों के द्वारा ठगी जाती है । युवक मदन से धोखा खाने के बाद वह पग-पग पर धोखा खाती है । विधवाश्रम जो विधवाओं के लिए सुविधाएं प्रदान करता है,वह भी आदर्श से च्युत हो जाता है । बेटियों का क्रय-विक्रय वहाँ किया जाता है । वासना के कीड़े हर जगह कुलबुलाते रहते हैं । अपने जीवन को इन सामाजिक विषमताओं से उत्पीड़ित हो न जाने कितनी विधवाएं कुसुम के समान गंगा में डूबने के लिए विवश हो जाती हैं । विधवा का यदि सामाजिकता के ऊपर कोई अधिकार नहीं, तो कम से कम शरीर पर भी अधिकार नहीं दिया जायगा क्या ? " मैंने अपने-आपसे और संसार से छुटकारा पाने के लिए गंगा की शरण ली । तब तक ---- समाज को मेरी कभी आवश्यकता न पड़ी ---- दुःख से छूटने की कोशिश करते ही मेरे और मेरे शरीर के बीच में यह समाज ---- न

---

१ शारदा देवी : "विवाह मण्डप" ,१९४९ ई०, पृ०७, अंक १,दृश्य१

२ वही,पृ०१४,अंक १,दृश्य२

३ वही, पृ०३३, अंक२, दृश्य२

जाने कहाँ से आ टपका --- क्यों ? --- संसार में किसी दूसरे पर न सही --- पर मेरे शरीर पर तो मेरा अधिकार --- है ।"[1] कुसुम के इस प्रश्न का समाज के पास क्या उत्तर है ? जब तक विधवाओं को विवाह की तथा जीवन की सुविधा नहीं प्रदान की जायगी, तब तक नाटककार की दृष्टि में कुसुम जैसी नारियाँ संतप्त रहेंगी ।

इसी प्रकार नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी' बालविधवा कमला का पुनर्विवाह कर हम्मीर द्वारा उसका उद्धार करते हैं । वह प्रथम सम्भाषण में ही अत्यन्त भयभीत होती है, लेकिन हम्मीर समाज से डरने वाला नहीं -- "विधवा हो जाने पर उन्हें जीवन के सभी सुखों से वंचित रखना यह समाज की मर्यादा मान्य नहीं ।"[2]

इस प्रकार आलोच्य काल के नाटककार इस समस्या के प्रति विरक्त नहीं रहे, वरन् उन्होंने उसके समाधान भी प्रस्तुत किए हैं । विधवाओं के विवाह में ही उन्होंने समाज का कल्याण देखा है । बाल-विधवाएं जो अपने अतीत से अनजान हैं, कैसे नियमों के बन्धन में रह सकती हैं ? सामाजिक रूढ़ियों की नैतिकता कभी जीवन के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती । "नैतिक नियमों का पालन करने के द्वारा हमें उस आदर्श के निकटतम पहुंचने का यत्न करना चाहिए जो नैतिक की अपेक्षा पवित्र अधिक है, जो सही की अपेक्षा सुन्दर है, जो यथेष्ठ की अपेक्षा पूर्ण अधिक है, और जो कानून की अपेक्षा प्रेममय अधिक है ।"[3] जिससे पूर्णता की प्राप्ति न हो सके, तो वह व्यर्थ है । व्यभिचार के प्रचार में समाज के नियमों को सहायक नहीं, वरन् कट्टर विरोधी होना चाहिए । हाँ, यदि कोई नारी अपने वैधव्य को सुरक्षित रखना चाहती है, तो वह भी समाज के लिए गौरव की चीज होगी । वह समाज के लिए अमंगलकारी नहीं ।

---

१ सेठ गोविन्ददास : 'पतित कुसुम', १९४२ ई०, पृ० १२८ (उपसंहार)
२ हरिकृष्ण 'प्रेमी' : 'उद्धार', १९४९ ई०, पृ० ९३, अंक २, दृश्य ६, पृ० ९०
३ डा० राधाकृष्णन् : 'धर्म और समाज', द्वि० सं०, पृ० २२८, अनु० विराज, १९६१ ई०

दहेज-प्रथा

नारी के वैवाहिक जीवन की प्रमुख समस्या दहेज-प्रथा रही है। वर पक्ष वाले विवाह में वधू पक्ष वालों से दहेज के रूप में एक अच्छी खासी मोटी रकम ले लेते हैं। वधू पक्ष वाले चाहे जैसे भी इसे पूरा करें। दहेज-प्रथा हमारी प्राचीन सभ्यता में थी जरूर, लेकिन इस रूप में न थी। उस समय विवाह के अवसर पर वधू पक्ष वाले सामर्थ्यानुसार अनेक प्रकार के सामान वर-वधू के साथ देते थे। वहां यह आवश्यक नहीं था कि दहेज के आधार पर ही विवाह-सम्बन्ध कायम हो सकेगा। लेकिन मध्य-कालीन समाज में प्रचलित दहेज की प्रथा की व निर्ममता ने कन्या पक्ष वालों की दशा को अत्यन्त शोचनीय बना दिया था। वर पक्ष वालों को आकर्षित करने का दहेज का लोभ बहुत बड़ा साधन था। वस्तुत: मध्ययुग में नारी जीवन की यह एक बड़ी विड-म्बनापूर्ण स्थिति थी। जिनके पास धन था, वे तो उतने कष्टप्रद स्थिति में न थे, लेकिन जिनके पास अपना ही जीवन चलाना मुश्किल हो, वह बेटी के लिए दहेज कहां से जोड़े? इसी दहेज के कारण मध्यकाल में कन्या-विक्रय भी आरम्भ हो गया था। अनेक अभिभावक यही सोचकर, कन्या का विक्रय करते थे कि यदि अन्यत्र उन्होंने कन्या का विवाह किया तो उसके लिए धन कहां से आयेगा ? आलोच्यकाल के नाटककारों ने इस समस्या को भी महसूस किया और यत्र-तत्र इसके विरोध के लिए अपना विरोध प्रदर्शित किया है। वस्तुत: यह समस्या समाप्त तो नहीं हो गई है, वरन् यह आज भी समाज में और अधिक क्रूर रूप में वर्तमान है। आज विवाह का निश्चित होना मात्र दहेज पर ही निर्भर है। नारी जीवन इस समस्या से अभिशप्त है, लेकिन परिवर्तन भी असंभव नहीं है।

हिन्दी नाटककारों में उमाशंकर सरमंडल नाटककार ने अपने 'अनोखा बलिदान' नाटक में स्वेप्ट एवं तेजसिंह के वार्तालाप द्वारा दहेज को दूर करने का प्रयत्न किया है। विवाह में धन की जगह यदि कन्या के गुणों को प्राथमिकता दी जाय तो अधिक उचित होगा। तेजसिंह स्वेप्ट से सुशील लड़की के लिए ही कहता है, जिससे स्वेप्ट खुश हो कर कहता है --" धन्य भाई तेजसिंह। आजकल पुराने

विचारों के ढकोसलों के अनुसार कार्य करने वाले लालची लोगों के कारण हमारे यहां कन्याओं की बड़ी दुर्दशा हो रही है। जहां योग्य कन्याएं हैं, वहां पैसों के लेन-देन के कारण योग्य वर नहीं मिलते --[1]। लक्ष्मीनारायण मिश्र जी ने "सन्यासी" नाटक में लोभी पितापर व्यंग्य किया है, जो पुत्र केविवाह में पांच हजार दहेज मांगता है, क्योंकि पुत्र की पढ़ाई में दो सौ रुपये मास का खर्चा लगता है[2]। "भारत कल्याण" की भिखारिन हीरा अपनी लड़की श्यामा के विवाह के लिए परेशान है, क्योंकि उसकी निर्धनता[3], कन्यादान में धन चाहती है और समाज एवं सभ्यता पर कर बांधती है। लेकिन नाटककार ने इसके उत्तरदायित्व को नवयुवकों पर छोड़ा है। पूरन अपने चाचा रामजब से स्पष्ट कह देता है[4] कि वह शादी में दहेज न लेने की प्रतिज्ञा कर चुका है। उसका दाम न चुकाया जाय। इसी प्रकार "जयंत" में अशोक स्पष्ट कहता है कि --" मैं किसी गरीब की पढ़ी-लिखी कन्या से विवाह करूंगा, मुझे दीन-दु:खियों की सेवा के लिए एक संगी चाहिए, धन-दौलत नहीं[5]।" नाटककार ने यह तथ्य सामने रखा है कि जब तक युवा वर्ग ही आगे बढ़कर इसका विरोध न करेगा, तब तक समस्या का दूर होना कठिन है।

देवीप्रसाद के "आदर्श महिला" नाटक में दहेज को एक बहुत बड़ी सामाजिक बुराई माना है। जिससे समाज में कन्याओं का जीवन बर्बाद होता है। दहेज के कारण ही माता-पिता अपनी कन्याओं को वृद्धादि के साथ ब्याह देने लगे। दुर्गावती का विवाह आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण ही उसके माता-पिता किसी वृद्ध के साथ विवाह कर देते हैं और फिर वह विधवा का जीवन व्यतीत करती है। यह सब दहेज का ही परिणाम है। शकुन्तला इस तथ्य को कहती हैं--"दु:खदाई,दान-दहेज और ठहराव की घातक कुप्रथाओं के कारण अनेकों हिन्दू लड़कियाँ

---

१ उमाशंकर सरसंठ :"अनोखा बलिदान",१९२८ई०,प्र०सं०,पृ०१७,अंक १,दृश्य २
२ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "सन्यासी",१९२९ई०,प्र०सं०,पृ०१३,अंक १
३ विज्ञान विशारद : " भारत कल्याण",१९३२ई०,प्र०सं०,पृ०५,अंक१, दृश्य१
४ वही,पृ०६३-६५, अंक २, दृश्य७
५ रामनरेश त्रिपाठी :"जयंत", १९३४ई० , पृ०७५, अंक३,दृश्य१,प्र०सं०

को उनके माता-पिता --- के कारण बड़ी-बड़ी अवस्था तक अविवाहित रहना पड़ता है ----- अनेकों प्रकार से अपनी जीवनलीला समाप्त कर लेती है --- ।[1]" नाटककार इस कुप्रथा को हटा देना चाहता है ।

यही कारण है कि कन्या का जन्म पिता के लिए अशुभकर होने लगा । उसकी बढ़ती हुई वय, पिता की मानसिक उलझनों को बढ़ाती जाती है । धनीराम एक निर्धन व्यक्ति है, उस पर से तीन बेटियां हैं । वर के पिता के लालची वृत्ति के कारण वह परेशान है---" आजकल निर्धनों के गृह में कन्या का जन्म होना भी एक बड़ा पाप है --- ।[2]" धनी वर्ग ने वर पक्ष को अधिक दहेज देकर दहेज को और भी आवश्यक बना दिया है । विजय शुक्ल की पतिता में माधव व लक्ष्मी बेटी सरस्वती के विवाह में खूब धन देते हैं, जिसका विरोध राघु करता है --"चाची ! सचमुच इस तरह बेतहाशा रुपये देने से फिर बेचारे गरीब अपनी लड़कियों का ब्याह कैसे कर सकेंगे[3] ? माध्वाचार्य रावल ने अपने नाटक में नारी को स्वयं में सबल होने की प्रेरणा दी है । आर्थिक विपन्नता के कारण रूपा और व चतुर बेटी सरोजा का विवाह नहीं कर पा रहे हैं ।[4]" --- घर में एक पैसा नहीं --- सामग्री नहीं, सरोजा का ब्याह, हे प्रभु! कैसे हो ?" लेकिन इस चिन्ता को सरोजा ने समाज के विरोध में खड़े होकर स्वयं ही सुलझाया है । वृन्दावनलाल वर्मा के गोकुल जैसे युवा दहेज के पक्ष में नहीं है । पुनीता की मां भिखारिन जब दहेज के लिए आंचल में बंधे एक रुपये को निकालती है तो गोकुल कहता है--" दहेज ! मेरे[5] माता-पिता दहेज में मुझे आपको दे देंगे । आप मुझे ---- उनके हवाले कर देना ।" इसी प्रकार 'पीले हाथ' में लड़की के पिता बंशीलाल तथा लड़के के पिता गयाप्रसाद दोनों दहेज प्रथा के खिलाफ हैं ।[6]

---

1. देवी प्रसाद : आदर्श महिला, 1938 ई०, प्र.सं., पृ. 30, अंक 1 दृश्य 2
१ नत्थीमल उपाध्याय : "धनी और निर्धन", १९३८ई० ?, पृ०७, अंक १, दृश्य १
२ विजय शुक्ल : "पतिता", १९३८ई०, ? , पृ०६ ५७, अंक २, दृश्य १
४ माध्वाचार्य रावल : "सरोजा का सौभाग्य", १९४२ई०, पृ०३ दृश्य१
५ वृन्दावनलाल वर्मा : "बांस की फांस", १९४७ई० ? , पृ०६५, अंक २ दृश्य ३
६ वृन्दावनलाल वर्मा : "पीले हाथ", १९४७ई०, प्र०सं०, पृ०७, दृश्य २

हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'विषपान' नाटक में राजकुमारी कृष्णा नहीं समझ पाती कि कन्या जीवन का कोई भी मूल्य क्यों नहीं है ? कन्या को लोग मारना अधिक अच्छा समझते हैं। रमा उसका एक मात्र कारण दहेज ही बताती है।[1]

इस प्रकार समस्या तो वास्तव में अपने में काफी गम्भीर है, लेकिन पुनर्जागरण काल में इस समस्या का विरोध होने पर भी आज भी समाज के ऊपर यह हावी है। नाटककारों ने दहेज-प्रथा के विरोध में ही अपने मत व्यक्त किए हैं।

दाम्पत्य जीवन

स्त्री-पुरुष जब विवाह द्वारा एक ही नये जीवन का आरंभ करते हैं, तो उनके उस दाम्पत्य जीवन की भित्ति एकमात्र विश्वास पर ही टिक सकती है। यदि दोनों परस्पर विश्वास करें तो जीवन में असंगतियां उत्पन्न हो ही नहीं सकतीं हैं। जहां विश्वास का अभाव होगा, वहीं पर सुख और शान्ति प्राप्त न हो सकेगी। दाम्पत्य जीवन में अविश्वास का उत्पन्न होना ही समाज में होने वाली विवाह -विच्छेदता का कारण है। जहां दाम्पत्य-जीवन पति-पत्नी के द्वारा सफल होता है, वहीं इस जीवन को सरल बनाने में समाज का भी बहुत बड़ा हाथ होता है। यदि समाज विवाह विषयक अपने अवांछित अधिकारों का उपयोग करता है, तो दाम्पत्य जीवन कभी भी सफल नहीं हो पाता है। सामाजिक रूढ़ि नियम जीवन को अति कठिन बना देते हैं।

आलोच्यकाल में नाटककारों ने अपने नाटकों में उपर्युक्त दोनों कारणों पर ही दाम्पत्य जीवन की सफलता तथा असफलता का चित्रण किया है। पति-पत्नी के विचारों में साम्य न होने पर उनका दाम्पत्य जीवन कितना दु:खमय हो जाता है, यह नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अशोक' नाटक में भवगुप्त एवं उसकी पत्नी विमला के जीवन से विदित होता है। विमला अत्यन्त महत्वाकांक्षिणी स्त्री

---

१ हरिकृष्ण प्रेमी : 'विषपान', १६५१, च०सं०, पृ०८५, अंक ३, दृश्य २

अपने पति की सहृदयता को सहन नहीं कर सकती है । भवगुप्त की उदारता, दयार्द्रता उसे असन्तोष से भर देती है । भवगुप्त[1] उसके इस स्वभाव के कारण कभी भी सुख-शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता । उसका दाम्पत्य जीवन टूट जाता है । वेश्या - वृत्ति ने जीवन के दाम्पत्य भाव को अत्यन्त विशृंखलित कर दिया है। बालकृष्ण भट्ट के 'शिक्षादान' नाटक में मालती विवाहित होने पर भी पति के साथ जीवन का उपभोग नहीं कर पाती[2], क्योंकि उसका पति वेश्यागामी हो जाता है और उन लोगों का दाम्पत्य जीवन, उससमय तक के लिए नष्ट हो जाता है, जब तक पति जीवन की सच्चाई को समझ नहीं पाता । आलोच्यकाल में वेश्यावृत्ति समाज की एक प्रमुख समस्या थी, जिसके कारण स्त्री-पुरुष का दाम्पत्य जीवन अत्यन्त दुःखद हो रहा था । पुनरावृत्ति न हो-- इस कारण अध्याय ६ को इस विषय के लिए विस्तार से देखें । समाज ने दुधमुंही बच्चियों का विवाह कर दाम्पत्य जीवन को एकदम नष्ट कर डाला । तुलसीदास शैदा[3] के 'नन्हीं दुल्हन' नाटक में बाल-विवाह ने अनेक दम्पतियों को जीवन में असफल किया है । समाज की इन कठोर एवं अंध-प्रथाओं ने तो जीवन के दाम्पत्य रूप को एकदम समाप्त-सा ही कर रखा था । मध्ययुग में दाम्पत्य जीवन पर समाज हावी था ।

लेकिन इसके विपरीत पुनर्जागरण काल में पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभाव ने नारी को गलत मार्ग दिखाकर परिवार के अस्तित्व को ही समाप्त करना चाहा । सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश' नाटक में दाम्पत्य जीवन की असफलता में हमें यह एक प्रमुख कारण दिखाई देता है । रुक्मिणी और दामोदरदास परस्पर पति-पत्नी हैं । लेकिन युगल दम्पति पाश्चात्य ढंग से ही जीवन व्यतीत करते हैं । जब दोनों की ही मनोवृत्ति एक-सी है, तो उनमें सन्देह का स्थान न होना चाहिए, लेकिन नारी चाहे वह पूर्व की हो या पश्चिम की, पति पर एकाधिपत्य चाहती है । यही कारण है कि रुक्मिणी जब पति को मिस पेरिजा के साथ देखती है तो नारी सुलभ सन्देह में

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'अशोक', १९२७ई०, प्र०सं०, पृ०७०, अंक २, दृश्य ७
२ बालकृष्ण भट्ट : 'शिक्षादान', १९२८ई०, द्वि०सं०, पृ०३१, पर्दा ४
३ तुलसीदास शैदा : 'नन्हीं दुल्हन', १९३०ई०, ।?

उसका दाम्पत्य जीवन धीरे-धीरे कटु होने लगता है[1]। और एक दिन एकदम बिखर हो जाता है। विश्वास न होने के कारण ही इसी नाटक में महाराजा जयसिंह का दाम्पत्य जीवन सुखी नहीं रह पाता[2]। इन्दु के प्रति अविश्वास ही उसको व्यभिचारिणी बनाकर निकाल देता है, उसके बाद उस अविश्वास का परिणाम, जीवन में सुखी नहीं होने देता। नाटककार शिवरामदास गुप्त ने यह भी पक्ष सामने रखा है कि बिना विवाह किये वैवाहिक जीवन व्यतीत करने पर भी वह सफल नहीं हो पाता है। राजा यशवन्तसिंह रानी को भगाकर लाते हैं, लेकिन वे अपने यथार्थ दाम्पत्य जीवन को पुन: वापस नहीं ला पाते। क्योंकि रानी उन्हें सच्चा पत्नीत्व दे ही नहीं पाती। वह महसूस करते हैं कि "स्त्री" नाम विवाहिता का है, रखैली का नहीं। पुरुष[3] की प्रेमपात्र विवाहिता होती है, रखैली नहीं। अन्यथा जीवन बोझ हो जाता है।

गोविन्दवल्लभ पन्त की 'अंगूर की बेटी' नाटक में मोहनदास शराब की बुरी आदत[4] पड़ जाने के कारण अपने व पत्नी कामिनी के जीवन को अत्यन्त दु:खी बना देता है। उनका दाम्पत्य जीवन टुकड़ों में बिखर कर एकदम नष्ट हो जाता है।

वैवाहिक जीवन में एकपक्षीय सक्रियता कभी सफल नहीं हो सकती है। यदि स्त्री ही केवल व उसे सुखी बनाने में लगी रहे और पुरुष निष्क्रिय रहेगा तो दोनों ही सन्तोष नहीं प्राप्त कर पायेंगे। दोनों का परस्पर सहयोग ही वैवाहिक जीवन को सफल बना सकता है। किशोरीदास बाजपेयी, सुदामा से यही कहलवाते हैं--"सुयोग्य गृहिणी का कर्तव्य तो यही है कि अपना जीवन पति के जीवन से मिलाकर एक कर दे, परन्तु पति को भी सहसा अपनी सहचरी के मनोभावों की उपेक्षा न करनी चाहिए[5]।" यही कारण है कि सुदामा अपनी निर्धनता में भी दाम्पत्य जीवन से तृप्त है। परस्पर सहयोग एवं विचार साम्य न होने के कारण ही नाटककार

---

१ सेठ गोविन्ददास : 'प्रकाश', १९३५ई०, द्वि०सं०, पृ०१५०, अंक ३, दृश्य ३

२ वही

३ शिवरामदास गुप्त : 'गरीबों की दुनिया', १९३६ई०, प्र०सं०, पृ०८५, अंक२, दृश्य २

४ गोविन्दवल्लभ पंत : 'अंगूर की बेटी', १९३७ई०, प्र०सं०, पृ०११, अंक१, दृश्य १

५ किशोरीदास बाजपेयी : 'सुदामा', १९३८ई०, पृ०२५, अंक १, दृश्य३ ।

परिपूर्णानन्द वर्मा की रानी भवानी अपने पति नाटौर नरेश रमाकान्त को तृप्त नहीं कर पाती । रानी भवानी आदर्श लीक पर चलने वाली नारी है, जब कि उनके पति को अपनी पत्नी के विचार अच्छे नहीं लगते हैं, इसीलिए उन्हें एक दिन आत्मघात का विफल प्रयत्न करना पड़ता है[1]। नाटककार भगवतीप्रसाद वाजपेयी के "छलना" नाटक में इसका उल्टा है । बलराज आदर्श वृत्ति का सन्तोषी पति है, लेकिन कल्पना अत्यन्त चंचल मनोवृत्ति की होने के कारण जीवन में[2] तृप्त नहीं हो पाती । उनका दाम्पत्य जीवन अत्यन्त अशान्तिपूर्ण हो जाता है । फलतः बलराज को कल्पना की इच्छाओं की पूर्ति के लिए अध्यापक वृत्ति को छोड़कर फिल्म इण्डस्ट्री, अधिक धन कमाने के लिए जाना पड़ता है । उपेन्द्रनाथ "अश्क" ने दाम्पत्य जीवन की टूटन को नारी की आधुनिक शिक्षा में देखा है-- यह शिक्षिताएं केवल कंसर्ट में जाने के लिए स्वस्थ रहती हैं, लेकिन अपने पति और बच्चों से युक्त परिवार के लिए यह बीमार बन जाती हैं । रघु अपने भविष्य के दाम्पत्य जीवन की टूटती दीवार को, उमा से विवाह न करने का निश्चय कर बचाता है । जैसा उसके भैया-भाभी का दाम्पत्य जीवन है, वैसा ही उसे काम्य है । जयनारायण राय ने "जीवन संगिनी" नाटक में वैवाहिक जीवन के असुखी होने का कारण युवक वर्ग को भी बताया है । बाहरी चमक-दमक में रहने वाला कैलाश लण्डन पहुंचकर, अपने परिवार को ही भूल जाता है । उसे अपनी पत्नी हर तरफ से अधूरी लगने लगती है । फलतः वहां से लौटकर भी वह अपनी पत्नी से पृथक् रहता है । जब तक आचार-व्यवहार में समानता न होगी, जीवन सफल नहीं हो पायेगा ।

पृथ्वीनाथ शर्मा की कुमुद अपने प्रोफ़ेसर पति के साथ इसलिए सुखपूर्वक नहीं रह पाती कि उसके अन्दर अपनी स्वतन्त्रता के लिए भ्रमात्मक द्वन्द्व चलते रहते हैं । वह सोचती है कि मातृत्व उसकी स्वतन्त्रता में बाधक होगा । लेकिन फिर भी प्रो० साहब अपनी पत्नी को बड़े ही शान्तिपूर्ण ढंग से समझाते हैं । अतः ऊपर

---

१ परिपूर्णानन्द वर्मा : "रानी भवानी", १९३८ई०, प्र०सं०, पृ०६४, अंक २, दृश्य ६
२ भगवतीप्रसाद वाजपेयी : "छलना", १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०२४, अंक१, दृश्य५
३ उपेन्द्रनाथ "अश्क" : "स्वर्ग की झलक", १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०५१, अंक३
४ जयनारायण राय : "जीवन संगिनी", १९४१ई०, पृ०५०, अंक २

वे तो उन लोगों का जीवन अत्यन्त शान्त दिखाई पड़ता है [1], लेकिन अन्दर-ही-अन्दर दोनों में एक उलझन की कश-मकश व्याप्त रहती है। लेकिन पति के प्रयत्न से कुमुद अन्त में अपने दाम्पत्य जीवन को पूर्ण कर ही लेती है।

वस्तुत: दाम्पत्य जीवन की सफलता का अधिकांश भार पत्नी पर ही है। सेठ गोविन्ददास कृत "संतोष कहां ?" तथा "दु:ख क्यों ? में क्रमश: रमा और सुखदा का दाम्पत्य जीवन स्वयं उन्हीं के विचारों एवं कार्यों का फल है। पति के साथ-साथ चलकर पत्नीत्व को निबाहना ही उनका आदर्श है। यही कारण है कि वे अपने जीवन में दरार नहीं पड़ने देतीं। अभावों में भी तुष्ट हैं। रमापति मनुसाराम[2] से हर स्थिति में एक-सी रहती है, कभी कोई व्यर्थ की मांग नहीं करती। सुखदा जब देखती है कि पति को उसकी कमियां दिखाकर ठीक करने में वह अपने दाम्पत्य जीवन को ही बिगाड़ बैठेगी तो वह फौरन सम्हल जाती है, और अपने व्यक्तित्व को ही सम्पूर्ण रूप से पति के व्यक्तित्व में विलीन कर देती है[3]।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का अजीतसिंह पत्नी के होते हुए भी पूर्व प्रेम की ओर उन्मुख रहता है फिर उनका दाम्पत्य जीवन कैसे पनप सकता है। रानी और अजीतसिंह में बराबर विरोध रहता है। रानी उससे पहले ही[4] कहती है--" ---- मेरे नारीत्व में जो कुछ कमी है, आप उसे पूर्ण करेंगे -- ।" लेकिन न उसका नारीत्व ही पूर्ण हो पाता है, न जीवन ही। ऐसी स्थिति में विवाह के बाद जीवन कैसे पनप सकता है ?

इस प्रकार आलोच्यकाल के नाटककारों ने दाम्पत्य जीवन में पति एवं पत्नी दोनों के सहयोग को अपेक्षित बताया है। पति-पत्नी, इन दोनों में से कोई भी एक किसी बुरी प्रवृत्ति या अहं का शिकार हो जाता है, तो वह जीवन बर्बाद ही कर डालता है। दाम्पत्य-जीवन को सुन्दर, सरल बनाने के लिए "विश्वास" की बहुत आवश्यकता है।

---

१ पृथ्वीनाथ शर्मा : "साध", १९४४ई०, पृ०५९, अंक ३, दृश्य २
२ सेठ गोविन्ददास : "संतोष कहां ?", १९४५ई०, पृ०११, अंक१
३ सेठ गोविन्ददास : "दु:ख क्यों ?", १९४६ई०, पृ०४९, अंक२
४ आचार्य चतुरसेन शास्त्री : "अजीतसिंह", १९५९ई०, पृ०९०, पृ०९०, अंक ३, दृश्य३

अध्याय -- ६ :

नारी का पारिवारिक रूप

अध्याय -- ६

नारी का पारिवारिक रूप

पत्नी-रूप

समाज की इकाई पति-पत्नी ही होते हैं । इन्हीं दोनों के सम्बन्धों से परिवार का एवं समाज का संगठन होता है । अत:यह मानव जीवन के सम्बन्धों में से एक महत्वपूर्ण सम्बन्ध है । भारतीय संस्कृति पति-पत्नी के सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर का मानकर चलती है । एक बार जब भी कोई पुरुष या स्त्री पति-पत्नी के सम्बन्धों में बंध जाते हैं,तो उनका वह सम्बन्ध अटूट हो जाता है । पति-पत्नी के सम्बन्ध की यह विशदता ही जीवन का प्राण था । प्राचीन भारतीय समाज में पति की पत्नी अर्धांगिनी, सहधर्मिणी एवं सहचरी थी । जीवन में दोनोंका महत्व समान था । पत्नी का पति के साथ हर कार्य में समान महत्व था । यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठान बिना पत्नी के पूर्ण नहीं हो सकते थे । उसकी उपस्थिति अनिवार्य रहती थी । लेकिन कालान्तर में,विशेषकर मध्ययुग में ज्यों-ज्यों स्त्री की सामाजिक स्थिति हीन होने लगी, त्यों-त्यों पति-पत्नी सम्बन्ध की विशदता में भी एक संकुचन आ गया और पत्नी- पति की केवल अनुगता भर रह गई । उसका एक दासी से अधिक और कोई स्थान नहीं रह गया । मध्यकाल की वैराग्य दृष्टि ने उसकीस्थिति को और अधिक हीन कर दिया था । १९ वीं शताब्दी में पति-पत्नी सम्बन्ध की वही परम्परा समाज में विद्यमान थी । पति-पत्नी के सम्बन्धों में इतनी अधिक तिक्तता उत्पन्न हो गई थी कि दैनिक जीवन अत्यन्त अवसादपूर्ण रहता था । फलत: नाटककारों के सामने पति-पत्नी के सम्बन्धों की उलझनों को रोक कर एक आदर्श बिन्दु पर पहुंचाने का प्रमुख उद्देश्य वर्तमान था । उन्होंने नारी-समाज के सामने प्राचीन आदर्शात्मक नारी चरित्रों को प्रस्तुत किया और साथ ही इन आदर्शात्मक नारी -

चरित्रों के माध्यम से पुरुष समाज के सामने उनके महत्व को दर्शाया ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस समस्या को ध्यान में रखते हुए अपने नाटकों में प्राचीन आदर्शात्मक नारी-चरित्रों को चित्रित किया है । 'सती-प्रताप' नाटक में सावित्री एक आदर्श कन्या है । विवाह के पूर्व ही सावित्री-सत्यवान के प्रति जिस भाव को धारण करती ही है, उसे वह छोड़ नहीं सकती, वह निश्चय कर लेती है कि अब इस जन्म में दूसरा पति हो ही नहीं सकता । वह यह मानती है कि "पत्नी का सुख एकमात्र पति की सेवा है, जिस बात में प्रियतम की रुचि उसी में सहधर्मिणी की रुचि ।"[1] स्पष्ट है कि नाटककार ने सावित्री के माध्यम से पतिव्रत-धर्म को ही सर्वोपरि माना है । "सत्य हरिश्चन्द्र" में रानी शैव्या पति के लिए पहले अपने को ही बेच देती है[2] । पति के बुरे दिनों में भी वह नारी अपने पत्नीत्व से नहीं डिगती । पत्नी के लिए पति ही सब कुछ है । ब्रजरत्नदास लिखते हैं--"नाटककार ने सहज स्त्री-सुलभ संकोच, लज्जा, पति के प्रति दृढ़ विश्वास तथा श्रद्धा उनकी एक-एक बात में भर कर रख दी है । पति ही पत्नी का सर्वस्व है, ऐसा मानते हुए भी वह अपनी शंका तथा सम्मति कह देना उचित समझती ह थी[3] ।बालकृष्ण भट्ट की दमयन्ती जब अपने को पतिविहीन जंगल के बीच देखती है, तो उसके दुःख की सीमा नहीं रहती । राजा नल उसे छोड़कर चले जाते हैं । वह उसी समय अपना अन्त कर देना चाहती है । एक तपस्वी के द्वारा रोके जाने पर कहती है--" --- महाभाग, पतिहीन नारी का जन्म विफल है । पति-विरह -यंत्रणा हम किसी तरह सह न सकेंगी --[4] ।" पति से युक्त रहने में ही नारी जन्म सार्थक है ।

हनुमन्तसिंह रघुवंशी ने भी पत्नी की पति के प्रति एकनिष्ठता को ही महत्ता प्रदान की है । उन्होंने सुशीला और शशिकला के पत्नी आचरण का उदाहरण उपस्थित किया ह । यह दोनों नारियां अपने पत्नीत्व के प्रति सजग हैं ।

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : "सती प्रताप", १८८३, भा०ना०प्र०सं०, पृ०७७२, अंक ३

२ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : "सत्य हरिश्चन्द्र", १८७५, भा०ना०, पृ०सं०, पृ०४४६, अंक ३

३ बा० ब्रजरत्नदास : " भारतेन्दु हरिश्चन्द्र", पृ०१२०, जन्मशताब्दी संस्करण, १९५०ई०

४ बालकृष्ण भट्ट : " दमयन्ती स्वयम्बर", १८९२ में प्रकाशित, अंक ७, सम्पा०१९४२ प्र०सं०, पृ०५७ ।

सुशीला कहती है -- "स्त्रियों की सुन्दरता अपने पति से ही है[1]।" शालिग्राम वैश्य के "मोरध्वज" नाटक में पतिव्रता पर जोर दिया गया है। मोरध्वज की पत्नी तथा ताम्रध्वज की पत्नी दोनों पतिपरायण है। ताम्रध्वज की मृत्यु हो जाने पर उसका विलाप उसकी पति भक्ति से पूर्ण प्रतीत होता है[2]। लाला विश्वम्भर सहाय व्याकुल की तारामती भी पत्नी आदर्श को अच्छी तरह जानती है। वह अपने पति के सत् प्रण को रखने के लिए सब कुछ सहने को तैयार है। वह स्वयं बिक कर स्वामी के प्रण को पूरा करने में सहयोग देती है[3]।

राधेश्याम कथावाचक ने पौराणिक आख्यान से सन्दर्भ लेकर पत्नी के लिए पतिव्रत को ही महत्व प्रदान किया है। पत्नी के लिए पति ही सब कुछ है, चाहे जैसा भी हो पत्नी को पूरे मन से उसकी सेवा करनी चाहिए। श्रवणकुमार की पत्नी विद्यादेवी एक पतिपरायण पत्नी है। उसका सम्पूर्ण जीवन इसी प्रकार व्यतीत होता है[4]। इसी प्रकार उत्तरा, पति पर अगाध प्रेम होते हुए भी, अपने कर्तव्य को नहीं भूलती। पत्नी पति के प्रत्येक कार्य में साधक है, बाधक नहीं। इसीलिए वह पति की प्रतिज्ञा की रक्षा-हेतु उसे सहर्ष रण के लिए विदा करती है[5]। माखनलाल चतुर्वेदी के कृष्णार्जुन-युद्ध नाटक में सुभद्रा पति अर्जुन की वीरता में कलंक नहीं लगने देना चाहती। भले ही उन्हें भाई कृष्ण से ही युद्ध क्यों न करना पड़े। अर्जुन कृष्ण से युद्ध करने के लिए तैयार नहीं होते। सुभद्रा पति को इस प्रकार निष्क्रिय होते देख अपने पत्नीत्व के अधिकारों का उपयोग करके कहती है-- "..... आप भाई की आज्ञा मान अन्याय की ओर से आंख मीच कर घर में बैठिए और यह सुभद्रा उसी अन्याय का विरोध करने के लिए अपने भाई से लड़ेगी।

---

१ हनुमन्त सिंह रघुवंशी - "सती चरित्र नाटक", १९१०, द्वि० सं०, पृ०२५,अंक२

२ शालिग्राम वैश्य - "मोरध्वज", १९१४- प्र०सं० ,पृ० १५२, अंक५

३ विश्वम्भर सहाय व्याकुल- "हिन्दी हरिश्चन्द्र नाटक", १९१४,प्र०सं०,पृ०६२ अंक ३ दृश्य १

४ राधेश्याम कथावाचक - "श्रवण कुमार" १९१६, प्र०सं०,पृ०८६, अंक २ सीन १
"नारी का पति ही ईश्वर है पति ही प्राणाधार।
पति ही सार वस्तु है जग में और झूठा संसार॥"

५ राधेश्याम कथावाचक - "वीर अभिमन्यु", १९१८, पृ० ४५ अंक १, सीन ५

कृपाकर अपने शस्त्र मुझे दे दीजिए, जिससे --- वीर पत्नी के नाम को सार्थक कर सकूं[1]। नारी का वास्तविक पत्नीत्व यही है। वह पति के लिए एक प्रेरणा है। जमुनादास मेहरा पत्नी के आदर्श को व्यक्त करने के लिए सती चिन्ता का चरित्र उपस्थित करते हैं। चिन्ता ने जिस पति-भक्ति के आचरण[2] का उदाहरण दिया, नाटककार नारी से वैसे ही आचरण की आशा करता है।

कुंजीलाल जैन कृत "धर्मंजय" में मयंकमोहिनी एवं गोमती पर भी पातिव्रत्य धर्म का पूरा-पूरा[3] प्रभाव है। एक के प्रति कर चुके दान को वह फिर किसी को नहीं दे सकती। बलदेवप्रसाद खरे की कलावती का पति के प्रति अगाध प्रेम नारी जाति के लिए[4] एक चिरस्थायी आदर्श बन चुका है। पति-भक्ति, ईश-भक्ति से पहले करणीय है। इसी से साधु सदानन्द की पत्नी भी समय-समय पर पति को ईशोपासना की ओर प्रेरित करती रहती है। प्रेमचन्द की शान्ती एक ऐसी पतिव्रता है, जो हर क्षण पति के सुख, शान्ति की ही चिन्ता करती रहती है। चेतनदास द्वारा अपने शरीर पर बलात्कार करने से वह इतनी अधिक विक्षुब्ध हो जाती है कि फिर अपने को उसके लायक नहीं समझती और आत्मघात द्वारा अपने बलात् झूठा किए हुए पत्नीत्व को ही समाप्त कर देती है। राजेश्वरी हलधर की सच्ची पत्नी है। उसका मन पूरी तरह से परिवार तथा पति में रमा हुआ था। लेकिन अपने ऊपर जमींदार सबल सिंह की बुरी नज़र देखकर वह बदला लेने के लिए उद्यत हो जाती है। वह अपने पति के स्थान पर किसी और का प्रयत्न बिल्कुल नहीं सहन कर सकती। "वह ढोंग किसी भक्त ने अपने इष्टदेव को चढ़ाने के लिए एक थाल से भरा था। जिसे आप प्रेम कहते हैं वह कामलिप्सा थी --- मैं अगर यह घोर अपमान चुपचाप सह लेती तो[5] मेरी आत्मा का पतन हो जाता। मैं यहां इस अपमान का बदला लेने आई ---।"

---

१ माखनलाल चतुर्वेदी : "कृष्णार्जुन-युद्ध", पृ०७६, १९१८ई०, अंक ३, दृश्य ७

२ जमुनादास मेहरा : "सती चिन्ता", द्वि०सं०, पृ०३४, अंक १, दृश्य ७

३ कुंजीलाल जैन : "धर्मंजय", १९२१ई०, प्र०सं०, पृ०११२, अंक३, दृश्य १

४ "पति ईश्वरमें जान लो, एक बराबर शक्ति है।
प्रभु-सेवा से भक्ति है, पति-सेवा से मुक्ति है।।"
--बलदेवप्रसाद खरे : "सत्यनारायण", १९२२ई०, पृ०५०, अंक २, दृश्य १

वह रानी का हक छीनने नहीं वरन् अपने पत्नीत्व के अपमान का बदला लेने आई। इन्द्रियों का संग्राम जीवन को विशृंखलित कर देता है। रामेश्वरीप्रसाद 'राम' के मत में नारी के समस्त सुखों का आधार पति ही है। "पतिसेवा ही नारी का शृंगार है।"[1] जयशंकर "प्रसाद" की वासवी एक पति परायणा पत्नी है, उसका पत्नीत्व हरक्षण पति के साथ रहता है। निराशा तथा क्षोभ के क्षणों में जब बिम्बसार रहते हैं, तो वह उन्हें अपनी सरल व स्नेहपूर्ण वाणी से दूर करने का प्रयत्न करती है। पति की सेवा ही करना चाहती है। सपत्नी छलना द्वारा राजमाता पद की इच्छा करने पर वह पति के साथ-साथ सब कुछ त्याग कर मात्र पति-सेवा में ही तृप्त रहती है-- "---- मैं वहाँ नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूँगी।"[2] राजमहिषी हो करके भी नारी जन्म की सार्थकता पति-सेवा में ही मानती है। कौशल के लिए प्रयाण करते समय उसे किसी बात का क्षोभ नहीं रहता, केवल रहता है तो यही कि पति को छोड़ना पड़ेगा। वह सपत्नी छलना को आर्यपुत्र की सेवा सौंपती हुई कहती है कि "यदि हो सके तो आर्यपुत्र की सेवा करके नारी जन्म सार्थक कर लेना।"[3] वह एक आदर्श पत्नी है। "वासवी उस नारी का प्रतिनिधित्व करती है, जो बुद्धि और हृदय का समन्वय करती हुई विषम पथ की संकीर्णता को मिटाकर सामंजस्य स्थापित करती है।"[4]

"प्रसाद" जी ने स्त्री के लिए पति को ही सब कुछ माना है। उन्होंने अपने चित्रण में पत्नी के इस भाव को कहीं भी खण्डित नहीं किया है। पद्मावती का भी पति उदयन के प्रति यही भाव है। मागन्धी के षड्यन्त्र से प्रेरित हो जब उदयन उसे मारने के लिए उद्यत होते हैं, तो वह उसे सौभाग्य मानकर बड़े शान्तिपूर्ण ढंग से उसे स्वीकार कर लेती है। पति का साथ इस जन्म में ही परलोक में भी प्राप्त होगा -- ऐसा वह मानती है। "इस जन्म के सर्वस्व! और पर जन्म के स्वर्ग! तुम्हीं मेरी गति हो और तुम्हीं मेरे ध्येय हो, जब तुम्हीं क्रुद्ध हो तो प्रार्थना किसकी करूँ?"[5] जयशंकर "प्रसाद" की नारी कहीं भी पति का अपमान नहीं चाहती, वह उसे अपना सर्वस्व मानकर

---

1 रामेश्वरीप्रसाद 'राम' : "प्रेमयोगिनी", १९२४ई०, पृ०५७, अंक२, दृश्य२
2 जयशंकर "प्रसाद" : "अजातशत्रु", पृ०३८, अंक१, दृश्य २, 1932, पु.सं. (10वाँ सं. 1943)
3 जयशंकर "प्रसाद" : "अजातशत्रु", पृ०१३६, अंक३, दृश्य१
4 डा० प्रेमलता अग्रवाल : "हिन्दी नाटकों में नायिका की परिकल्पना", पृ०११७, प्र०सं०, १९६९ई०।
5 जयशंकर प्रसाद : "अजातशत्रु", प्र०सं०, १९२२, पृ०७२-७३।

चलती है । कन्हैयालाल भरतपुर के नाटक में सावित्री को विदा देते समय उनकी माँ पति के आदेशानुसार[1] रहने का ही उपदेश देती हैं । ---`पति की आज्ञा से बाहर होना महापातक है ।

बलदेवप्रसाद मिश्र की भारती में भारतीयता पूरी तरह व्याप्त है । पति के कार्य में वह बाधक नहीं, साधक है । वह पति के सन्यास व्रत में बाधक नहीं है । विवाह के बाद पति-पत्नी एकात्म हो जाते हैं, उनका वियोग कभी सम्भव नहीं --` जिस[2] स्त्री के कारण पति को अपने धर्माचरण में बाधा आई, वह स्त्री ही नहीं है । -- ।" शास्त्रार्थ के समय निर्णय के भार ने उसके हृदय में जो हलचल, चिन्ता फैला दी, वह सच्ची पत्नी के हृदय की है । वह नहीं समझ पाती कि पति व शंकराचार्य के बीच होने वाले शास्त्रार्थ का कैसे निष्ठुर न्याय कर पायेगी । लेकिन फिर अपने निर्णय का भार दोनों के गले में माला डालकर उसकी हरीतिमा पर छोड़ देती है, और अपने कर्तव्य को बड़े ही संयम से पूर्ण करती है । वस्तुतः आलोच्यकाल के अधिकतर नाटककारों ने पत्नी के पति के प्रति एकनिष्ठ आचरण पर ही जोर दिया है[3] । सुरेन्द्र-चन्द्र जैन की किशोरी भी पत्नी रूप में किसी अन्य पति को, स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकती है । पति कमल किशोर के विदेश चले जाने पर जब दासी उसे बहकाने का प्रयत्न करती है तो वह उसे धिक्कारती है--`धिक्कार है,तो तुम्हारी[4] जैसी औरतों को जो क्षणिक सुख के लिए अपने कुल शील संयम को त्याग देती है--- ।" सब के द्वारा सन्देह का पात्र बनने पर भी वह अपने पति के प्रति एकनिष्ठ भाव को नहीं छोड़ती है । जमुना-दास मेहरा के पाप-परिणाम[5] में नारी की इसी भावना का समर्थन किया है,जिसके बिना जिन्दगी सरल नहीं हो पाती । दरबार प्रसाद जालान की सरस्वती एक आदर्श पत्नी है। वह पढ़ीलिखी सुशिक्षिता होते हुए भी पति की अनुगता ही रहती है । वह अपने पति से कहती भी है -- " भारत की महिलायें अपने पतिदेव के ही अधिकार में रहना अपना

१कन्हैयालाल भरतपुर :`शीलसावित्री नाटक`,१६२३ई०, प्र०सं०,पृ०४१-४२,अंक२,गर्भांक६

२बलदेवप्रसाद मिश्र :`शंकरदिग्विजय`,१६२३ई०,पृ०६८,अंक४, दृश्य५

३ नन्दकिशोरलाल वर्मा :`महात्माविदुर`,१६२३ई०,प्र०सं०,अंक १,दृश्य ४,पृ-६ ।

४ सुरेन्द्रचन्द्र जैन :`कमलकिशोर नाटक`,१६२३ई०,प्र०सं०,पृ०५६,खण्ड३,दृश्य२।

५ जमुनादास मेहरा :`पाप-परिणाम`, १६२४ई०,प्र०सं०,पृ०३८,अंक १,दृश्य५

सौभाग्य समझती है ---[१] ।" रामशरण, 'सतीलीला' नाटक में पार्वती के आदर्श आचरण को चित्रित करते हैं । पौराणिक चरित्रों को वस्तुत: नाटककारों ने प्रेरणा स्वरूप चित्रित किया है । शिव सती के पातिव्रत की प्रशंसा करते हैं[२] । पं० रेवतीनन्दन भूषण ने पत्नी कर्तव्य के साथ-साथ स्त्रियों को राष्ट्रीय सहयोग के लिए भी उन्मुख दिखाया है । परीक्षित की रानी इरावती यही विचार रख देश के लिए कुछ करने को अपना कर्तव्य समझती है । "पति-सेवा से वंचित रहने में एक हिन्दू-स्त्री को जो कष्ट होता है, सह लूंगी --- परन्तु यह कभी न सुनूंगी कि भारतपर अत्याचार है --[३] ।" इसी प्रकार विपदा पति के दु:ख से दु:खी हो अकर्मण्य नहीं बनती, वरन् वह अपने कर्तव्य को करती चलती है, "अपने स्वामी को दु:ख सागर में गोते खाते देखकर नारी धर्म रोना और अश्रु बहाना नहीं, अपना कर्तव्य निभाना है[४] ।" तुलसीदत्त शैदा की जनकनन्दिनी स्त्री-समाज के सामने पति-भक्ति का आदर्श उपस्थित करती हैं । राम की वनवास आज्ञा का वह उल्लंघन नहीं करती, वरन् कहती हैं कि --" यह जन्म भर का वनवास नहीं --- स्त्री-धर्म की गुप्त शिक्षा है । मैं इस पवित्र शिक्षा को प्राप्त कर पति-आज्ञा को अमर बनाऊंगी । पति-भक्ति किसे कहते हैं,--- स्त्री-समाज को दिखाऊंगी[५] ।" जयशंकर 'प्रसाद' की सरमा को यद्यपि पतिकुल से अपमानित होकर निकलना पड़ता है, लेकिन फिर भी पति के प्रति पत्नी का जो राग होता है, वह सरमा के हृदय के से समाप्त नहीं होता । उसका अनुराग कोमल होने के साथ-साथ दृढ़ है । स्नेह के लिए मर मिटने की भी लगन उसमें होती है । सरमा जब सुनती है कि पति वासुकि संकट में हैं तो वह उसी राजकुल में जिसमें से अपमानित होकर निकाली गई थी, पुन: कार्य सिद्धि के लिए दासी बन जाती है । पति की रक्षा के लिए उसका अपमानादि विलुप्त हो जाते हैं[६] । जनमेजय की रानी वपुष्टमा ने भी ही सरमा का

---

१ हरद्वारप्रसाद जालान : 'कृष्णेन्द्र', १९२४ ई०, प्र०सं०, पृ०४७, अंक १, दृश्य४

२ रामशरण : 'सतीलीला', १९२५ ई०, प्र०सं०, पृ०८८, अंक २, सीन ८

३ पं० रेवतीनन्दनभूषण : 'कर्मवीर नाटक', १९२५ ई०, प्र०सं०, पृ०४६, अंक १, दृश्य५

४ वही, पृ० ८०, अंक २, दृश्य २ ।

५ तुलसीदत्त शैदा : 'जनकनन्दिनी', १९२५ ई०, प्र०सं०, पृ०६५, अंक १, दृश्य६

६ "नाथ ! अभिमान से मैं अलग हूं, किन्तु स्नेह से अभिन्न हूं --- तुम संकट में हो, यह सुनकर भला मैं कैसे रह सकती हूं --- तुम्हारे लिए अपमानित सरमा राजकुल में दासी बनेगी ।" --जयशंकर प्रसाद : 'जनमेजय का नाग यज्ञ', पृ०५६-६०, सन१९२६, अंक २, दृश्य ५ ।

अपमान किया लेकिन वह भी पति के हर कार्य में मंगल की ही कामना करती है । यज्ञ के अवसर पर वह उत्तंक से यही कहती है, --" पति देवता के कार्य में मैं सहकारिणी रहूं, और मरण में भी पश्चात्पद न होऊं ।"[1] नारी, भले ही वह रानी हो या सरमा की तरह अपमानित हुई हो, हर जगह पत्नी का कर्तव्य पति के प्रति एक ही है। फिर भारतीय नारी तो सदैव से पति के लिए सच्ची सहयोगी रही है । हरिशरण मिश्र के विचार में पति के बिना उसके अरक्षित रहती है । शर्वाणी मालती के जीवन को देखकर महसूस करती है कि "पति के बिना युवती का जीवन मृत्यु से भी अधिक भयंकर है ।"[2] इन्होंने नाटककार ने "आत्मरहस्य" में आत्मा, शरीर आदि का मानवीकरण कर नाटक लिखा है, उसमें जीवन के आदर्श को चित्रित किया है । आत्मदेव अपनी पत्नी निष्ठा के चरित्र से पूर्णतया सन्तुष्ट हैं । निष्ठा हमेशा यही प्रयत्न करती है कि उसके पति को किसी प्रकार की तकलीफ न हो पाए । पति को मानसिक एवं शारीरिक कष्ट से भारतीय पत्नी अपने प्रयत्न भर बचाती रहती है । आत्मदेव कहते हैं,--" निष्ठा भारतीय सतियों के इसी उच्चादर्श के कारण भारतवर्ष का मस्तक इस पतनावस्था में भी, अन्य देशों के सामने गर्व से उठता है । सती स्त्रियां निस्सन्देह धन्य हैं, जो तन, मन, धन से सतीत्व की कठिन तपश्चर्या को झेलकर --"[3] । निरंजित मनदेव से कहती है -- अन्यत्र स्वतन्त्र रहने की अपेक्षा पति के चरणों में परतन्त्र रहना अधिक अच्छा है ।[4] वस्तुतः पत्नी के अधिकार पति के नियन्त्रण में रहने में हिन्दू नारी अधिक तुष्ट है । धर्मदेव शर्मा के लिए पति पर प्राण निछावर करना पत्नी का सर्वोच्च कर्म है ।[5] शिक्षादान की मालती पति के दुराचारी होने पर भी उसे देव भाव से देखती है । उसे कभी पति-सुख की प्राप्ति नहीं हुई लेकिन उसके बावजूद भी वह पति के प्रति अपनी भक्ति को संजोए रहती है ।[6] उमाशंकर बरमंडल के 'अनोखा बलिदान' की सुशीला सुरेन्द्र की साध्वी पत्नी है । वह अपने आदर्श की रक्षा के लिए

---

१ --"कर्मवीर कटक", "प्रसाद": "जनमेजय का नाग यज्ञ", १९२६ई०
पृ०७४, अंक३, दृश्य २

२ हरिशरण मिश्र : "भारतवर्ष", १९२७ई०, पृ०७६, वर्तमानांक, दृश्य४

३ हरिशरण मिश्र : "आत्मरहस्य", १९२८, प्र०सं०, पृ०८, पूर्वांक, दृश्य १

४ वही, पृ०३२, पूर्वांक, दृश्य १

५ धर्मदेव शर्मा : "धर्मवीर हकीकतराय", १९२८ई०, प्र०सं०, पृ०१०७, अंक१, सीन१

६ बालकृष्णभट्ट : "शिक्षादान", १९२८ई०, द्वि०सं०, पृ०१०, पर्दा ३

जरा भी विचलित नहीं होते ,चाहे उसे कितना बलिदान क्यों न देना पड़े । पति की मर्यादा-रक्षा हेतु वह अपने पुत्र की भी बलि दे देती है । उसका पत्नीत्व, मातृत्व पर भी विजय प्राप्त कर लेता है[1] । नाटककार सुदर्शन की अंजना के लिए पति ईश्वर सम है --"पति संसार में स्त्री के लिए ईश्वर समान है । जो उसे त्याग कर दूसरे को रिझाना चाहती है, वह मूर्ख है ---[2] । "सुमदा के षड्यन्त्र से वह सब के द्वारा तिरस्कृत होती है, लेकिन फिर वन-वन भटकती हुई पति की आशा में अत्यन्त संयम से जीवन व्यतीत करती है । सच्ची साधना तथा लगन से सुहाग को बचाती रहती है । नाटक के अन्त में विद्याधर उससे कहता है--"तुमने स्त्रियों का गौरव बढ़ाया है ---तुमने दिखाया है कि --- वे पति के लिए नगर तथा वन दोनों को एक समान जानती है[3] ।" दुर्गाप्रसाद गुप्त भी पतिव्रत का ही उपदेश देते हैं[4] ।

पश्चिमी जीवन से अवगत होने के बाद समाज का एक अंश पत्नी को उसी रूप में देखने की चाह करने लगा था । "भारत-कल्याण" नाटक में सिटी मजिस्ट्रेट रमाकान्त को पत्नी का आदर्शात्मक व्यवहार खलता है,और वह उसे त्याग कर मिस विट से से शादी कर लेता है । लेकिन पाश्चात्य पत्नीत्व केवल धन को,सौन्दर्य को चाहता है । वह उसको बीमारी की अवस्था में छोड़कर , धन लेकर चली जाती है, यद्यपि सफल नहीं हो पाती । भारतीय पत्नी पति द्वारा छोड़० दिए जाने पर भी उसके मंगल की कामना करती रहती है । अपने कर्तव्य से पुरुष हट सकता है, पर स्त्री नहीं[5] । सरला ही उसकी पुन: आकर सेवा करती है, और तब उसे पत्नी का महत्व पता चलता है । जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की रत्नावली पति को असंयमी होने के लिए धिक्कारती है,जिसके फलस्वरूप तुलसीदास में ज्ञान का उद्बोधन होता है और वे राम में लीन हो जाते हैं । तुलसीदास अपने इस जागरण की प्रेरणा पत्नी से पा कहते हैं--

----

१ उमाशंकर सरमंडल : "अनोखा बलिदान",१६२८ई०,प्र०सं०,पृ०३५, अंक १,परदा५

२ सुदर्शन : "अंजना", १६३०ई०, द्वि०सं०,पृ०१६, अंक १,दृश्य ४

३ वही, पृ०१७०, अंक५%,दृश्य ४

४ दुर्गाप्रसाद गुप्त :"आंख का नशा",१६३१ई०, द्वि०सं०

सरोजिनी -- पतिव्रता नारी का जग में,है पति ही शृंगार ।",पृ०५,अंक १,दृश्य१

५ विज्ञान विशारद :"भारत कल्याण",१६३२ई०, प्र०सं० ।

तुमने तो अपना कर्तव्य पालन किया, मुझ सोये को जगाया --- यही तो स्त्रियों का आदर्श धर्म है । पति को विषय भोग से बचाकर प्रभु के प्रेम में लगाना ही पत्नी का परम कर्तव्य है -- ।"[1] रामनरेश त्रिपाठी की कल्याणी दुराचारी पति से भी विमुख नहीं हो पाती , वह उसे राह में लाने का प्रयत्न करती है । अपने इस प्रयत्न में वह पति द्वारा छोड़ भी दी जाती है, लेकिन फिर भी उसमें वह पति के प्रति सर्वस्व व आराध्य का भावनिहित रहता है । पति के गिरफ्तार होने पर वह उसे छुड़ाने के लिए कुसुम के पास पहुंचती है । कुसुम द्वारा आश्चर्य व्यक्त करने पर वह कहती है--" कुछ भी हो, वे हैं तो मेरे पति हो, मैं उनकी पत्नी हूं । आर्य जाति की स्त्री हूं । हृदय में पति के लिए जो श्रद्धा, जो प्रेम परम्परा से मिलता आ रहा है, वह पति के दु:ख में द्रवित न हो, ऐसा असम्भव है ।"[2] वस्तुत: आलोच्यकाल की नारी किसी भी परिस्थिति में अपने आदर्श पत्नीत्व से पीछे नहीं हटी है । पति की सेवा वह अपना धर्म मानती है, यदि पति कुमार्गी है, तो उसे राह पर लाना अपना कर्तव्य मानती है ।

पुनर्जागरण काल में पाश्चात्य प्रभाव के कारण रोमानी प्रेम का प्राबल्य हो गया था, जिसके कारण परिवार विशृंखलित[3] हो रहे थे । नवयुग की तारा पति-सेवा को ही स्त्री का सबसे बड़ा सुख मानती है । लेकिन पति प्रौढ़ लाटक राजकुमारी के काल्पनिक प्रेम में फंस जाता है, और उसे एकदम भुला देता है । तारा जब पति को ढूढती हुई भीषणपुर पहुंचती है, और पति उसे समुद्र में फेंक देता है, तब नाटककार स्त्री-दशा के सामने मानों प्रश्न-चिन्ह लगा देता है । ऐसे पुरुष समाज पर वह व्यंग्य करता है । जब तक स्त्री-पुरुष दोनों अपने-अपने पत्नीत्व तथा पतित्व के प्रति सजग न होंगे, तब तक वे जीवन में कभी भी सफल नहीं हो सकते हैं ।

भारतीय नारी कभी भी पति की बुराई नहीं सुन सकती । "रत्नकुमार" नाटक में पति के आचरणहीन हो जाने पर भी सुन्दरी अपनी पड़ोसिन

----

१ जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी : "तुलसीदास", १६३४ई०, पृ०५५-५६, अंक ३, दृश्य ६

२ रामनरेश त्रिपाठी : "जयंत", प्र०सं०, पृ०७५, अंक ३, दृश्य १

३ प्रेमसहाय सिन्हा : "नवयुग", १६३४ई०, प्र०सं०, पृ०६२, अंक २, दृश्य ४

माँ की भर्त्सना नहीं सुन सकती । वह वहीं मना कर देती है--"न माँ, ऐसा न कहो, वह मेरे पति हैं और मेरे देवता हैं, मेरे सर्वस्व हैं। दयाकर मेरे सामने उनकी बुराई न करो --- ।"[1] ऐसी ही स्त्रियां अपने बिगड़े घर को पुनः आनन्दमय बना लेती हैं । रत्नकुमार जीवन में ठोकर खाने के बाद सुन्दरी के गुणों को समझ पाता है । वह कहता है, "निस्सन्देह, जहां सती है, वहीं स्वर्ग है --- ।"[2]

जहां नाटककारों ने वेश्या-समस्या को उठाया है, वहीं पर पत्नी का पातिव्रत्य ही अन्त में विजयी होता है । पत्नी अपने आचरण की पवित्रता से पति को पुन: घर वापस ले आती है । जमुनादास मेहरा की प्रभा का जीवन भी ऐसा ही चित्रित हुआ है । पति के दुराचारी होने पर भी, वेश्या के चंगुल में फंसने पर वह साफ कह देती है --" दयामयी । मैं पति के सिवा और किसी के सम्मुख शृंगार नहीं कर सकती --- स्त्रियों का रूप पतिव्रत है । मेरा यही रूप है -- ।"[3] सेठ गोविन्ददास ने भी आदर्शात्मक नारी-चरित्र को ही चित्रित किया है । कल्याणी एक आदर्श पत्नी है । वह ऐश्वर्य से दूर, एकदम निर्लिप्त है । पति की खुशी में ही वह तृप्त है । हमेशा पति अजयसिंह को खुशी करने की चेष्टा करती रहती है । दूसरी ओर अजयसिंह की पहली पत्नी इन्दु चाहे जैसे हो पति को प्रसन्न रखना चाहती है । इसी कारण वह स्वयं कल्याणी से अजयसिंह का द्वितीय विवाह करवाती है, जिससे पति को सन्तान प्राप्त हो सके । लेकिन दो वर्ष बाद जब उसको गर्भ रह जाता है, तो व्यभिचार के आरोप में राजा द्वारा निकाल दी जाती है, लेकिन फिर भी वह अपने स्थान पर पवित्र रहती है । वह पति के नाम पर किसी प्रकार का धब्बा न लगे, यही प्रयत्न करती रहती है । वह जानती है-- "हिन्दू स्त्री के लिए इहलोक और परलोक दोनों ही दृष्टिसे पातिव्रत से अधिक मूल्यवान् और कोई वस्तु नहीं है ।"[4] पति अपनी

---

१ पन्नालाल रसिक : "रत्नकुमार", १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०६०, अंक २, दृश्य ६

२ वही, पृ०१०२, अंक ३, दृश्य ७

३ जमुनादास मेहरा : "वसन्तप्रभा", १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०५७, अंक २, दृश्य३

४ सेठ गोविन्ददास : "प्रकाश", १९३५ई०, द्वि०सं०, पृ०१७६, अंक ३, दृश्य ७

प्रभुता से पत्नी की अवहेलना कर सकता है, उसपर दोषारोपण कर सकता है किन्तु पत्नी अपने आचरण को नहीं त्याग सकती । इसको इन्दु के जाने के बाद अजयसिंह महसूस करते हैं ।[1] राधाकृष्णदास के महाराणाप्रताप सिंह की रानी पतिसेवा में ही अपना जीवन सफल मानती है[2] । दुर्दिन में भी पति का साथ नहीं छोड़ती ।

पति-पत्नी का साहचर्य भाव एक-दूसरे को जीवन में प्रेरणा व कर्तव्य बताते चलते हैं । नाटककार कुंवर सिंह ने जीवन में पत्नी को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है--"प्रेम वह ---- है जो कर्तव्य के फूलों में ताजगी लाती है और पत्नी वह रात है, जो प्रेम के ओस-बिन्दु बरसाया करती है[3] ।" राजकुमार चन्द्रसिंह भी नाटक के अन्त में यही महसूस करते हैं " यदि कोई सच्ची अर्द्धांगिनी मिल गई तो हृदय में कितना असीम उत्साह भर जाता है, कर्तव्य की ओर कितनी सच्ची लगन हो उठती है[4] ।" पत्नी जब पति का प्रेम नहीं प्राप्त कर पाती तो उसे जीवन व्यर्थ-सा लगने लगता है । चन्द्रकला "भीम-विक्रम" नाटक में कीचक की पतिव्रता पत्नी है । पर कीचक का बदलता हुआ प्रेम उसके लिए अत्यन्त दु:खदायी हो जाता है । "---- स्त्री को अपने स्वामी के प्रेम का सहारा है, किन्तु जब वही प्रेम स्त्री के अधिकार से बाहर हो जाता है ---- तो बताओ स्त्री के लिए ---- रह ही क्या जाता है[5] ?" कुसुमप्यारी देवी भी पति व्रत धर्म का उपदेश देती हैं । सरदार बाई पति के साथ मरना-जीना ही पतिव्रत धर्म समझती है[6] ।

प्रो० सत्येन्द्र ने "जीवन-यज्ञ" नाटक में भारतीय पत्नीत्व को आत्मिक माना है जो कि अक्षरश: सत्य है । भारतीय पत्नी का आदर्श जन्म-जन्मान्तर का हो जाता है, और वह आध्यात्मिक स्तर को छूता है, जब कि पश्चिम की नारी का पत्नीत्व भौतिक होता है, वहाँ आत्मा के अस्तित्व का कोई महत्व नहीं । जगदेव की पत्नी वीरमती अपने कर्तव्यों के प्रति खूब सचेत है । वह अपने पति से कहती है- -

---

1. वही : पृ॰ १८ , अंक १ दृश्य २
2. राधाकृष्णदास : "महाराणाप्रताप सिंह", १६३५ई०, अष्टम सं०, पृ०७३, अंक ५, गर्भाङ्क ४
3. राजाकुंवर सिंह : "प्रेम के तीर", १६३५ई०, प्र०सं०, पृ०५, अंक १, दृश्य २
4. वही, पृ०१७६, अंक ३, दृश्य ३
5. पं०रामेश्वर चौमुवाल : "भीम विक्रम", १६३५ई०, पृ०२०, अंक १, दृश्य २
6. कुसुमप्यारी देवी : "वीरमती सरदार बाई", १६३६ई०, प्र०सं०--

"सती का धर्म है पती के साथ में रहना ।
[illegible]

भारतीय रमणी को पति की उपलब्धि आधिभौतिक नहीं होती, आध्यात्मिक होती है ---[1]।" चाहे कितनी भी मेहनत का कार्य हो, वीरमती पति के साथ बराबर सहयोग देती और उसके पत्नीत्व की सतर्कता ही नाटक में प्रशंसनीय है। वस्तुत: पति और पत्नी के बीच किसी भी प्रकार की औपचारिकता नहीं होनी चाहिए। पति-पत्नी सम्बन्ध वह है, जिसमें एक-दूसरे की उत्कृष्टता ही परस्पर प्राप्त नहीं बनती, बल्कि निकृष्टता भी निवेदित होती है[2]।" पति और पत्नी के बीच किसी भी प्रकार दुराव नहीं होना चाहिए। तभी सम्बन्धों का पूर्ण रूप से निर्वाह हो पाता है।

विश्वनाथ पौसरेल भी पतिव्रत धर्म पर ही जोर देते हैं[3]। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' भी पत्नीत्व की मर्यादा पति-भक्ति में ही मानते हैं। 'जय-पराजय' की रानी (राजा लक्ष्मण सिंह की बड़ी रानी) एक आदर्श पत्नी है। वह पति की मर्यादा, राजपूती शान की सुरक्षा करती रहती है। हंसी में कही हुई बात के कारण मंडोवर की कुमारी हंसा का नारियल महाराणा को स्वीकार करना पड़ता है। रानी इस विषय में पति को हतोत्साह नहीं[4] करती, वरन् उन्हें अपनी राजपूती शान को सुरक्षित रखने की ओर दिलासा देती है। वह सच्ची पत्नी है। गोपालकृष्ण कौल लिखते हैं--'जय पराजय का युग सामन्ती युग है, उस युग की नारी अद्वैतवादी की तरह पति की उपासना करती थी, पुरुष सदा प्रधान कठोर नैतिकता उसका आदर्श था ---- 'अश्क' ने उसे पुतली व पत्थर नहीं बनने दिया --- पर वह दु:ख --- एक आदर्श नारी का दु:ख है, इसलिए वह उसे दबा जाती है और नदी के ऊपर केवल सूरज की रोशनी में चमचमाती सूखी सूखी रेत ही दिखाई देती है[5]।" वास्तव में नाटककार यही मानकर चलता है कि 'सच्ची क्षत्राणी के लिए पति की सेवा ही

१प्रो० सत्येन्द्र : 'जीवनयज्ञ', प्र०सं०, पृ०३१, अंक २

२जैनेन्द्र : 'काम, प्रेम और परिवार', पृ०६६, दि०सं०१९६१ई०

३विश्वनाथ पौसरेल : 'पतिभक्ति', १९३७, पृ०३४, अंक १, दृश्य ३

४उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'जय- पराजय', १९३७ई०, प्र०सं०, च०सं०, १९५०, पृ०७१, अंक २, दृश्य४

५ गोपाल कृष्ण कौल : 'नाटककार अश्क', पृ०९६-९८, प्र०सं०१९५४

सर्वस्व है।[1] "अंक ३ का तीसरा दृश्य अपने सम्पूर्ण कलेवर में रानी की विवशता, दयनीयता को चित्रित करता है, जो मात्र उसके आदर्श चरित्र के कारण ही प्राप्त हुई है। पति की सेवा को ही ध्यान में रखकर हंसा भी अपने रावण के जीवन में अर्पित हो जाती है। तथापि उसमें आदर्श अकेला नहीं, यथार्थता का भी सम्मिश्रण है। किशोरीदास बाजपेयी सुदामा द्वारा पति-पत्नी के कर्त्तव्यों का संकेत करते हैं। "सुयोग्य गृहिणी का कर्तव्य ह तो यहीह है कि अपना जीवन पति के जीवन से मिलाकर एक कर दे। परन्तु पति को भी सहसा अपनी सहचरी के मनोभावों की उपेक्षा न करनी चाहिए।"[2]

परिपूर्णानन्द वर्मा की रानी भवानी, महादेवी होते हुए भी अपने पति के प्रति अनन्य सेवापरायण है। भारत के आदर्श पत्नीत्व में ही वह जीती है। पर उसकी आदर्श भावना ही उसके पति को खटकने लगती है। वह उसे नित्य नए ढंग के परिधान से रखना चाहता है। लेकिन रानी भवानी पति-सेवा में करती हुई अत्यंत सादगी से जीवन व्यतीत करना चाहती हैं। यही कारण है कि नाटौर नरेश रमाकान्त को कभी-कभी अपनी पत्नी के प्रेम के प्रति भ्रम हो जाता है। रानी भवानी कहती है--- "---- पति की सेवा करना मेरा ही नहीं, हर एक हिन्दु-स्त्री का धर्म है। मैं राजपाट कुछ नहीं चाहती, केवल आपकी, आपके चरणों की सेवा करना चाहती हूं ---- भारत की रमणी जब तक जीती है, केवल अपने पति के हित की ओर दृष्टि लगाए रहती है।"[3] वह ऐश्वर्य को सर्वनाश का प्रारम्भ मानती है। वह अपने पति को काफी समझाने का प्रयत्न करती है। वह जानती है कि स्त्री आभूषण से कभी नहीं सजती, वरन् अपने गुणों से मन की निर्मलता से ही, वह सजती है।[4] उसका पति उसकी इस आदर्श पत्नीत्व से विमुख हो जाता है। अन्त में नरेश रमाकान्त को अपनी गलती का पता चलता है और वह स्वयं अपने से ही घृणा कर जल में कूद कर जीवन समाप्त कर लेना चाहते हैं, ~~लेकिन~~ तब अपनी पत्नी द्वारा रोक लिए जाते हैं। वह कहती है कि "स्त्री सुख की ही नहीं, दुःख की भी साथिनी होती है ---- भवानी रानी तब तक है, जब तक आप राजा हैं ---।"[5]

---

१ उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'जयपराजय', पृ०६६, अंक३, दृश्य ३

२ किशोरीदास बाजपेयी : 'सुदामा', १६३८ई०, पृ०२५, अंक १, दृश्य ३

३ परिपूर्णानन्द वर्मा : 'रानी भवानी', १६३८ई०, प्र०सं०, पृ०२३, अंक१, दृश्य ४

४ वही, पृ०३७, अंक १, दृश्य ८

५ वही, पृ०६४, अंक २, दृश्य ६।

यहां रानी भवानी का पत्नीत्व,पतित्व में लक्ष्य हो जाता है ।

श्यामाकांत पाठक की दुलकुंवरि पति को परमात्मा मान कर चलती है,[1] पत्नी पति के चरणों में जीवन धन प्रेम को चढ़ाकर ही कृतकृत्य होती है । पुरुषोत्तम महादेव वैद्य की नारी 'सुमति' समाज-सुधार की दृष्टि रखते हुए भी पतिव्रता है । एक बार श्यामलाल से विवाह कर लेने पर, आत्म-समर्पण न करते हुए भी, विच्छेद की इच्छा नहीं रखती,क्योंकि वह एक व्याहता पत्नी है । वह चाहें दुर्व्यसनी हो, पर पति है, इसलिए आदर का पात्र है[2] । पति के बेहोश हो जाने पर विश्वास से डाक्टर को बुलाने की याचना करती है । भारतीय नारी का पत्नी जीवन ऐसा ही है ।विजयशुक्ल के 'पतिता' नाटक में ललिता और लक्ष्मी अपने-अपने आदर्श में स्थिर हैं । ललिता का हर क्षण यही प्रयत्न करता रहता है कि वह किसी प्रकार हर क्षण पति को खुश रखे । वह पति रामकिशोर को दांव पर लगाने के लिए रुपए बिना किसी तनाव के देती रहती है । परन्तु रामकिशोर ही उसके व्यवहार से चकित सा रहता है,तो वह कहती है--' बात-बात में अपने को हीन कहकर तुम मेरी पति-भक्ति की परीक्षा ले रहे हो,क्यों?[3] पर तुम नहीं जानते तुम्हारी इन बातों से मेरे मन में बड़ी चोट पहुंचती है -- ।' दूसरी ओर मोती अपने भाई माधव की पत्नी लक्ष्मी को ही फोड़ना चाहता है, लेकिन लक्ष्मी स्पष्ट कह देती है --'[4] पति -निन्दा हिन्दू नारी नहीं सुन सकती । मेरे स्वामी मनुष्य नहीं देवता हैं -- ।'नारी की यही दृढ़ता घर को पूर्णतया बरबाद होने से बचाती है ।

कृष्णनन्दनशर्मा के 'सत्याग्रही' नाटक में शैव्या हरिश्चन्द्र के कदम के पीछे कदम रखती है । राजा हरिश्चन्द्र उसे कष्ट के दिनों में साथ देने से रोकते हैं,लेकिन वह रुकती नहीं । उसके अनुसार कांटों का मार्ग पति के साथ-साथ पत्नी का भी होता है[5] । श्री विष्णु के 'हत्या के बाद' नाटक में शीला का पत्नीत्व

---

१ श्यामाकान्त पाठक : 'बुन्देल केशरी', १६३८ई०, द्वि०सं०, पृ०८८, अंक३, दृश्य १
२ पुरुषोत्तम महादेव वैद्य : 'आहुति', १६३८ई०, प्र०सं०, पृ०११६, अंक४, प्रवेश ५
३ विजयशुक्ल :'पतिता', १६३८ई०, पृ०३, अंक १, दृश्य१
४ वही, पृ०६२, अंक २, दृश्य २
५ कृष्णनन्दन शर्मा : 'सत्याग्रही', १६३६ई०, प्र०सं०, पृ०५४-५५, अंक २। दृश्य १

बहुत उलझा हुआ है । वह शोषित वर्ग की तरफ से कार्य करने के कारण अपने पति को पूरा-पूरा पत्नी-प्रेम नहीं दे पाती । कार्य,कर्तव्य उसके अधूरे रह जाते हैं । सभी को लगता है कि उनमें विच्छेद हो जायगा । लेकिन शीला अन्त में भावनाओं पर विजय पाती है । अपनी दिशा के भ्रम को समझ जाती है और तुरन्त अपने पति नन्द से क्षमा मांगती है[1] । वस्तुत: नारी यदि सार्वजनिक कार्य में भाग लेती है तो उसे अपने पत्नी के कर्तव्य को नहीं भूलना चाहिए । नाटककार ऐसी भ्रमित दिशा वाली नारियों को उनके पति के प्रति जो धर्म है, उसे याद दिलाता है ।

कृष्णकुमार मुखोपाध्याय की उल्पी नागकन्या होते हुए भी अपने कर्तव्य को समझती है । जब गंगा से पति अर्जुन का भीष्म को मारने का पाप सुनती है तो वह पति को नरक से बचाने के लिए पुत्रों को भी महत्व नहीं देती। अपने पुत्र बभ्रुवाहन द्वारा उसकी हत्या करवाकर ऐरावन्त की अल्पायु मृत्यु से मणि द्वारा अर्जुन को जिलाती है । नागकन्या होकर अपने पति का वह जितना ख्याल रखती है, वह उसके सच्चे पत्नीत्व का ही कारण है । नागराज द्वारा इस कार्य के लिए रोके जाने पर वह स्पष्ट कह देती है --"स्वामी को नरक से निस्तार देने केलिए उनके मरण का भार मैंने अपने ऊपर लिया है । चाहे पिशाचिनी कहो या प्रेतिनी, इस पथ से मुझे कोई नहीं हटा सकता । स्वामी ने महापाप किया है, पुत्र के हाथ मृत्यु से ही उसका प्रायश्चित होगा ।"[2] उल्पी की यह दृढ़ता, कर्तव्य वास्तव में प्रशंसनीय है । भगवतीप्रसाद वाजपेयी की "छलना" में कल्पना अपनी स्थिति से अतृप्त है । वह आधुनिका है, जो वैभव व ऐश्वर्य में ही रहना चाहती है । वह पति के स्तर से सन्तुष्ट नहीं है । अपनी असंख्य वासनाओं के कारण पति और पत्नी के सम्बन्ध की महत्ता को वह समझ नहीं पाती । बलराज उसका पति उसे नारी की आन्तरिक महत्ता से परिचित कराना चाहता है --" ----- भरण-पोषण के क्षेत्र से परे नारी का एक दूसरा जगत भी है, वह है उसकी आत्मा का एकान्त क्रोड़ । एक

---

1 विष्णु : "हत्या के बाद", १९३६, पृ०५०, "हंस" मई अंक, वर्ष ६,पृ०४४, दृश्य ५ ।

2 कृष्णकुमार मुखोपाध्याय : "अर्जुनपुत्र बभ्रुवाहन",१९३९ई०,पृ०४७,अंक२,दृश्य १

बार जब वह अपने स्वप्नों के राजा को उसमें आसीन कर लेती है, तब जीवन की असाधारण सुखोपभोग सम्बन्धी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न गौण हो जाता है।[1] लेकिन कल्पना पत्नी के इस आत्मिक आनन्द को शारीरिक भोग के समक्ष तुच्छ समझती है। --" यह एक भ्रम है। शारीरिक भोग से परे आत्मिक आनन्द नाम की कोई वस्तु संसार में है, मैं नहीं जानती।"[2] अपनी इसी कमजोरी के कारण जीवन को जी नहीं पाती। पति बलराज को भी उससे दूर रहकर धन कमाने के उद्देश्य से फिल्म कम्पनी में प्रवेश लेना पड़ता है। लेकिन नाटककार ऐसी ही नारियों को कामना द्वारा समझाता है कि "पति नारी के लिए एक मर्यादा है। सामाजिक रूढ़ियाँ और उनके द्वारा संघटित होने वाले नित्य के अनाचार, तो उस समय समाप्त हो जाते हैं, जब नारी का महाप्राण किसी पुरुष के चरणों पर उत्सर्ग होने के लिए पागल हो उठता है।[3] पत्नी के लिए उसका पूर्ण बिन्दु पति ही है। जो नारी इसको नहीं समझ पाती, वही जीवन के वास्तविक सुख से वंचित रहती है। उपेन्द्रनाथ अश्क ने "स्वर्ग की झलक" नाटक में अपने कर्तव्य से भाग रही नारियों का चित्रण किया है। अशोक व राजेन्द्र की पत्नियाँ अपने गृहस्थ जीवन से दूर भागती हैं। जो न खाना बना सकती हैं, न अपनी सन्तान की देखभाल कर सकती हैं, केवल क्लब, सोसायटी तक ही वह उचित भूमिका अदा कर सकती हैं। नाटककार ऐसी पत्नियों पर व्यंग्यपूर्ण दृष्टिपात करता है जो केवल चमकदार मोतियों की तरह हैं। जिन्हें दूर से ही देखा भर जा सकता है, लेकिन जीवन में वह किसी उपयोग में आ सकती हैं, इसकी कल्पना करना भी व्यर्थ है।[4] पत्नी रूप में नाटककार रघु की भाभी का चित्रण करता है, जो हर तरह से अपने स्थान पर पूर्ण है। उसकी दृष्टि में पति-पत्नी दोनों का सहयोग अपेक्षित है।[5] ऐसी ही पत्नियों के लिए आलोच्यकाल में सतियों के आदर्श सामने रखे गए हैं। राधेश्याम कथावाचक की सती पार्वती

---

१ भगवतीप्रसाद वाजपेयी : "छलना", १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०३४, अंक १, दृश्य ५
२ वही
३ वही, पृ०४८, अंक २, दृश्य २
४ उपेन्द्रनाथ "अश्क" : "स्वर्ग की झलक", १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०५१, अंक ३
५ वही, अंक २, पृ०४३

पति-प्रेम के अतिरिक्त और किसी चीज़ की कामना नहीं करती[1]। पत्नी को सदैव पति की मर्यादा के अनुसार ही कार्य करना चाहिए। क्योंकि 'कन्या विवाह हो जाने के बाद पत्नी कहलाती है, फिर माता-पिता की वस्तु नहीं रहती, पति की सम्पत्ति हो जाती है[2]।' 'महात्माकबीर' नाटक में नाटककार श्रीकृष्ण भी पतिव्रत धर्म का समर्थन करते हैं[3]। 'चंड प्रतिज्ञा' नाटक में हंसा का भाग्य उससे बहुत ही कठोर खेल करता है। वह चंड से न ब्याही जाकर, उसके पिता महाराणा से ब्याही जाती है। विवाहोपरान्त उसका मन अपने निर्दिष्ट मार्ग से लड़खड़ाने लगता है। लेकिनवह तुरन्त सम्हलती है और पति के प्रति अपने कर्तव्य में इस प्रकार की मनोदशा पर हैरान हो जाती -- 'एक हिन्दू नारी के हृदय में ऐसे विचारों का स्फुरण मात्र ही महापाप है। पति स्त्री का आराध्यदेव है, उसी का आराधन उसका धर्म है[4]।' गोविन्दवल्लभ पंत की पद्मावती अपने पत्नीत्व में पूर्ण है। वह कभी पति की इच्छा में बाधा नहीं बनना चाहती। उसकी आन्तरिक भावना यही रहती है कि 'स्वामी की इच्छा और उसकी पूर्णता के बीच में मेरा कुछ भी अस्तित्व न हो[5]।' कैलाशनाथ भटनागर ने भी पति के दुःख सुख में साथ देने वाली पत्नी की ही कल्पना की है। चिन्ता के पति महाराजा श्रीवत्स को, लक्ष्मी व शनिदेव का न्याय करने में शनिदेव के कोप का भाजन बनना पड़ता है। लेकिन चिन्ता हर समय साथ रहती है, चाहे उसे कितनी कठोर से कठोर कठिनाइयों का सामना करना पड़े।

सेठ गोविन्ददास की विन्ध्यबाला देवव्रत की पत्नी है। उसके विचार अत्यन्त उच्च हैं। वह पति को अपना सर्वस्व मानती है, लेकिन यदि पति का आत्मपतन होतो वह उसे रोकने का अपना फर्ज समझती है। देवव्रत चंद्रमौलि के षड्यंत्र के कुचक्र[6] यन्त्र में अपनी विवेकशीलता खो बैठता है। विन्ध्यबाला

---

१ राधेश्याम कथावाचक : 'सती पार्वती', १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०१२६, अंक२, सीन ५

२ वही, पृ०१३२, अंक २, सीन ५।

३ श्रीकृष्ण : 'महात्मा कबीर', प्र०सं०, १९६१, अंक २, सीन ६, [illegible] ?।

४ संत गोकुलचन्द : 'चंड प्रतिज्ञा', १९४०ई० प्र०सं०, पृ०३३, अंक २, दृश्य ४

५ गोविन्दवल्लभ पंत : 'अंतःपुर का छिद्र', १९४०, पृ०२९ अंक २, [१९३१] प्र०सं०।

उसे सहन नहीं कर पाती और उसे समझाने का यत्न करती है । पत्नी के इस यत्न को वह पुरुष होने के कारण सहन नहीं कर पाता तो वह कहती है-- 'आप पर मेरी अगाध भक्ति है, प्रेम है, परन्तु यदि मैं आपको किसी बात के लिए अयोग्य पाती हूं तो मेरा कर्तव्य और धर्म हो जाता है कि ठीक समय पर आपकी अयोग्यता और दोष का मैं आपको ज्ञान करा दूं । मैं यदि यह न करूंगी तो आपके प्रति मेरा जो कर्तव्य है, धर्म है, उसका पालन न होगा ।'[1] वह एक जागरूक नागरिका, नारी व पत्नी है, जो हर स्थान पर अपना कर्तव्य समझती है ।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' की नारियां पूर्णतया आदर्शात्मक हैं । "छाया" नाटक में ज्योत्स्ना एवं छाया दोनों अपने-अपने पतियों के प्रति एकनिष्ठ हैं । रजनीकान्त की पत्नी ज्योत्स्ना तो एकदम मूक भाव से पति के आदेशों को स्वीकार करती रहती है । वह पति से पृथक् अपने अस्तित्व को नहीं देखना चाहती है । रजनीकान्त उससे शरीर के प्रदर्शन जैसा घृणित कार्य भी करवाता है तो वह उसका विरोध चाहते हुए भी नहीं कर पाती, क्योंकि उसका पत्नी सम्बन्ध बाधा डालता है । वह एकदम निर्जीव भाव से रहती है, उसकी कोई आशा आकांक्षाएं नहीं हैं । केवल वह पति की खुशियों के लिए ही जीती रहती है । वह प्रकाश से कहती है --" ---- मुझे इन्हीं के साथ जीना और इन्हीं के साथ मरना है । मेरा अलग अस्तित्व ही कहां है ?"[2] भारतीय पत्नी की पति के ऊपर यह अन्ध भक्ति अनायास सब की सहानुभूति खींच लेती है । वह अपने शराबी पति की इज्जत बचाने के लिए मुंह बोले[3] प्रकाश भाई से धन की याचना करती है । पति से बड़ा उसके लिए कोई नहीं । उधर प्रकाश की पत्नी छाया अपने कवि पति के लिए, अभावों में जीकर भी, प्रेरणा स्रोत बनी रहती है । वह प्रकाश से कभी धन की याचना नहीं करती । वह उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहती । भवानी व शंकर जब उसको सचेत करने के लिए

---

१ सेठ गोविन्ददास : 'कुलीनता', १९४१ई०,प्र०सं०,पृ०६०, अंक २,दृश्य ५

२ हरिकृष्ण 'प्रेमी' : 'छाया', १९४१, पृ०२३, अंक १,दृश्य ५,प्र.सं.।

३ वही , पृ०५४, अंक ३,दृश्य २

४ वही, पृ० ३१, अंक २,दृश्य २

जाते हैं, तो वह उनकी बात को मानने से साफ इन्कार कर देती है । उसका इन्कार इतना प्रभावोत्पादक एवं अपने में सबल होता है कि शंकरदेव कहते हैं-- "उसकी पत्नी तो नारीत्व का अभिमान है । वह आधुनिक नारी की भाँति आकर्षक चाहे न हो, लेकिन, उसकी आंखों में स्नेह का समुद्र लहराता है । उसने प्रकाश के लिए अपने माँ-बाप छोड़ दिए । सारे जेवर बेच दिए ---- ।"[1] इसी रूप में नाटककार ने नारी के पत्नीत्व को विजित दिखाया है । छाया एवं ज्योत्सना अपने-अपने पति को पूर्णतया प्राप्त करती हैं । वह पति और पत्नी के मध्य सह-योगत्व को जानती है । "स्त्री पति के कर्मों की सहयोगिनी और सहभोगिनी है । अतएव मैं आपके साथ ही रहूँगी ।"[2] उसकी पति पर एकाग्र निष्ठा के कारण लक्ष्मी भी सदैव उसपर प्रसन्न रहती हैं । नाटक के अन्त में नारद भी उसे आशीर्वाद देते हैं --"तुम्हारा नाम नारी जाति के लिए पति-प्रेम और सहनशीलता का आदर्श स्थापित करेगा ।"[3] जयनारायणराय पति-पत्नी के साहचर्य तादात्म्य को ही महत्व देते हैं । पत्नी का कर्तव्य है कि वह पति की भावनाओं को विचारों को एवं प्रवृत्ति को समझे और अपने को भी उसी अनुरूप बनाने का प्रयत्न करे और पति की उन्नति में सहायक हो ।[4] कैलाश की पत्नी इन्दिरा पति द्वारा तिरस्कृत होने पर भी वह अपने को पति के अनुरूप बनाने की चेष्टा करती रहती है और फिर उसका मानसिक व बौद्धिक विकास इतना अधिक उन्नत हो जाता है कि कैलाश भी उसके सामने अपने को तुच्छ समझने लगता है । और तब इन्दिरा यथार्थ में जीवन संगिनी बन पाती है । श्री शिवप्रसाद चारण की आनन्दबाई प्रभुराय की पत्नी है । प्रभु-राय अपनी पत्नी को बहुत अधिक दुःख देते हैं जिससे विवश होकर उसे भाई पृथ्वी-राज को सूचना देनी पड़ती है । भाई जब प्रभुराय को क्रोधवश मारने दौड़ पड़ता है, तो वह एकदम हतप्रभ हो चीख उठती है--"भाई क्षमा करो । ---- मैंने तुम्हें

---

1 हरिकृष्ण 'प्रेमी' : 'छाया', १९४१, पृ०३१, अंक १, दृश्य २ ।

2 कैलाशनाथ भटनागर : 'श्री वत्स', १९४१६०, पृ०४०, पृ०४१, अंक २, दृश्य ३

3 वही, पृ०१८२, अंक५, दृश्य ८

4 जयनारायण राय : 'जीवन संगिनी', १९४१, पृ०४७, अंक २, दृश्य ४

अपने को विधवा बनाने के लिए नहीं बुलाया । पति चाहे कितना ही कठोर हो, अत्याचारी हो, धूर्त और लम्पट हो, हिन्दू नारी के लिए वही परमाराध्य है ।"[1]

मुरारीलाल शर्मा के "परीक्षा" नाटक में सीता एक पतिव्रता नारी है । श्रीराम उन्हें एक धोबी के कहने मात्र से पुन: त्याज्य देते हैं, लेकिन इस पर भी सीता निरीह सी मौन ही रहती है । राम जब एक रात्रि इसपर विचार करते हैं तो कहते हैं--"यही तो नारी -हृदय की उदारता और विशालता है । पति उसे --- ठुकराये, किन्तु वह उसे देवता ही मानती है , और उसके सुख में ही अपने को सुखी जानती है ।"[2] पत्नी पति के लिए कितना त्याग करती है--- यह यदि देखना है तो केवल भारतीय नारी के जीवन में ही देखा जा सकता है । वस्तुत: हमारे अनेक नाटककार भारत के प्राचीन आदर्श को ही लेकर चले हैं । सेठ गोविन्ददास की रमा पति मनसाराम के बहुत दिनों तक निष्क्रिय[3] रहने पर भी सदैव संतुष्ट रहती है । पति पर चिन्ताओं का बोझ नहीं डालती है ।

इसी प्रकार "दु:ख क्यों" की सुलदा भी अपने व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में विलय कर देती है । वह अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखना चाहती । नाटककार की दृष्टि में अस्तित्व का नाश हिन्दू-पत्नियां ही कर सकती हैं[4] । सेठ गोविन्ददास पत्नी को भारतीय आदर्श से ही प्रेरित रखते हैं । संत गोकुल चन्द के "विरौठ" नाटक में पतिपरायणा गौरी पति रामसिंह के साथ गुप्त रीति से युद्ध लक्ष्य तक जाती है, जिससे वह अपने कर्तव्य से स्खलित न हो जाय । अर्धांगिनी नहीं का यही कर्तव्य है । क्या स्त्री पति की अर्धांगिनी नहीं है? क्या उसको यह भी अधिकार नहीं कि पति के सुख-दु:ख में भाग ले[5] ।" रामानन्ददास प्रणयिणी "आर्याभिनय" में कर्तव्य का क्षेत्र केवल पत्नी तक ही नहीं मानते, वह पति के लिए भी करणीय

---

१ श्री शिवप्रसाद चारण : "महाराणा संग्राम सिंह", १९४२ई०, प्र०सं०, पृ०६२, अंक३, दृश्य ४ ।

२ मुरारीलाल शर्मा : "परीक्षा", १९४४ई०, प्र०सं०, पृ०४३, अंक२, दृश्य ३

३ सेठ गोविन्ददास : "संतोष कहां", १९४५ई०, पृ०११, अंक १

४ सेठ गोविन्ददास : "दु:ख क्यों ?", १९४६ई०, पृ०४६, अंक२ ।

५ संत गोकुलचन्द : "विरौठ", १९४६ई०, पृ०७७, अंक ३, दृश्य २

होना चाहिए । अन्यथा पत्नियां दु:ख से आत्मघात कर लें तो कोई आश्चर्य नहीं । नाटक में एक घर की बहू प्रताड़ित होकर जल जाती है । नाटककार इस कृत्य पर क्षोभ प्रकट करता है --"शोक है जिस भारतवर्ष में स्त्रियां पति के द्वारा सम्मानित हुई सती हो जाती थीं,आज वहां पति के भीषण अत्याचार से --- आत्मघात कर लेती हैं ।"[1] सेठ गोविन्ददास ने भारतीय आदर्श को महत्व जरूर दिया है,लेकिन पत्नी को सम्पत्ति रूप नहीं माना है । नाटक "कर्ण" में द्रौपदी युधिष्ठिर से बीच सभा में खड़ी हो कहती है--" पत्नी -पति की सम्पत्ति नहीं कि वह उसका जो चाहे सो कर सके । पति-पत्नी का बराबरी का सम्बन्ध है ।"[2] यह उस नारी की आवाज है जो "आर्याभिनय" नाटक में चित्रित नारी जीवन की कभी सुखपूर्वक नहीं जी पाती । वृन्दावनलाल वर्मा की निर्मला पति को आर्थिक सहयोग देना चाहती है[3] ।

नाटककार श्री नारायण विष्णु जोशी के नाटक 'वकील साहब' में शारदा और चन्द्रभागा दोनों अपने पत्नीत्व के प्रति पूर्ण सजग हैं । वकील साहब रुपये के लोभ में पड़कर मण्डारी का केस ले लेते हैं तथा देश के प्रति अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं । लेकिन उनकी पत्नी शारदा अपने पति की इस भूल को सुधारने का प्रयत्न करती है । वह पति को जब समझाने मात्र से राह पर नहीं ला पाती तो वह मजदूर वर्ग की ओर मिलकर उन्हें पूर्ण सहायता देती है । वह नाटक के अन्त में पति को उचित मार्ग पर ले ही आती है । उसे पति को सुख देने का पूरा ध्यान रहता है लेकिन साथ ही वह यह भी नहीं चाहती कि उसका पति अन्याय का पक्ष ले । उधर मजदूर नेता रघुनाथ की पत्नी चन्द्रभागा अपने पति के लिए प्रेरणा स्वरूप है । वह पति के लिए सभीप्रकार की मुसीबतें झेलने के लिए तैयार रहती है । यही कारण है कि शारदा से रघुनाथ कहता भी है --" शारदा बेन ! चन्द्रभागा है, इसीलिए मैं हूं । और मैं हूं,इसलिए चन्द्रभागा है ----[4] ।" यह पत्नी की पूर्णता है तो पत्नी भी उसकी पूर्णता है । सुदर्शन की कादम्बनी श्यामलाल के लिए बहुत सहायक सिद्ध होती है।

---

१ रामानन्दसहाय कुलविधा : "आर्याभिनय", १६४६ई०,प्र०सं०,पृ०४२,अंक ३
२ सेठ गोविन्ददास : "कर्ण",१६४६ई०, प्र०सं०, पृ०३४,अंक १,दृश्य३
३ वृन्दावनलाल वर्मा : "पीले हाथ", १६४७ई०, प्र०सं०,पृ०३२,दृश्य ७
४ श्रीनारायण विष्णु जोशी: "वकील साहब",१६४७ई०,प्र०सं०,पृ०७२,अंक२

वह पति के गुनाह को उसके दिल से निकाल देना चाहती है । शामलाल पैसे के लोभ में अपने भतीजे को हरण करवा देता है । लाजवन्ती इसके लिए उसे धिक्कारती है और तुरन्त उसे पश्चाताप से युक्त कर देती है । शामलाल की बिगड़ी अवस्था देखकर वह एक पत्नी होने के नाते उसे सान्त्वना देती है, --" स्वामी ! तुमने पाप किया है। ---- मगर जिस तरह तुम उस पाप का प्रायश्चित्त कर रहे हो, उसे देखकर मैं तुम्हें प्रणाम करती हूं । भगवान् तुम्हारी मेहनत को सफल करें ।"[1] लाजवन्ती के इस कथन में दु:ख और सुख का मिश्रण उसकी आन्तरिकता को प्रकट करता है । पति के पाप से उसे जो आघात पहुंचा, उससे अधिक उसे पति का पश्चाताप कष्ट पहुंचाता है । लेकिन इसके साथ ही उसे जो एक आत्मिक सन्तोष भी मिलता है, वह उसे जीवन में पति के प्रति और अधिक क्रियाशील करता है । पति और पत्नी दोनों एक-दूसरे के लिए जीवन में प्रेरणा स्रोत हैं । पत्नी का सहायक रूप ही उसकी सार्थकता है ।

श्रीनारायण मिन्दु के "सत्य का सैनिक" विजय एक वैराग्य प्रवृत्ति का व्यक्ति है, उसकी पत्नी अंजलि उसकी साधु प्रवृत्ति के कारण अत्यन्त शोचनीय अवस्था को प्राप्त होती है । लेकिन अपने प्रेम को स्वार्थ समझ उसके मार्ग में बाधक नहीं होती । प्रकृति से दयालु,सरल स्वभाव वाली अंजलि नारी के नारीत्व को उसके उत्सर्ग,आत्मत्याग से ही सार्थकता प्रदान करती है । एक बार जब वह अत्यन्त विचलित हो जाती है, तो नाटककार दामोदर पण्डित से यही कहलवाता है --" जिसे तुम्हारा पति स्वधर्म कहकर स्वीकार कर ले उसमें उसका साथ देना ही तुम्हारा धर्म है -- ।"[2] नारी को हमेशा अपने और अपने पति के आत्मिक विकास में प्रयत्नशील रहना चाहिए, भले ही उसे अपनी असंख्य वासनाओं को दबाना पड़े,क्योंकि पति-पत्नी का विचार और व्यवहार एक होना ही जीवन की क्रमिक उन्नति का कारण होगा । हरिकृष्ण 'प्रेमी' का नादिरा भी पति की सहचरी है । दु:खसुख में वह पति के साथ-साथ चलने वाली नारी कहीं भी कष्ट का अनुभव नहीं करती । वह इसको अपना परम सौभाग्य समझती है कि पति ने उसको हमेशा अपने साथ रखा है ।[3]

---

१ सुदर्शन : "भाग्य-चक्र", १९४७ई०, चतुर्थ सं०, पृ०६०, अंक१, दृश्य १

२ श्रीनारायण मिन्दु : "सत्य का सैनिक", १९४८ई०, प्र०सं०,पृ०४९-५०,अंक२, दृश्य४

३ हरिकृष्ण 'प्रेमी' : "स्वप्नभंग", १९५१ई०, च तु०सं०, पृ०११३,अंक ३,दृश्य५

नाटककारों ने नारी को पत्नी रूप में अपने कर्तव्य से च्युत नहीं दिखाना चाहा है । चतुरसेन शास्त्री की राजकुमारी चन्द्रकुमारी विवाह बाद पति को न पाकर भी अपने कर्तव्य को नहीं भूलती । रजिया के पीछे जब अजीत सिंह कर्तव्यच्युत हो जाते हैं तो वह उन्हें उनके कर्तव्य की देश की रक्षा की याद दिलाती है । उन्हें युद्ध में जाने के लिए प्रेरित करती है[1] । नारी के लिए यह अत्यन्त कठिन स्थिति जब कि उसका पति किसी और के पीछे भागे तथा वह उसे प्रेरणा ही देती रहे,कर्म के लिए ।

'वत्सराज' नाटक में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने स्त्री के लिए पुत्र से अधिक पति को महत्त्व दिया है । कुमार जब सन्यास ले लेता है तो विमाता पद्मावती की अवस्था बहुत ही करुण सी हो जाती है,तब वासवदत्ता उसे समझाती है --" पति के सामने पुत्र की चिन्ता कर रही है ---- जिसके पुण्य से पुत्र आते जाते हैं ----- यह तो अभी हैं ही ।[2]" उसके कहने का अर्थ स्पष्ट है कि पहले पुत्र-स्नेह की ओर नहीं , पति-स्नेह की ओर ध्यान दो । पति को कभी कोई कष्ट न होने पावे, यही प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि वासवदत्ता के द्वारा नाटककार यह मानता है कि "कन्या का जन्म होता है पति के लिए ---[3] ।" उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी ने अपने नाटक 'अलग-अलग रास्ते' में राज के अन्दर पति के प्रति पुराने संस्कार पनपते हुए दिखाए हैं, जब कि रानी इस संस्कार को एकदम तोड़ देना चाहती है । राज, पति द्वारा दूसरा विवाह कर लेने पर भी उसे देवता माने बैठी है, वह उसका अपमान नहीं कर सकती । उस परिस्थिति में भी श्वसुर के साथ जाने को तैयार है। लेकिन रानी आदर्श पत्नी के लिए ही नहीं मानती है । वह नहीं समझ पाती कि क्या उसका मूल्य सिर्फ मकान व मोटर में ही है,अन्यथा पति उसे एक नाचीज समझता है । नाटककार पति-पत्नी के बीच साहचर्य भाव चाहता है,क्योंकि जीवन में दोनों के प्रयत्न अपेक्षित हैं । पूरन कहता है--"पति मेरे निकट पत्नी का परमात्मा नहीं, उसका साथी है और इस साथ को निबाहने की जिम्मेदारी पत्नी पर ही नहीं, पति पर भी है[4] ।"

---

१ चतुरसेन शास्त्री : "अजीत सिंह",१९५१ई०,प्र०सं०,पृ०१३६,अंक४,दृश्य ५

२ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "वत्सराज",१९५०ई०,प्र०सं०,पृ०१२०,अंक ३

३ वही, पृ०८२, अंक१

४ उपेन्द्रनाथ "अश्क" :"अलग अलग रास्ते",१९५४,प्र०सं०,पृ०११९,अंक१

इस प्रकार हमारे आलोच्यकालीन नाटककारों ने पत्नी को आदर्श चरित्र का दिखाया है, वे नारी जाति के समक्ष प्राचीन आदर्श-चरित्रों को प्रेरणा स्वरूप उपस्थित करते हैं। उन्होंने पति-पत्नी के दाम्पत्य रूप पर और अधिक दिया है। जीवन में पति और पत्नी का एक साथ प्रयत्न अपेक्षित है, लेकिन यह तभी हो सकता है, जब तक कि वे दोनों अपने को एक-दूसरे के अनुरूप न बनाएं। जीवन में दोनों का अधिकार समान है। पत्नीत्व यदि सुलझा हुआ हो तो परिवार, समाज तथा देश की समस्याएं दिन-ब-दिन प्रगति और की उन्मुख रहेंगी।

अध्याय -- ७ :

नारी के अन्य विविध पारिवारिक रूप

अध्याय -- ७

नारी के अन्य विविध पारिवारिक रूप

मातृरूप

पिछले अध्याय में नारी के पत्नी रूप पर विचार किया गया है, किन्तु पत्नीत्व तो साधनमात्र है, उसके जीवन की सार्थकता मातृरूप में निहित है। मातृत्व-पद को पाकर नारी अपने जीवन को सार्थक सिद्ध करती है। अपने मातृत्व को पूर्ण करने के लिए अपनी समस्त भावनाओं एवं शक्ति को उसी में लगा देती है। अपने इसी रूप में नारी कोमल से कोमलतर हो जाती है तथा साथ ही कठोर से कठोरतर हो जाती है। अपनी संतान के लिए वह अति कठिन परिस्थिति को भी कठोर होकर पार कर जाती है। मातृरूप नारी को सबसे अधिक शक्ति से युक्त कर देता है। नारी का यही रूप उसकी महत्ता, विशालता को विश्व में प्रतिष्ठित किए हुए है।

भारतीय नारी प्रारम्भ से अन्त तक मातृरूप में प्रतिष्ठित है। समाज प्रत्येक नारी में "माँ" के दर्शन करता है। भारतीय नारी का मातृत्व ही विश्व में, उसका शीर्ष स्थान बनाए हुए है। भारत में प्राचीनकाल से ही नारी के अनेक आदर्शात्मक मातृरूप के उदाहरण मिलते हैं। डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं-- भारतीय नारी[१] माता है, यही वह कन्या है, जिसके लिए वह बचपन से ही लालायित रहती है।" भारत की नारी जीवन पर्यन्त पत्नी ही रहती है। वास्तव में

---

१ डा० राधाकृष्णन् : "धर्म और समाज", अनु०-विराज, पृ०२१९, प्र०सं०१९६१ई०

नारी के लिए प्रथम मातृत्व की प्राप्ति उसके लिए एक नये जीवन का आरम्भ धरता[1] है। यदि वह अपने इस रूप में सफल रहती है, तो उसका नारी जन्म सार्थक होता है। नारी का सार्वजनिक जीवन भी चाहे कितना ही विस्तृत हो, लेकिन उसके बीच में भी वह मातृत्व की सार्थकता को मालूम करती है[2]।

आलोच्यकाल के नाटककारों ने नारी के इस रूप का अपने नाटकों में चित्रण किया है। नाटकों में नारी अपने मातृत्व से पीछे नहीं डटी है। मातृत्व को पाने के लिए उसके अन्दर तीव्र विकलता रही है। सुमन्त्रु त्रिपाठी की लीलावती सन्तानहीनता के कारण अत्यन्त दुःखी रहती है। नारी अपने लिए "बाँझ" [शब्द] को नहीं सुन सकती। लीलावती कहती है--" ------ पुत्र का होना[3] तो अच्छा है, परन्तु यदि पुत्री भी होती तो बाँझ का नाम छूट जाता ---"। "सन्तान के ऊपर कष्ट माँ नहीं देख सकती[4]। "मोरध्वज" नाटक में ताम्रध्वज के मर जाने पर उसकी माँ कुमुदवती का विलाप, उसकी हृदय की विकलता को स्पष्ट करता है। अपने सामने पुत्र को पड़ा देखकर उसका मातृत्व अत्यन्त पीड़ित हो जाता है। इसीप्रकार "हिन्दी हरिश्चन्द्र" नाटक में तारामती पुत्र-शोक से अत्यन्त विह्वल दिखाई देती है[5]। जिस माँ को स्वयं अपने पुत्र की मृत देह को ले जानी पड़े, उसके मन की दशा का स्वयं

---

१ 'Every pregnancy, especially the first is for the women, the dawn of a new development, a new turn in her fate, if the imminent motherhood expresses her true personal wish'- P. 121- Halendentsch.
'The Psychology of women' 3rd edition ,1945.

२ .' Tagore wrote 'Every child comes with the message that God is not discouraged of man' ,But to a woman, motherhood is the highest fulfilment. To bring a new being perfection and to dream of its futr̃re greatness is the most moving of all experiense and fills one with wonder and exaltation'- by INDIRA GANDHI 'On being A mother'-in Northern India Patrika 19 No[v] 1972.

३ सुमन्त्रु त्रिपाठी : "सत्यनारायण लीला", १९१३ई०, प्र०सं०, पृ०२५, छठा अध्याय

४ शालिग्राम वैश्य : "मोरध्वज", १९२४ई०, प्र०सं०, पृ०१२४, अंक

५ डा० विश्वम्भरसहाय व्याकुल : "हिन्दी हरिश्चन्द्र नाटक", १९२४, प्र०सं०, पृ०७६-७७, अंक३, दृश्य५

ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

मां की ममता ने पुत्र को कर्तव्य से अलग नहीं करना चाहा । राधेश्याम कथावाचक की सुभद्रा ने अभिमन्यु को रणक्षेत्र में प्रयाण करने से रोका नहीं, वरन् वह मातृ-हृदय पुत्र के तनिक विलम्ब पर ही अत्यन्त उत्तेजित हो जाता है। "---- ऐसा है तो विलम्ब क्या है ? युद्ध-भूमि का जाने वाला स्नेह-भूमि पर क्यों ठहरा है ? -----उतरा है स्नेह हो, तो रण में विजय प्राप्त करके ही राजरानी बनाओ ---- ।"[1] पुत्र के कर्तव्य-पालन में आर्यमाता अपनी गौरव को सार्थक मानती है । पर वही हृदय पुत्र-शोक के समय एकदम उमड़ पड़ता है । श्रीकृष्ण[2] के उपदेश देने पर वह यही कहती है--" बेटे का प्यार उसकी मां के हृदय से पूछो । नाटककार बलदेवप्रसाद खरे ने भी नारी के मातृ-हृदय को अत्यन्त कोमल दिखाया है । कलावती की मां अपनी पुत्री कलावती के इधर-उधर घूमने पर, समाज के भय से अत्यन्त चिन्ता-युक्त हो जाती है और उसे बुरा-भला कहती है । लेकिन फिर उसके देश-प्रेम को देख, उसका मातृ-हृदय उमड़ पड़ता है । सन्तान पर किया गया क्रोध, कालान्तर में मातृ-हृदय को अत्यन्त दु:ख से भर देता है । कलावती की मां अपनी पड़ोसिन से कहती है--" ----- यह माता का हृदय है, जो सन्तान की ममता से कभी विरक्त नहीं हो सकता -----[3] ।" नारी सन्तान के लिए घोर सामाजिक अवहेलना को भी सहती है, लेकिन अपने को उस सुख से वंचित नहीं करना चाहती । "महात्मा ईसा" नाटक की मरियम एक ऐसी ही नारी है, जिसने ईसा के लिए घोर सामाजिक अपमान सहा, लेकिन अपनी सन्तान को न छोड़ सकी । अपने उस एकमात्र पुत्र के देश पर बलिदान होने की भविष्य-वाणी सुनकर उसका हृदय एकदम हाहाकार कर उठता है । वह कहती है--" धर्मपिता! यह तुमने क्या कह दिया ? यदि तुम भी किसी की माता होते ?[4] " ममता का यह बन्धन एक ही झटके में नहीं तोड़ा जा सकता है । पति जोसेफ के समान वह कठोर

---

१ राधेश्याम कथावाचक : "वीर अभिमन्यु", १९१८ई०, पृ०४७,४८ अंक१,सीन५

२ वही,पृ०१३८,अंक२ सीन ७ ।

३ बलदेवप्रसाद खरे : "सत्यनारायण", १९२२ई०, प्र०सं०,पृ०७९,अंक२,दृश्य७

४ पा० बेचनशर्मा "उग्र" : "महात्मा ईसा", १९२२ई०,प्र०सं०,पृ०१५,अंक१,दृश्य ४

नहीं हो पाती । ईसा के प्राणदण्ड के समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है[1]। क्रूर शावैल, जैसे व्यक्ति सम्भवतः नारी के इस हृदय को समझ नहीं पाते । अपनी क्रूरता में भूले हुए वे मातृ-हृदय की विकलता को मात्र ढकोसला कहकर पहचान पाते हैं । मरियम उससे स्पष्ट कह देती है-- ------ यदि माता के हृदय में ढकोसला होता तो तुम आज इतने बड़े न होते । तुम होते या नहीं, इसमें भी सन्देह है ।[2]

जयशंकर 'प्रसाद' तो नारी-हृदय की सूक्ष्म भावनाओं के पारखी रहे हैं । उन्होंने नारी भावनाओं के हर मोड़ का सफल चित्रण किया है । 'अजातशत्रु' नाटक में नारी के कठोर एवं कोमल दोनों रूप दिखाए हैं । लेकिन कठोरता भी मातृ-हृदय के आगे हार जाती है । छलना नारी की ईर्ष्यामयी मूर्ति है । वह अपनी महत्वाकांक्षा के लिए अपने पति को छोड़ देती है । पुत्र को केन्द्र बनाकर सबको ठुकराती हुई चलती है, लेकिन उसकी समस्त आकांक्षाओं को व ठोकर वहां लगती है, जब कि उसका पुत्र अजातशत्रु कौशल में बन्दी बना दिया जाता है । उस समय उसके हृदय की वास्तविकता सामने आती है । वह उसी वासवी से, जो उसकी आंख का कांटा थी पुत्र जीवन की भिक्षा मांगती है[3]। 'प्रसाद' जी नारी के अस्वाभाविक हिंसात्मक रूप को मर्मस्थल पर पहुंचाकर चोट पहुंचाते हैं, जहां नारी की कोमलता के मूल्य का पता चलता है । छलना सब कुछ करते हुए भी पुत्र-दुःख को सहन नहीं कर पाती । उसकी ममता एकदम विकल हो जाती है । वासवी का मातृ-हृदय इतना विशाल है कि वह अजातशत्रु को सौतपुत्र होते हुए भी अपने पुत्र के समान ही प्यार करती है । उसका हृदय उसको हर समय सुरक्षित एवं सुख ही देखना चाहता है । बिना आगा-पीछा सोचे, पति की सेवा को छलना के ऊपर छोड़कर अजातशत्रु को बचाने कौशल चली जाती है[4]। वास्तव में जो नारी अच्छी मां होती है । वह सौतेली मां के रूप में भी

---

1 प० बेचनशर्मा 'उग्र' : 'महात्मा ईसा', १६२२, प्र०सं०, पृ०१२८, अंक३, दृश्य ८
2 वही, पृ०१२६, अंक ३, दृश्य ८
3 जयशंकर 'प्रसाद' : 'अजातशत्रु', १६२२ई०, प्र०सं०, पृ०१३६, अंक३, दृश्य १
4 वही

अपनी ही माँ की तरह सहृदय होती है[1]।

ब्रजनन्दनसहाय की कल्याणी का मातृ-स्नेह भी द्रष्टव्य है। पुत्र को अधिक धन कमाने की प्रेरणा से वह उसे विदेश भेज देती है, लेकिन जब बहुत दिनों तक पुत्र का कोई समाचार नहीं मिल पाता, तो माँ की ममता, विकल हो उसे ढूंढने निकल पड़ती है। स्वयं काश्मीर पहुंच जाती है। पुत्र के लिए उसे चाहे कितने ही कष्ट हों, वह उन सबको पार कर पुत्र तक पहुंच जाती है[2]। पिता से अधिक माता सन्तान के हित का ख्याल रखती है। सन्तान के विरुद्ध वह किसी भी लोभ से ग्रस्त नहीं हो सकती। 'भारतरमणी' नाटक में सुनीति अपनी पुत्री लक्ष्मी के प्रति अत्यन्त चिन्तित है। उसका पति कन्या को बेचकर धन कमाना चाहता है,लेकिन सुनीति उसका विरोध करती है, वह पति से कहती है-- " मां धन नहीं,॰ कन्या के लिए सुन्दर घर चाहती है[3]।" नाटककार गोपाल दामोदर तामस्कर ने अपने नाटक नाटक 'राजा दिलीप' में,नारी मातृत्व को पाने के लिए कितनी व्यग्र रहती है, वह चित्रित किया है। नारी चाहे वह राजपरिवार की हो या एक गरीब परिवार की प्रत्येक के अन्दर माँ बनने की बलवती इच्छा जाग्रत रहती है। राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा, रानी होते हुए भी एवं समस्त वैभव के बीच रहते हुए बिना सन्तान के कितनी अतृप्त है। वह "मां" शब्द सुनने के लिए विकल रहती है। उसे अपना जीवन निरर्थक -सा लगता है। पुत्र-प्राप्ति के लिए अपना जीवन भी देने को तैयार है[4]। सन्तान की प्राप्ति इच्छा ही, राजा दिलीप एवं सुदक्षिणा को नन्दिनी की सेवा

---

१. '. . . It can be said that a good mother is also a good step mother and the solution of this difficult problem can be left to her maternal feelings'- Page 455.

- Halen Dentsch- The Psychology of women ,3rd edition, 1945.

२ ब्रजनन्दनसहाय : 'उषा गिनी', १६२५,प्र०सं०, पृ०२०४,अंक ५,दृश्य ५

३ दुर्गाप्रसाद गुप्त : 'भारतरमणी', १६२५, पृ०८५,अंक २,दृश्य ३

४ गोपाल दामोदर तामस्कर : 'राजा दिलीप'नाटक, १६२७ई०,प्र०सं०,पृ०२१ अंक१, दृश्य ६।

में रत करती है । अन्त में नाटककार ने सेवा, तपस्या के बल से पुत्रप्राप्ति से तृप्त दिखाया है । दूसरी ओर इसी नाटक में रत्ना, एक साधनहीन नारी अपने नारीत्व को सार्थक न करने के लिए विकल रहती है । वह सोचती रहती है --" ---- उनकी बच्चों में तनमन की सुधबुध भूल जाने की अपेक्षा कौन-सा बढ़कर सुख हो सकता है । ---- क्या कभी मेरी इच्छा पूर्ण होगी ?[1] वह इसे सहन नहीं कर पाती, कि सब उसे मातृत्व को न पा सकने वाली नारी समझें । इसीलिए वह गर्भ धारण करने और फिर उसके नष्ट हो जाने का नाटक करती है[2] । इसप्रकार नाटककार नारी की पूर्णता उसके मां बनने में ही मानता है । जयशंकर "प्रसाद" के एक अन्य नाटक "स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य" में भी छलना और वासवी की तरह ही अनन्तदेवी एवं देवकी के चित्र वर्तमान हैं । देवकी में मां की ममता केवल पुत्र स्कन्द के लिए ही नहीं, सभी के लिए है । उस नारी के सामने सब के सभी अपराध क्षम्य हैं । अनन्तदेवी ईर्ष्या, द्वेष से युक्त है । उसके मातृत्व की सीमाएं अत्यन्त संकुचित हैं । पुत्र के लिए सिंहासन छीनना, पग-पग पर हत्याएं करवाना, यही उसका कार्य है । इनसे भिन्न एक अन्य नारी पात्र है, वह है कमला, जो भटार्क की मां है । वह देशानुराग से युक्त है । वह द मां, यह सहन नहीं कर पाती कि उसका पुत्र देशद्रोही हो, विश्वासघातक हो । मातृ-हृदय में यद्यपि संतान के लिए अतुल प्रेम होता है, लेकिन वह अपनी सन्तान को कलंक से युक्त नहीं देख सकती। कमला भटार्क का घर त्याग देती है । उससे वह कहती है--" ---- मुझे तुमको पुत्र कहने में संकोच होता है, लज्जा से गड़ी जा रही हूं ----"[3] । नारी के मातृ-हृदय की यह भी एक प्रमुख अवस्था है ।

जगन्नाथशरण कृत "कुरुक्षेत्र" नाटक में कुन्ती, कर्ण व पाण्डव दोनों के लिए अत्यन्त व्यग्र रहती है । कुन्ती अपनी सन्तान के लिए सब कुछ करती है। अविवाहित अवस्था में होने के कारण उसे कर्ण को त्यागना पड़ा था । कुन्ती भले ही

---

१ गोपाल दामोदर तामस्कर -- "राजा दिलीप नाटक", १९२७ई०, प्र०सं०, पृ०१०-११

२. वही -- अंक १, दृश्य २ । पृ. १३३, अंक ४ दृश्य ५

३ जयशंकर "प्रसाद" : "स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य", १९२८, प्र०सं०, पृ०११३, अंक ४

उस समय कुमारी थी, लेकिन पुत्र के होने से ही उसको जिस मातृत्व का बोध हुआ, उसे त्यागने में उसे असीम वेदना का अनुभव हुआ । नारी जब एक शरीर को जन्म देती है, तो वह अपने हृदय का समस्त प्यार, स्नेह उसे दे देती है और ऐसी मानसिक स्थिति में उसको उस सन्तान से अलग करना अत्यन्त कठिन होता है[1]। कुन्ती का मातृत्व अन्दर ही अन्दर घुमड़ता रहता है । - " ---- कर्ण ! तू नहीं जानता कि तेरी जननी मैं हूं --- जब मैं देखती हूं तब मेरे[2] मातृ-स्नेह की तरंग कण्ठ को रुंधती हुई स्तन से दुग्धधार हो निकल जाती है ।" उधर पाण्डवों[3] के कारण ही वह पति के साथ सती न हो पाई । पत्नीत्व, मातृत्व से हार जाता है । कुन्ती की दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है । उसका मातृत्व हरजगह विवश रहता है । नाटककार शिवप्रसाद चारण नारी के महत्व को उसके मातृत्व में ही बताते हैं । "शीतलसैनी" जयशंकर "प्रसाद" की "छलना" के समान ही ईर्ष्या, द्वेष से युक्त है, अन्तर यह है कि छलना का नाटक के अन्त में हृदय-परिवर्तन हो जाता है, किन्तु शीतलसैनी अन्ततक अपने भावावेग में ही बहती रहती है । पश्चाताप नारी का "महत्व कहां है? " यह जानती है । वह शीतल सैनी से कहती है-- " ---नारी का

---

१ . In the child they gave birth to, they are confirmed with a part of their own body as an alien object to which they can now give full object love from their nareissim'-

Page 317.

- by Helen Dentsch- The Psychology of women ,3rd edition 1945

' The love she gives him is paradoxically the most selfless self love. That is why the task of seperation from him is Psychologically so difficult'- P. 319.

२ जगन्नाथशरण : "कुरुक्षेत्र", १९२९ई०, प्र०सं०, पृ०१५, अंक१, दृश्य२

३ वही, पृ०११, अंक१, दृश्य १ २

महत्व मातृत्व की करुणा में है --- उसकी प्रतिष्ठा त्याग की तपस्या है ।"[1]

नाटककार पन्नालाल रसिक अपने मातृ-कर्तव्यों से च्युत नारियों को सचेत करना चाहते हैं । चम्पा अपने पुत्र को प्रेम के कारण पढ़ने ही नहीं भेजती । फलत: वह शराबी एवं आवारा हो जाता है । नाटककार चम्पा के इस कार्य पर क्षोभ प्रकट करता है । पंडित जी कहते हैं-- "ऐसी ही माताएं बालकों को मूर्ख रखती हैं और भारत जो सब देशों में श्रेष्ठ है, उसे धूल में मिलाती हैं --- ।"[2] पुत्र के वेश्यागामी हो जाने पर चम्पा को अपनी भूल का पता चलता है, तब रम्भा से कहती है --" ---- तू एक बात सदा स्मरण रखना --- प्रेम के वशीभूत होकर अपने पुत्रों को विद्या से वंचित न रखें, वरना जैसा मेरा सर्वनाश हुआ वैसा होगा --- ।"[3] नाटककार सेठ गोविन्ददास की तारा ने भी अपनी संतान को अत्यन्त कठिनाई से पाला है । महाराजा अजयसिंह ज्योतिषियों के फेर में पड़कर उस पर प्रकाश के कारण व्यभिचार का आरोप लगाते हैं, फलत: तारा निस्सहाय हो निकल पड़ती है । लेकिन पुत्र-स्नेह के कारण ही आत्महत्या से विरत हो, समाज द्वारा झूठे तिरस्कार को सहती है । "बारह वर्ष तक अपने व्यभिचार का मैंने प्रकाश के नाम पर पुजन किया है --- ।"[4] उसके इस कथन में कितनी व्यथा छिपी है । उसकी सच्चरित्रता स्पष्ट हो जाती है । जब प्रकाश के मुंह से सुनती है कि अजयसिंह ही उसे गिरफ्तार करवा रहे हैं, तो वह एक बार पुन: उस द्वार तक दौड़ती है, जिसने कभी उस पर व्यभिचार का आरोप लगाया था, कारण सिर्फ पुत्र-प्रेम के लिए । सन्तान के लिए माता का हृदय जैसा विशाल और सहनशील होता है वैसा किसी और सम्बन्धी के हृदय में नहीं प्राप्त हो सकता । इसीलिए मनोरमा उनके मातृत्व को देखकर कहती है --" ---- अद्भुत शोक । उनके शोक में साधारण करुणा थी, परन्तु करुणा के संग ही एक विचित्र प्रकार का बल था । नारी को अबला

---

१ शिवप्रसाद चारण : "पन्नाधाय", पृ०२२, अंक १, दृश्य ३, प्र. काल ?।

२ पन्नालाल रसिक : "रत्नकुमार", १६३४ई०, पृ०१०, अंक१, दृश्य १

३ वही, पृ०४२, अंक २, दृश्य २

४ सेठ गोविन्ददास : "प्रकाश", १६३५ई०, द्वि०सं०, पृ०१०८, अंक ३ दृश्य ७

कहा जाता है, परन्तु कदाचित् माता के लिए "अबला" शब्द का उपयोग नहीं किया जा सकता।"[1] श्री कृष्ण मिश्र ने "देवकन्या" नाटक में राजमती माता है,लेकिन माता होते हुए भी मातृ-हृदय उसके पास नहीं है । वह अपनी कन्या को पहले व तो पैसे के लोभ में, बेचना चाहती है, लेकिन जब मेनका स्पष्ट इनकार कर देती है,तो वह उस पर बलात् वश करने के लिए राजराघव व भास्कर आदि को सहयोग भी देती है । वीरम्भा दासी उसके इस कृत्य को देखकर एकदम अचम्भित हो उठती है--"माताका भी हृदय लोभ और कुसंस्कार से वशीभूत होकर इतना स्वार्थी और कठोर हो सकता है । बड़ी कठिन समस्या है --- ।"[2] आश्चर्य है,माता के इस रूप पर । जो माता लोभ में फंसकर अपनी सन्तान का ही भला-बुरा न सोच पाए वह नारी,कैसी ? , वह माता कैसी ? सेठ गोविन्ददास के "सिद्धान्त स्वातन्त्र्य" नाटक में सरस्वती की अत्यन्त दयनीय दशा है । पति और पुत्र के बीच में चुनाव करना है । उसका पुत्र मनोहरदास,पिता से विचार साम्य न होने के कारण घर छोड़ कर चला जाता है । सरस्वती पति के कारणपुत्र-विछोह को मन में लिए घर पर रह जाती है । उसकी विवशता पुत्र-स्नेह के कारण अत्यन्त बेचैन रहती है । जब वह पिकेटिंग करते हुए पकड़ा जाता है और उसे गोली लग जाती,[3] तो उसे उस अवस्था में देखकर सरस्वती का मातृत्व एकदम विह्वलित हो जाता है ।

प्रो० सत्येन्द्र की सोलंकी रानी भी केवल पुत्र-स्नेह के कारण ही जीवन में रत है । पति से वियुक्त होकर नारी कभी भी उत्साहपूर्वक क्रियाशील शायद ही रहे, लेकिन मातृत्व उसे सदैव प्रेरित करता रहा है । एकान्त में दुःखी होती हुई सोलंकी रानी सोचती है --" --"पुत्र जगदेव के जीवन को प्रशस्त करने के लिए मैं जीवन धारण किए हुए हूं, अन्यथा पति से परित्यक्त होकर क्या भारतीय नारी एक पल भी जीवित रह सकती है --- ।"[4] भारतीय नारी की मां की यह महत्ता है,

---

१ सेठ गोविन्ददास :"प्रकाश",१९३५ई०, द्वि०सं०,पृ०१४६,अंक ३,दृश्य ५

२ श्रीकृष्ण मिश्र :"देवकन्या",१९३६ई०,प्र०सं०,पृ०५७,अंक ३दृश्य १

३ सेठ गोविन्ददास :"सिद्धान्तस्वातन्त्र्य",१९३८ई०, प्र०सं०, पृ०४८,अंक२

४ प्रो० सत्येन्द्र : "जीवन-यज्ञ",प्र०सं०,पृ०१,अंक१, पु. काल ?

वह अपने समस्त दु:खों को हृदय में छुपाए रखकर भी सन्तान की प्रगति की सदैव आशा करती है, और उस प्रयत्न में अनेक कष्टों का सामना करती रहती है। नाटककार नारी को इस ममत्व के कारण ही, नर से प्रबल मानता है। जगदेव अपनी पत्नी वीरमती से कहता है--" नारी नर से प्रबल है, क्योंकि वह देवी और जननी है। पोषण करती, शक्ति, सुप्रेरक, निज वर को करती है ---[1]।" नारी की इस महत्ता को राजमाता मीनल भी समझती हैं, तभी तो वह पूरे राज्य के नागरिकों के लिए "माँ" रूप में प्रतिष्ठित है।

नाटककार श्यामकान्त पाठक नारी के मातृत्व को अत्यन्त उच्च स्थान देते हैं। छत्रसाल कहते हैं-- "----- स्त्री का सतीत्व आकाश के समान उच्च और महान है। पवित्र मातृत्व[2] के कारण ही यह हिन्दू जाति अनादिकाल से जीवित है, और सर्वदा रहेगी ---।" माता अपनी सन्तान के लिए सब कुछ कर सकती है, भले ही वह बुरे से बुरा कार्य हो। नाटककार तुलसीराम शर्मा "दिनेश" ने इस तथ्य के लिए अपने नाटक "बंधुभरत" में कैकयी का चरित्र रखा है। उसके कार्य में यही भावना प्रेरणा बनती है। कौशल्या भरत को समझाती हुई कहती हैं -- "----- तुम माँ के हृदय को नहीं जानते हो बेटा। उसी मोहवश ही यह अकृत्य कर डाला[3] है। यह पेट की आग बहुत बुरी होती है। यह मातृ-स्नेह अंधा होता है ---।" मायादत्त नैथानी के संयोगिता नाटक में रानी, पति और पुत्री के बीच झूलती हुई कुछ निश्चय ही नहीं कर पाती। पुत्री संयोगिता द्वारा अपने-आप विवाह का निर्णय ले लेने पर भी वह उससे कुछ नहीं हो पाती। वह यही सोचती है --"वाह रे माता का[4] हृदय! तू संतान के अपराधों से क्षुब्ध होकर भी अन्त में उसे प्रेम ही देता है।" लेकिन वह पति के कारण पुत्री को किसी भी प्रकार की सहायता पहुंचाने

---

१ प्रो० सत्येन्द्र : "जीवन-यज्ञ", प्र०सं०, पृ०२४, अंक २

२ श्यामकान्त पाठक : "बुन्देलकेशरी", १९३८ई०, द्वि०सं०, पृ०४६, अंक २, दृश्य २

३ तुलसीराम शर्मा "दिनेश" : "बंधुभरत", १९३८ई०, पृ०१३, मातृत्यजन

४ मायादत्त नैथानी : "संयोगिता", १९३९ई० प्र०सं०, पृ०३७, अंक १, दृश्य १

के लिए विवश रहती है । नाटककार संत गोकुलचन्द का चंड भी मातृत्व के मूल्य को जानता है । वह कहता है--"पुत्र को विशेषत: अल्पवयस्क पुत्र को विपत्तियों के प्रहार आघातों से[1] बचाने की जितनी क्षमता मातृ-स्नेह की ढाल में है, उतनी किसी और में नहीं है[2] ।" श्री विश्वेश्वरदयालु के हंसाहिम नाटक में मित्रसेन की ब्राह्मणी भी सन्तान हीन होने के कारण दुःखी रहती है ।

कहीं-कहीं नारी मोहवश सन्तान की उन्नति में बाधक हो जाती है । कंचनलता सब्बरवाल कृत "आदित्यसेन गुप्त" नाटक में आदित्य की माँ श्रीमती देवी एक ऐसी ही माता है । वह ममतावश, आदित्य को वीर ही नहीं बना पाती, उसे अपने ही आंचल के नीचे रखती हैं । किन्तु देवप्रिया आदित्य की बहन अपने भाई को रण के लिए उत्साहित करने में अपना सब कुछ लगा देती है । वह बाधक स्वरूप माँ की ममता को स्पष्ट रोक देती है । उस समय[3] श्रीमती देवी स्वयं स्वीकार करती हैं कि सब के पीछे नारी एक दुर्बल माता है । देवप्रिया ऊपर से कठोर लगती है,लेकिन उसके उस कठोर आवरणके नीचे "माँ" की ममता लहराती रहती है । कभी-कभी वह अपने भाई तुल्य पुत्र को स्मरण कर अत्यन्त बेचैन हो जाती है, लेकिन वह नारी अपने मातृत्व भाव में दुर्बलता नहीं आने देती, वह कर्तव्य को पहला स्थान देती है । वह सोचती है --" ----- इसी कठोर-हृदय कर्तव्य-प्रस्तर-धारिणी नारी में भी एक अतृप्त दुर्बल नारी अनेकों बार रो उठती है ---- नारी वीरांगना[4] होने पर भी हृदय से नारी को छोड़कर और कुछ कभी भी न बन सकेगी -- ।" वह यह प्रार्थना करती है कि मातृत्व का विकास अनेक पुत्रों द्वारा हो और प्रत्येक जननी, मातृप्रतिमा स्थापना के हित शरीर विसर्जित करे । वस्तुत: लेखिका नारी के मातृत्व को अत्यन्त विशाल रूप देना चाहती है । नारी का मातृत्व एवं उसका ममत्व केवल अपनी सन्तान तक ही नहीं,वरन् सब के लिए हो । इसी रूप में

---

१ संतगोकुलचन्द : "चंडप्रतिज्ञा", १९४०ई०, प्र०सं०, पृ०४७, अंक ३, दृश्य २

२ श्री विश्वेश्वरदयालु : ""हंसाहिम नाटक", १९५०ई०, प्र०सं०, पृ०३, प्रथम प्रदर्शन

३ कंचनलता सब्बरवाल : "आदित्यसेन गुप्त", १९५२ई०, प्र०सं०, पृ०५८, अंक२, दृश्य४

४ वही, पृ०९१-९२, अंक४, दृश्य २

नारी का जन्म सार्थक है। कौण कुमारी जब यौवन में नारी दिशा को समझ नहीं पाती, तब मधुमयी उसे समझाती है कि स्त्री का दूसरा नाम माता है। नारी के अन्दर मातृत्व भाव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, उससे विहीन होकर तो नारी-हृदय मात्र मांसपिण्ड स्वरूप रह जायेगा।[1] इसी कारण 'भक्त मीरा' नाटक में राणा रत्नसिंह की स्त्री विमला सन्तानहीन होने के कारण अपने को बहुत ही दुर्भाग्यशाली मानती है।[2]

पा० बेचन शर्मा 'उग्र' ने मां की ममता को पहचाना है। माधव महाराज अपनी मां का स्मरण करते हुए कहते हैं--" यह मां शब्द भी कितना मीठा है जिसके स्मरण मात्र से हृदय जैसे गंगाजल से नहा उठता है। शरीर गोया मन्दिर में पहुंच जाता है।"[3]

पुनर्जागरण काल में पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आकर नारी ने अपनी स्वतन्त्रता को ही लक्ष्य बना लिया था। वह मातृत्व से दूर भागने लगी थी। नाटककारों ने नारी की इस दिशा पर व्यंग्य किया पृथ्वीनाथ शर्मा ने अपने 'साध' नाटक में नारी के इसी रूप को चित्रित किया है। कुमुद, बड़ी उलझन में प्रो० साहब से विवाह तो कर लेती है, लेकिन वह अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए सन्तानोत्पत्ति से दूर भागती है। लेकिन नन्द का पुत्र मोहन उसकी आन्तरिकता में उथल-पुथल मचा देता है, फिर भी वह अपने को धोखे में ही रखने का स्वांग करती है। पर उसकी मां रामेश्वरी देवी उसके इस अहं को तोड़ती हैं-- "कुमुद, विश्वास मानो, इस असार मायामय संसार में बच्चे ही यथार्थ है, सत्य और सुन्दर हैं, इसलिए, बेटी, इस झूठी चमकवाली सभ्यता के मोह में फंसकर बच्चों से विमुख न हो।"[4] तब कहीं कुमुद मातृत्व की सच्चाई से अवगत होती है, और वह पति से उसको उसका प्रतिरूप देने की बात करती है।[5] नाटककार नारी की

---

१ कंचनलता सब्बरवाल : 'आदित्यसेन गुप्त', पृ०७६, अंक ३, दृश्य ५

२ गौरीशंकर मिश्र : 'भक्तमीरा', १९४३ई०, पृ०३, अंक १, दृश्य १

३ पा० बेचन शर्मा 'उग्र' : 'अन्नदाता', १९४३ई०, पृ०५१, अंक२, दृश्य २

४ पृथ्वीनाथ शर्मा : 'साध', १९४४ई०, पृ०५९, अंक३, दृश्य२

५ वही, पृ०६७, अंक३, दृश्य३

स्वप्रवृत्ति पर गर्व करता है । वह नहीं समझ पाता कि इस झूठी सभ्यता के फेर में पड़कर वह कैसे नारी-जीवन के सत्य को ठुकरा देती है ।"

सेठ गोविन्ददास के "संतोष कहां ?" नाटक में मनसाराम की पत्नी को हर स्थिति में संतोष रहता है । वह पति की इच्छा के आगे धन आदि की बिल्कुल इच्छा नहीं करती । लेकिन जब मनसाराम सन्तोष को ढूंढते-ढूंढते सब कुछ छोड़कर सत्याग्रह में कूद पड़ता है, तब रमा अपने बच्चों को अशिक्षित रहते देख एकदम व्याकुल हो उठती है । उसका पत्नीत्व तो सब कुछ सहन कर लेता है, लेकिन मातृत्व बच्चों को गंवार अशिक्षित नहीं देख सका । वह कहती है--
राजकुमार का निर्धन गरीबदास होना भी मैंने बर्दाश्त कर लिया, लेकिन ---बापका इकलौता बेटा गंवार रहे, वह चरित्रहीन हो जाय, यह --- यह रमा की सहन शक्ति के बाहर की बात है ।[1]" यह रमा नहीं,बरन् उसकी मातृत्व-शक्ति बोल रही है ।प्रबुद्ध ब्रह्मचारी के "श्री शुक" भी अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र हैं, गुरु के आश्रम में बाल्यकाल से ही चले जाने के कारण उनकी माता पुत्र-अलगाव को सहन नहीं कर पातीं । उनकी वेदना, पुत्र-स्नेह, वन की देवियों से सहानुभूति व कृपा चाहती है--
" ----- हे देवियों । तुम उसकी रक्षा करना । तुम नारी हृदय की पीर जानती हो । पुत्र के लिए माता की आत्मा कैसी होती है, इसका तुम्हें पता है । मेरा लाल कहीं हो तो उसे मुझसे मिला दो ।[2]" नारी अपनी सन्तान को हमेशा अपने ही पास रखना चाहती है । उसका सम्पूर्ण सुख उसी में निहित रहता है । मातृत्व ही स्त्रीत्व की सार्थकता है । रामवृक्ष बेनीपुरी की सुमना भी यही मानती है । वह नारी की साज-सिंगार की प्रवृत्ति को उसकी हीनता का सूचक मानती है । वह हीनता तभी दूर होती है, जब नारी में मातृत्व आता है । तब वह महिमान्वित हो जाती है । वही नारीत्व का चरम उत्कर्ष है ।[3]

नाटककार सुदर्शन के "भाग्यचक्र" नाटक में लाजवन्ती का हृदय, पुत्रहीन होने पर भी मातृत्व के अनुभवों से युक्त है । अपने ही पति द्वारा भतीजे दिलीप

1 सेठगोविन्ददास : "सन्तोष कहां ?", १९४५ई०,पृ०५५, अंक३
2 प्रबुद्ध श्री ब्रह्मचारी : "श्रीशुक", १९४६ई०,पृ०५६, अंक १,दृश्य १
3 रामवृक्ष बेनीपुरी : "अम्बपाली", १९४७ई०, पृ०१५,अंक १,२

को खो देने पर उसका मन एकदम व्याकुल हो जाता है,क्योंकि उसने हमेशा दिलीप को ही अपना पुत्र माना है । दिलीप का ज़रा भी कष्ट जब वह नहीं बर्दाश्त कर सकती तो उसका लुप्त हो जाना वह कैसे सह सकती है । वस्तुत: नारी के हृदय में मातृत्व निहित रहता है और वह उसकी पूर्ति किसी भी सन्तान पर अनायास कर लेती है । वह एक सच्ची माँ तो सिद्ध होती है, उस समय जब कि दिलीप के दिमाग को ऑपरेशन की बात सामने आती है,तो वह स्पष्ट इन्कार कर देती है, क्योंकि उसके लिए दिलीप का जीवन पहले है,बाद में उसकी स्मरण-शक्ति[1] । अपना पुत्र न होने पर भी वह मातृ-स्नेह से हमेशा युक्त रहती है ।

सुदर्शन के 'सिकन्दर' नाटक में माँ-बेटे की नापाक मुहब्बत पुरु की रानी सरिता व उसके बेटे अमर में पाई जाती है । अमर जब युद्ध करते हुए समाप्त हो जाता है तो सरिता उन्मादिनी -सी हो जाती है । राजरानी होते हुए भी वह उसके दु:ख को भूल नहीं पाती,क्योंकि वह एक माँ है । --" ---- आप पिता हैं, आप भूल सकते हैं । मगर मैं कैसे भूल जाऊँ? मैं उसकी माँ हूँ । वह मेरा पुत्र है । वह मेरे मन में सदा जीता रहेगा ।"[2] मातृत्व एक ऐसा भाव है कि जिस प्रकार भी हो नारी उसे पूरा करना चाहती है । लक्ष्मीनारायण मिश्र की पद्मावती का हृदय एक सच्चे मातृ-स्नेह से ओत-प्रोत है । वह इस सुख से वंचित रहती है,लेकिन उसे सपत्नी-पुत्र कुमार में पूरा करती है । कुमार भी उसके ममत्व से अधिक प्रभावित है । वह कोई भी चीज़ उदयन एवं वासवदत्ता से नहीं सीख पायेगा,लेकिन पद्मावती से बहुत जल्दी सीख लेता है । यह पद्मावती की भावना का प्रभाव है[3] ।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि नाटकों में नारी पात्रों के अन्दर मातृत्व की व्याकुलता वर्तमान है । नाटककारों ने मातृत्व[4] को ही नारीत्व का चरम विकास माना है, वही नारी जीवन की सार्थकता है ।

---

१ सुदर्शन : 'भाग्यचक्र',१९४७ई०,प्र०सं०,पृ०१२७,अंक३,दृश्य २

२ सुदर्शन : 'सिकन्दर', १९४७ई०,प्र०सं०,पृ०१२५,अंक ३,दृश्य ३

३ लक्ष्मीनारायण मिश्र :'वत्सराज',१९५०ई०,प्र०सं०,पृ०९४,अंक २

४ . 'Motherhood is one of the most sacred & unique functions of womanhood & should not be left to the mercy of exigencies.."
-by P.Thomas. Indian Woman through the Ages- P.360, 1964.

पुत्रीरूप

हिन्दु परिवार में पुत्री का स्थान पुत्र की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण होता है । सम्भवतः इसीलिए कि उनका मातृ-गृह में स्थिर निवास नहीं हो पाता है । लेकिन जितने दिन भी उनका निवास माता-पिता के घर होता है, वहाँ भी उनका जीवन आदर्श से ही प्रेरित रहता । माता-पिता के प्रति उनका आत्मिक सम्बन्ध अत्यन्त वात्सल्य मय होता है । प्राचीन काल से ही पुत्रियों ने अपने माता-पिता के आन की सदैव रक्षा की है ।

आलोच्यकाल के नाटककारों ने यत्र-तत्र इसका चित्रण किया है । जमुनादास मेहरा की देवयानी का पिता शुक्राचार्य पर असीम स्नेह है । वह कच से प्रेम करती है, लेकिन शुक्राचार्य के उदर में कच को दानव धोखे से पहुंचा देते हैं, जिससे देवयानी पिता व पति में से एक को ही प्राप्त कर सकती है । शुक्राचार्य पुत्री के प्रेम के कारण अपना जीवन त्याग देना चाहते हैं, लेकिन देवयानी पिता से स्पष्ट इन्कार कर देती है --` नहीं कदापि नहीं, मुझे आपसे अधिक कच प्यारा नहीं --`[1]। देवयानी को पिता से असीम स्नेह है, वह उनका जीवन नहीं चाहती । सुदर्शन के `अंजना` नाटक में सुलदा व अंजना दोनों ही भिन्न विचारों की पुत्रियां हैं । सुलदा पुत्री होकर अपने माता-पिता के लिए सब कुछ कर सकती है, उनका कहा मान सकती है, लेकिन उनकी विवाह विषयक सम्मति मानने के लिए तैयार नहीं है[2]। अंजना अपनी माता-पिता के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का भाव रखती है । पति-गृह में सास-श्वसुर द्वारा व्यर्थ में तिरस्कृत होकर जब वह पितृ-गृह में आती है, तो पिता द्वारा माँ के अनुरोध पर भी जब शरण नहीं मिलती तो वह अपने पिता-माता को बुरा कहने की अपेक्षा उसे अपनी नियति ही मान लेती है[3]। मेंहदी हसन साहब के `चलता पुर्जा` नाटक में नज़मा एक ऐसे बाप की बेटी है, जिसका दामन गुनाहों से खाली नहीं है । लेकिन नज़मा इसके बावजूद अपने पिता को हमेशा प्यार करती है । वह गरीब की लड़की, किसी प्रकार मेहनत करके

---

१ जमुनादास मेहरा : `देवयानी`, १९२२ई०, प्र०सं०, पृ०४०, अंक१, दृश्य ८

२ सुदर्शन : `अंजना`, १९३०ई०, द्वि०सं०, पृ०६, अंक१, दृश्य १

३ वही, पृ०८१, अंक ३, दृश्य ३

जिन्दगी चलाती है । पिता की मृत्यु की झूठी खबर सुनकर इधर-उधर पितृ-स्नेह में व्याकुल घूमती फिरती है[1] । वह स्नेहविह्वल नज्मा स्थान-स्थान पर अपने अपराधी पिता को बचाती रहती है । नज्मा को नाटककार ने अत्यन्त मासूम दिखाया है । वह यह जानती है कि उसका पिता घोर अपराधी है, लेकिन फिर भी उसका प्रेम पिता पर से घटने की जगह बढ़ता ही जाता है ।

नाटककार श्रीकृष्ण मिश्र की देवकन्या मेनका माता के प्रति स्नेहमयी तथा श्रद्धालु होते हुए भी, माता की एक इच्छा से सहमत नहीं होती । वह माता द्वारा निर्देश की हुई जमींदार राजराघव की प्रेमाग्नि में आहुति अपने शरीर की नहीं देना चाहती । वह अपनी मां से स्पष्ट मनाकर देती है । उससे पृथक् जाकर रहने लगती है[2] । लोभ माता को कितना गिरा देता है, ऐसी स्थिति में नाटककार, उचित ही, पुत्री द्वारा कार्य करवाता है ।

माता-पिता चाहें कितने भी अपराधी हों लेकिन पुत्री उनको कष्ट में नहीं देख सकती । प्रो० सत्येन्द्र कृत 'मुक्ति का यज्ञ' नाटक में विजया का पुत्री रूप में स्वाभाविक चित्रण हुआ है । विजया के पिता कंचुकीराय हीरादेवी से मिले होने के कारण मुगल सेनापति रणदूलह खां के लिए, जब रौशनआरा के पास जाते हैं तो सन्देह में गिरफ्तार कर लिये जाते हैं । विजया एक देश-सेविका है । वह यह जानती है कि उसके पिता देशद्रोह कर रहे हैं, लेकिन फिर भी उसका हृदय पितृ-स्नेह से व्याकुल रहता है । जब वह चम्पतराय व छत्रसाल को हीरादेवी के षड्यन्त्र से आगाह करती है, तो वह उनसे, पिता के लिए ही, रणदूलह खां को मुक्त करने की प्रार्थना करती है । जिससे मुगल हरम में रणदूलह खां उसके पिता कंचुकीराय की सफाई दे सके और पिता कंचुकीराय बन्दीगृह से छूट सकें । यह कहते-कहते उसकी पीड़ा आंसुओं के रूप में बाहर निकल पड़ती है । "मेरे पिता ---- वे कुछ भी हों, देशद्रोही विश्वासघातक पर मेरे पिता म्लेच्छों की कैद में सुनकर[3] मैं रो पड़ती हूं ---- इसीलिए मैं रणदूलह खां को छोड़ने की प्रार्थना कर रही थी । विजया का पितृ-प्रेम प्रबल है,

---

१ मेंहदी हसन लाहक : 'कुलटा पुत्री', १९३५ई०, पृ०७७, अंक२, दृश्य ३
२ श्रीकृष्ण मिश्र : 'देवकन्या', १९३६ई०, प्र०सं०, पृ०३१, अंक१, दृश्य४
३ प्रो० सत्येन्द्र : 'मुक्तियज्ञ', १९३७ई०, पृ०७०, अंक २, दृश्य४, प्र०सं०

वह उसे अपमान की स्थिति में नहीं देख सकती । श्री रामचन्द्र वर्मा की 'लता' नहीं समझ पाती कि अपने गरीब पिता के मानसिक कष्ट के किस प्रकार दूर करे । कन्या के लिए संसार में माता-पिता ही तो उनकी कोमल भावनाओं के आधार होते हैं, रक्षक होते हैं । वह एकदम प्रलाप करने लगती है । "--- मुझे "बेटी" कहकर[1] कौन पुकारेगा? मुझे त्याग और बलिदान की कथाएं सुना-सुनाकर कौन सुलायेगा ?" 'आर्योदय' नाटक में रानी कैकयी ने विवाहोपरान्त अपनी पिता की शिक्षा को भुला दिया था । पुत्री होकर उन्होंने पिता की सीखों की उपेक्षा की । लेकिन जब वे अपना सब कुछ खो चुकती है,तब उन्हें पितृ-प्रेम के प्रति चेत होता है । वह कहती हैं--" ---- पिता की शिक्षा की उपेक्षा कर मैं अनार्य भाव में ही रंगी रही[2] और पति पुत्र को गंवाकर आज आर्य-सभ्यता का कुछ-कुछ रहस्य समझ पायी --- ।" सेठ गोविन्ददास की रेवा सुन्दरी, प्रणय के आगे पितृ मर्यादा को ही महत्व देती है । वह यदुराय को पिता द्वारा दिए गए निष्कासन का विरोध नहीं कर पाती है,[3] साथ ही अपने प्रेम पर दृढ़ भी रहती है ।

सेठ गोविन्ददास के ही एक अन्य नाटक 'गरीबी या अमीरी में भी अचला की पिता और प्रेम के बीच परीक्षा है । विद्याभूषण अचला से प्रेम करता है, लेकिन वह आदर्शवादी है, उसके पिता द्वारा अर्जित धन को वह छूना भी नहीं चाहता,क्योंकि यह अत्याचार की कमाई है । जब तक अचला पिता को छोड़ न देगी, तब तक वह विवाह करना उचित नहीं समझता । अचला यह जानते हुए भी कि पिता जी ने धन का किस ढंग से उपार्जन किया है,पितृ-प्रेम को छोड़ नहीं पाती ।वह विद्याभूषण से अपनी विवशता अत्यन्त कातर होकर कहती है । "भूषण ---अचला तुम्हारे प्रेम में --- अचल है -- - पर पिता जी का स्नेह ---उन्हें मैं क्या कम चाहती हूं ? कभी नहीं --- मैं सम्पत्ति को --- हाथ का मैल समझती हूं, लेकिन पिता जी को[4] ---- ।" पूरे नाटक में अचला का जीवन पिता और पति के बीच झूलता रहता है ।

---

१ रामचन्द्र सक्सैना : 'लता',प्र०सं०, पृ०२६,अंक२, दृश्य १ , G.काल.२।

२ शिवकुमारी देवी : 'आर्योदय',१९४०ई०,प्र०सं०,पृ०८२-८३,अंक ३दृश्य४

३ सेठ गोविन्ददास : 'कुलीनता',१९४१ई०,प्र०सं०,,पृ०८८अंक ३,दृश्य २

४ सेठ गोविन्ददास : 'गरीबी या अमीरी',१९४७ई०,प्र०सं०,पृ०३४-३५,अंक १दृश्य२

वह कभी पिता को छोड़ती है, कभी पति को ? वास्तव में नारी को अपने दोनों स्थान अत्यन्त प्रिय रहते हैं, लेकिन यदि पिता और पति के बीच असमान विचारों की दीवार खड़ी हो जाय तो वह अत्यन्त विवश हो उठती है । उसकी अवस्था अत्यन्त दारुण हो जाती है । वह न पिता के हृदय को चोट पहुंचा सकती है, न पति पर । आदर्शों का अन्तर नारी जीवन को कितना विचलित कर देता है ।

इस प्रकार नाटककारों ने पुत्री हृदय को भी परखा है, वह अपने माता-पिता की मर्यादा को जानती है, उनके लिए उनके हृदय में असीम प्रेम भरा रहता है जिसे वह अत्यन्त सरलता से तोड़ नहीं सकती ।

बहन-भाई

विश्व में प्रत्येक मानव के लिए भाई-बहन के रिश्ते जितने पाक होते हैं, उतने शायद ही अन्य कोई सम्बन्ध हो । यह वह सम्बन्ध है, जिसमें कालिमा की खरोंच नहीं आ पाती । जिसमें आत्मीयता, त्याग, सौहार्द्र भरा रहता है । एक ही माता-पिता की सन्तान होने के कारण आन्तरिक स्नेह से परिपूर्ण रहता है । हमारी भारतीय संस्कृति में यह सम्बन्ध पूर्ण आदर्शात्मक है । आदर्शात्मक इस अर्थ में कि वह कभी भी वासनात्मक नहीं हो सकता है । शारीरिक पूर्ति की भावना न कभी बहन सोच सकती है, न भाई । जब कि इस्लामी संस्कृति में ऐसा कोई आदर्श नहीं है । वहां तो भाई-बहन में ही विवाह करने की अनुमति है । यही तो हमारी संस्कृति की विशालता है ।

नारी जीवन बहन के रूप में काफी महत्वपूर्ण रहा है । उसके अन्दर भाई के लिए स्नेह, ममता, प्यार का उत्स कभी समाप्त नहीं होता है । वैदिक युग में ही स्त्री के लिए पिता के बाद अविवाहितावस्था में भाई को ही अभिभावक बताया गया है । बहन के लिए भाई के स्वाभाविक प्रेम के साथ-साथ उसका संरक्षकत्व अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है । उसके लिए भाई दाहिनी भुजा है । पति के बाद जीवन में भाई ही सहायक होता है । हमारे यहां भाई बहन की यह पाक मुहब्बत इस राखी के धागों में गुम्फित है । विवाहोपरान्त भी वह प्रत्येक वर्ष

इन राखी के धागों के माध्यम से उसके कल्याण की कामना करती हुई अपने प्रति उसकी संरक्षता को सचेष्ट करती रहती है । इन धागों का मूल्य हमारे इतिहास में भी प्रतिष्ठित है । हुमायूं मुसलमान होकर भी शत्रुपक्ष से रानी कर्मवती द्वारा भेजी गई राखी को न ठुकरा पाया । बनी हुई बहन के लिए वह रक्षा के लिए जाने को दौड़ आया । इन राखी के धागों में इतनी शक्ति निहित रहती है कि वह जिसके हाथ में बंध जाती है, वही धर्म भाई बन जाता है, जो भावना में सहोदर भाई से किसी भी मात्रा में कम नहीं होता है ।

भाई-बहन का सम्बन्ध इतना अधिक पाक है कि यह कभी भी किसी भी स्तर पर चिन्ता के विषय नहीं बना । वह कभी समस्यात्मक नहीं बना, कि उसका समाधान आवश्यक हो जाय । आलोच्यकाल में जब कि भारत परतन्त्र था, समस्याओं का इतना ढेर लग गया था, कि प्रत्येक का ध्यान समस्याओं के समाधान में ही रहता था । २०वीं शताब्दी के प्रथम चरण में जब कि नाटक-साहित्य अपनी उद्भवावस्था में था, नाटककार समाज और देश की समस्याओं को ही अपने नाटकों का विषय बना रहे थे । जब शनैः शनैः नाट्य कला का विकास होने लगा, जीवन अपने विस्तृत रूप में उसमें आने लगा , तो मानव जीवन के इन सम्बन्धों का विवरण आने लगा । भाई-बहन के सम्बन्ध भी नाटक में यत्र-तत्र दिखाई देने लगे ।

पौराणिक आख्यान को लेकर चलने वाले नाटककारों ने भाई-बहन के सम्बन्ध की पवित्रता व महत्ता दिखाई है । द्वारिकाप्रसाद गुप्त रसिकेन्द्र ने 'अज्ञातवास' में कीचक सुदेष्णा के बीच इस सम्बन्ध को प्रदर्शित किया है । भाई चाहे कितना ही बुरा हो, लेकिन बहने के लिए उसका होना ही गौरव की वस्तु है । सुदेष्णा अपने भाई कीचक की प्रवृत्ति से अवगत है, लेकिन वह अपने भातृ-प्रेम के कारण विवश सी रहती है । सैरन्ध्री पर कलुषित दृष्टि देखकर वह कीचक को समझाती भी है, लेकिन भातृ-प्रेम उसे कठोर नहीं होने देता । कीचक को जब भीम द्वारा अपने पाप का फल मिलता है और हमेशा के लिए शान्त हो जाता है तो सुदेष्णा विलाप करती है कि अब वह किसे भाई कह सकेगी[१] ।

---

१ द्वारिकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेन्द्र' : 'अज्ञातवास', १९२१ई०, प्र०सं०, पृ०६९-७०, अंक२ गर्भांक १

प्रारम्भ में तो अजातशत्रु की क्रूरता को दूर करने का प्रयत्न करती है । पर जब मां छलना के कारण सफल नहीं हो पाती, तो उसकी अप्रत्यक्ष रूप से मन:स्थिति के परिवर्तन में सहायक होती है[1] । अत: `प्रसाद` ने भारतीयता को नहीं छोड़ा है । बहन-भाई की मर्यादा का मूल्य जानती है । वह उसको अपने कर्म से अपमानित नहीं कर सकती । `स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य` में देवसेना अपने भाई बन्धुवर्मा के उत्सर्ग के महत्त्व को जानती है । बन्धुवर्मा ने अपने राज्य मालव को स्कन्दगुप्त को सौंप दिया था । देवसेना स्कन्द के प्रणय को इसीलिए स्वीकार नहीं करती कि कहीं लोग यह न सोचें कि स्कन्द को मालव देकर मोल ले लिया गया, क्योंकि इसका आभास उसे विजया की मनोदशा में मिल गया था । यदि ऐसा हो जायगा तो भाई बन्धुवर्मा का उत्सर्ग अपमानित होगा । भाई का गौरव बहन का गौरव होता है । यही उसका आत्म-सम्मान होगा । देवसेना इसे अच्छी तरह जानती थी, -- मानव ने जो देश[2] के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूंगी -- ।" `प्रसाद` के प्राय: सभी नाटकों में जहां पात्रों में भाई-बहन के सम्बन्ध है, वहां बहनें हमेशा भाइयों के उत्थान की कामना करती हैं ।

हरिकृष्ण `प्रेमी` अपने नाटक में भाई-बहन के स्नेह के प्रतीक धागे का मूल्य स्थापित करते हैं । `रक्षाबन्धन` नाटक में रानी कर्मवती राखी के मूल्य को जानते हुए आपत्ति में शत्रु हुमायूं को अपनी राखी भेज धर्म-भाई बना लेती हैं और सहायता की याचना करती हैं । वह जानती है कि इस राखी में निहित उसके स्नेह को देख हुमायूं धार्मिक संकीर्णता में नहीं रह सकता--`वह ध्रुवतारा की भांति स्पष्ट एक ही दिशा की ओर इंगित करता है--बलिपथ की ओर, सर्वस्व समर्पण की ओर---भाई-बहन का सम्बन्ध[3] धार्मिक संकीर्णता से बहुत ऊंचा है, वह इस मर्त्य जगत का सुन्दरतम पदार्थ है---`। हुमायूं एक मुसलमान, वह भी शत्रु पक्ष

---

१ जयशंकर `प्रसाद` : `अजातशत्रु` १९२२ई०, प्र०सं०, पृ०१६६, अंक३, दृश्य८

२ वही : `स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य`, १९२८ई०, प्र०सं०, पृ०१३६, अंक५

३ हरिकृष्ण प्रेमी : `रक्षाबन्धन`, १९३४ई०, पृ०८१, अंक३, दृश्य३

का, लेकिन शायद इन सबसे पहले वह मानव है। राखी पाने के बाद उसका मन अपनी बहन के प्रति कर्तव्य के लिए उत्कंठित हो उठता है। `बहन कर्मवती ! अपने साविंद के दुश्मन से मदद मांगना, उसे भाई बनाना, उसे अपने यकीन का सबसे पाक और सबसे प्यारा हिस्सा देना, कम फ़राखदिली नहीं, बहन का प्यार ! हाय वह मेरे लिए हमेशा ही सपने की चीज रहा है ---।[1]` नाटक के अन्त में हुमायूं को यही अफसोस होता है कि न तो वह बहन के सामने आ पाया, न उसे बचा सका। राखी का वास्तविक मूल्य वह न चुका पाया।

रामनरेश त्रिपाठी के `जयंत` नाटक के कुसुम व जयंत के व्यवहार तथा आचरण दोनों ही प्रेम से ओतप्रोत हैं। कुसुम के लिए परिस्थितिवश भाई का बिछोह कितना कष्टप्रद रहता है। शिक्षा और ज्ञान से परे उसके अन्दर बचपन में ही ऐसे भाई जयंत के लिए एक विशेष उत्तेजना होती रहती है[2]। डाकू के प्रति उसके अन्दर अनजाने ही स्नेह होने लगता है। जयन्त भी अपनी बहन की स्नेहिल मूर्ति कौन न भूल सका था। बहन के प्रति हुए अत्याचारों ने उसे डाकू बना दिया था, सिर्फ धनिक वर्ग के लिए। उनसे धन लूटकर गरीबों में बांटना यही उसका उद्देश्य हो गया था `यही मेरा भाई जयंत है, हृदय को कैसे रोकूं। जी चाहता है कि दौड़कर भाई के गले से लिपट जाऊं। वीर भाई ने बहन के अपमान का बदला कितनी लम्बी तपस्या करके लिया है[3]।` प्रो० सत्येन्द्र कृत `मुक्तियज्ञ` की रोशनआरा अपनी महत्वाकांक्षा के आगे उचित-अनुचित का कुछ भी ख्याल नहीं करती। वह तो भाई औरंगजेब को ही समाप्त कर हिन्दुस्तान की मलिका बनना चाहती है। उसके लिए भ्रातृत्व कोई चीज़ नहीं। वास्तव में भाई-बहन की निःस्वार्थता हमारी भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। औरंगजेब की पुत्री बदरुन्निसा अनायास ही कभी छत्रसाल के प्रति बहन की मुहब्बत को संजो कर रखती है। छत्रसाल के सम्पर्क में आकर भारतीयता की विशालता

---

१ हरिकृष्ण प्रेमी : `रक्षाबन्धन`, पृ०८०, अंक ३, दृश्य २।
२ रामनरेश त्रिपाठी : ` जयंत`, प्र०सं०, पृ०११६, अंक३, दृश्य७, १९४६।
३ वही, पृ०१०२, अंक ३, दृश्य५।

से परिचित होती है । मातृत्व की गरिमा से प्रेरित छत्रसाल बदरुन्निसा के पिता औरंगजेब को जो कि उसका कट्टर शत्रु है, मौत से बचाता है । और सबके ऊपर अपने कर्तव्य का प्रभाव छोड़कर आश्चर्य चकित कर देता है । उधर बदरुन्निसा पिता औरंगजेब द्वारा बुन्देलखण्ड स्वतन्त्र न करने पर भाई छत्रसाल के आदर्शों पर महलों को छोड़ कुटिया में ही रहकर सेवा का व्रत लेकर चलती है । शत्रुता का नाता राजनीतिक नाता है, यह नैतिकता का पतन है, किन्तु भाई-बहन का यह नाता दिव्य नैतिक नाता है ।[1] रोशनआरा का औरंगजेब के प्रति व्यवहार नारी जीवन की एक विडम्बना है । वस्तुत: जब नारी अपनी महत्वाकांक्षा से प्रेरित हो कठोर हो जाती है, उसकी कठोरता पुरुष की भी कठोरता को पीछे छोड़कर आगे निकल जाती है । उसकी इस दौड़ में सम्बन्धों का कोई मूल्य नहीं रह जाता है ।

'आहुति' नाटक में त्याग बहन का प्रबल पक्ष है । नाटककार पुरुषोत्तम महादेव वैद्य ने शराबी भाई मोहन के लिए बहन सुमति से जो उत्सर्ग कराया है, वह सभी के लिए अत्यन्त संवेदित हो उठता है । वह नहीं चाहती कि बहन के रहते गुमराह किए गए भाई मोहन के (रुपये गबन के अपराध में) पैरों में बेड़ियाँ पड़ें । वह दुष्ट श्यामलाल के पास चल पड़ती है सहायता के लिए भले ही उसे अपने शरीर द्वारा उसकी काम-पिपासा को शान्त करना पड़े । उसके जाने के बाद मोहन का पुरुषत्व जाग उठता है । और अगले ही क्षण श्यामलाल से उसकी दुष्टता के कारण टकरा जाता है । श्यामलाल द्वारा चलाई गई पिस्तौल से,सुमति भाई को बचाने के लिए स्वयं बीच में आ जाती है । मोहन एकदम व्यथित हो उठता है । --" ---- बहन ! सुमति ! ---- दुर्व्यसनी भाई के लिए अपने प्राणों की आहुति चढ़ाकर तुम तो अब स्वर्ग सिधार रही हो ---- परन्तु सुमति, अब मुझे भैया कहकर ---- ।"[2] भाई के प्रति बहन के इस त्याग में प्रेम की चरम सीमा है । जिस प्रकार अपने पास रहते हुए भ्रातृत्व के खो जाने पर बहन का हृदय चीत्कार कर उठता है, उसी प्रकार भाई मोहन की बहन की स्नेहपूर्ण छाया के खो जाने पर वेदना एकदम मुक हो उठती है ।

---

१ प्रो० सत्येन्द्र : 'मुक्ति यज्ञ',१९३७ई०,पृ०४७, अंक १,दृश्य २, पृ.ले.

२ पुरुषोत्तम महादेव वैद्य : 'आहुति',पृ१९३८ई०, पृ०८ ७२,अंक३, दृश्य३,पृ०ई०

देवीप्रसाद के 'आदर्श महिला' नाटक में बहन-भाई स्वाभाविक प्रेम से युक्त हैं। दुर्गावती अपने दु:खी जीवन में केवल भाई रमेश से ही सहानुभूति[1] पाती है[2]। रमेश, माँ के विरोध करने के बावजूद बहन की शिक्षा तथा पुनर्विवाह का समर्थन करता है। बहन का दु:ख स्वयं उसको पीड़ित किये रहता है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'छाया' नाटक में रजनीकान्त की पत्नी ज्योत्सना प्रकाश की मुंह बोली बहन है। लेकिन दोनों के अन्दर एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक स्नेह की कमी नहीं है। प्रकाश बहन ज्योत्सना को उसके दु:खों से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न करता है, इसके लिए उसे अनेक सन्देहों का भी सामना करना पड़ता है, लेकिन वे विचलित नहीं होते। उसको पहली बार जब अपनी रचना के रुपए मिलते हैं, तभी वह उन रुपयों को पत्नी छाया के पास भेजने की अपेक्षा, बहन की इज्जत बचाने के लिए दे देता है। वह इन्कार न करने की बात तो सोच ही नहीं सकता[3] -- "पहली बार एक बहनने कुछ मांगा है, और भाई इन्कार कर दे ---।" उधर बहन सोचती है, "मैं कितनी स्वार्थिनी हूं ----अपनी पत्नी को गरीबी की ज्वाला[4] में झोंक कर मुंह बोली बहन के सुहाग की शोभा अक्षुण्ण रखना चाहता है ---।" बहन के प्रति भाई का त्याग और बहन का मौन संकोच एवं स्नेह, सम्बन्ध की वास्तविकता है।

नाटककार इस सम्बन्ध की पवित्रता अपने एक अन्य नाटक 'बन्धन' में भी रखी है। मोहन एवं सरला का और मालती और प्रकाश के सम्बन्ध एक दूसरे के प्रति अत्यन्त स्नेह से युक्त हैं। सरला, मोहन की बहन है, अभावों में भी भाई का साथ नहीं छोड़ती। मजदूरों के प्रति भाई के सहयोग को वह और अधिक प्रेरणा प्रदान करती है। मोहन बहन के बल को स्वीकार करता है --"तुम मेरा बल हो बहन! एम०ए० तक पढ़ने के बाद भी इन मजदूरों में रहकर[5] मजदूर बनकर मैं काम कर रहा हूं, यह सब तुम्हारे स्नेह के आशीर्वाद से ---।" इसी प्रकार मालती

---

1 देवीप्रसाद : 'आदर्श महिला', १६३८ई०, प्र०सं०, पृ०६३, अंक२, दृश्य२

2 वही, पृ०६७, अंक२, दृश्य ३

3 हरिकृष्ण 'प्रेमी' : 'छाया', १६५१ई०, प्र०सं०, पृ०५३, अंक ३ दृश्य १

4 वही, पृ०५४, अंक ३, दृश्य २

5 हरिकृष्ण 'प्रेमी' : 'बन्धन', १६५१ई०, पृ०२७, अंक१, दृश्य ७

भी भाई प्रकाश के अन्दर की टूटन को महसूस करती है, जिसे वह शराब में डूबा रह कर[१] भूल जाना चाहता है। मालती को, उसे शराब पीते देखकर अत्यन्त दुःख होता है। वह भाई के प्रति स्वाभाविक स्नेह के आकर्षण के कारण ही पिता के विचारों से अलग्न हो जाती है। गरीबों के प्रति सहायता की भावना भाई के कारण ही उदय होती है।

नाटककार श्री शिवप्रसाद बारण द्वारा बहन की पवित्रता आवृत है। "महाराणा संग्राम सिंह" नाटक में पृथ्वीराज यशसिंहल से बहन आनन्दबाई की दुर्दशा सुनकर एकदम उत्तेजित हो जाता है। उसका भातृत्व बहन के कष्टों को दूर करने के लिए बेचैन हो उठता है। "केवल सूत्र के दो धागे बांधने से ही ---- धर्म बहिन ----- के लिए हिन्दू वीर हंसते-हंसते अपने प्राण और सर्वस्व को अर्पित कर देते हैं[२] फिर सोदरा बहन के कष्ट को हरने के लिए पृथ्वीराज क्या नहीं कर सकता -- -।" आनन्दबाई पति द्वारा की गई भाई की भर्त्सना को नहीं सह पाती, लेकिन साथ ही अपनी पत्नीत्व की मर्यादा को सुरक्षित रखते हुए भाई पृथ्वीराज को कुछ करने के पहले ही शान्त कर देती है। "आदित्यसेनगुप्त" नाटक में देवप्रिया पितृवंश की बुझती लौ को तीव्र करने के लिए भाई आदित्यसेन के जीवन में बहन के रूप में एक अभिभावक बन प्रेरणा का स्रोत बनती है। वह सदैव भाई के सुरक्षित रहने की कामना करती रहती है। देवप्रिया ने भाई को बनाने में कहीं भी अपमानित करने की स्नेह से कमजोर नहीं होने दिया। अपने दक्षिण स्थान में गोद के[३] जिस प्यार, स्नेह को छोड़कर आई थी, उसे उसने आदित्य में ही प्रतिस्थापित किया। दिल में अपने उस जीवन की आंधी को लिए हुए भी देवप्रिया ने स्थिर तथा गम्भीर रहकर भाई को बनाने में सब कुछ लगा दिया। नाटक लेखिका कंचनलता सब्बरवाल ने बहन में भाई के लिए मातृ-गरिमा को दिखाकर बहन-भाई के प्यार को और ऊंचा उठा दिया है। "तुम देवी हो। सचमुच बहिन, इसी प्रकार[४] जीवन के प्रत्येक क्षण के मेरे दुःखी दुर्बल हृदय में साहस व भरती रहना बहिन।"

---

१ हरिकृष्ण 'प्रेमी' : "बन्धन", पृ०१२, अंक १, दृश्य३ १०/५१ई.
२ शिवप्रसाद बारण : "महाराणा संग्राम सिंह", १९५२ई०, पृ०८५, अंक३, दृश्य२
३ कंचनलता सब्बरवाल : "आदित्यसेन गुप्त", १९५२ई०, पृ०७२, अंक३, दृश्य३
४ वही, पृ०७२, अंक३, दृश्य ३

नारी को बहन रूप में समाज में विशेष सम्मान प्राप्त है। नाटककार वृन्दावनलाल वर्मा इस सम्बन्ध एवं इसके साधन रूप रक्षाबन्धन को समाज में सदैव बने रहने की कामना करते हैं।[1] 'राखी की लाज' नाटक उनकी भावना का उदाहरण है। डाकू मेघराज अनजानक चम्पा द्वारा बांधी गई राखी की लाज को सुरक्षित रखता है। मात्र राखी के धागों ने मन-मस्तिष्क को एकदम परिवर्तित कर दिया। वह धर्म की बनी बहन के घर डाका कैसे डाल सकता था। वह अपने सरदार सहित समस्त गिरोह को कामयाब नहीं होने देता। बहन का पवित्र-स्नेह जीवन की वास्तविकता दिखाता है और वह बहन के परम स्नेह के समान ही स्वच्छ होने का प्रयत्न करता है। "बहन की राखी ने अन्यायी जीवन के खूंटे से ----- बांध दिया।"[2] चम्पा मेघराज भाई से अत्यन्त स्नेह करने लगती है। थानेदार के सामने उसे स्वीकार नहीं करने देती कि वह भी डाकुओं के साथ था। उसका स्नेह उसे हर क्षण इस विषय में भयभीत रखता है। राखी में ही इतनी शक्ति थी, जिसने मेघराज के जीवन को आदर्शात्मक मोड़ दिया। चम्पा के विवाह में वह बड़े उत्साह के साथ भाई के पद से अपनी जमापूंजी ग्यारह रुपए से टीका करता है। "चम्पा के भाई की यह थोड़े ही दिन की कमाई है, दादा। परन्तु राखी के बन्धन से उऋण वह कभी न हो सकेगा।"[3]

'राज्यश्री' नाटक में जब राज्यश्री अग्नि में सती होने चलती है, उस समय भाई हर्ष का दिवाकर मित्र से अपने लिए भी काषाय मांगना उसे विचलित कर देता है। वह भाई को कर्मण्य बनाए रखने के लिए अपने चुने मार्ग को छोड़ देती है। भाई का बहन के लिए काषाय लेना और बहन का भाई के लिए

---

1 "मैं राखी की सुन्दर प्रथा के चिरकाल तक जीवित रहने का आकांक्षी हूं। स्त्री को शीघ्र ही आर्थिक स्वतन्त्रता मिलेगी -- परन्तु स्त्री को सम्मान की दृष्टि से देखने का यदि यह एक अतिरिक्त साधन रक्षाबन्धन समाज में बना रहे तो क्या कोई हानि होगी?" --नाटक 'राखी की लाज' के 'परिचय' से, पृ०५

2 वृन्दावनलाल वर्मा : 'राखी की लाज', १९४३ई०, पृ०४२, अंक२, दृश्य ५

3 वही, पृ०६५, अंक३, क दृश्य ७

संसार में रहना एक-दूसरे के प्रति त्याग का यह व्यवहार असीम स्नेह का वातावरण[1] उपस्थित कर देता है। वास्तव में 'प्रसाद' की सभी नारियों के हृदय में प्रेम का सागर उमड़ता रहता है। सृष्टि में उनके हर बन्धनों में स्नेह की भावना ओत-प्रोत रहती है।

सेठ गोविन्ददास भी बहन भाई की मुहब्बत को केवल जन्म या जाति तक सीमित नहीं रखते हैं। 'पाकिस्तान' नाटक में शान्तिप्रिय और जहांनारा में, हिन्दू-मुस्लिम होते हुए भी बहन भाई की भावना हिल्लोरें लेती रहती है। कुछ समय के लिए राजनैतिक विषयों पर वैषम्य व हो जाने के कारण अलग भी हुए, लेकिन फिर उनकी मौहब्बत ने ही उन दोनों को मिला दिया। शान्तिप्रिय महसूस[2] करता है कि माँ के मानिन्द बहन की मुहब्बत तो हर हालत में शान्ति देती है। उधर जहांनारा भी महसूस करती है कि अब भी उसकी शान्तिप्रिय के प्रति मुहब्बत उसी रूप में, उसी परिमाण में उसके अन्दर उपस्थित है[3]। सुदर्शन कृत 'सिकन्दर' की 'प्रार्थना' अपूर्व गौरव से युक्त है। भाई आम्भी की कृतघ्नता से उसे भाई का तिरस्कार करने के लिए विवश कर देती है। बहन भाई की कभी अवनति नहीं चाहती। उसका चारित्रिक पतन 'प्रार्थना' को अत्यन्त क्षुब्ध कर देता है-- 'आम्भि! तू मेरा भाई है! और बहन भाई का नाम लेकर गद्गद् हो जाती है। मगर तूने अपने आपको इतना गिरा लिया है कि तेरी बहन व तेरा मुंह देखना भी पाप समझती है ---[4]।' नाटककार ने दिखाया है कि विशेष परिस्थिति में ही भाई-बहन के सम्बन्ध की अवहेलना होती है, क्योंकि बहन हमेशा भाई को गौरव के पथ पर देखना चाहती है, अन्यथा भाई बहन के प्रति अपने जीवन की जीत को

---

१ जयशंकर 'प्रसाद' : 'राज्यश्री', १९४५ई०, षष्ट सं०, पृ०८५, अंक३,५।

२ सेठ गोविन्ददास : 'पाकिस्तान', १९४६ई०, पृ०१६४, प्र०सं० उपसंहार।

३ वही, पृ०१३९, अंक ३, दृश्य ४।

४ सुदर्शन : 'सिकन्दर', पृ०१०५, १९४७ई०, अंक२, दृश्य ८ में अन्तर्दृश्य, पृ०सं०

भी कुर्बान करता है । पुरु और रुख्साना के सम्बन्ध धर्म भाई-बहन के हैं । धर्म की बनी बहन रुख्साना दक्षिणा में धर्म भाई पुरु से सिकन्दर का जीवन मांग लेती है । पुरु जीवन में मिलती हुई जीत को हार कर बहन के प्रति अपने कर्तव्य को पूर्ण करता है ।

इस प्रकार नाटककारों ने सहोदर भाई-बहन के पवित्र संबंधों के साथ ही यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि राखी के माध्यम से बने धर्म के भाई और बहन भी भावना के इसी स्तर पर पहुंच जाते हैं और सम्बन्ध के प्रति कर्तव्य, त्याग, ममता को कभी समाप्त नहीं होने देते । यह वास्तव में हमारे यहां की ही वस्तु है । समाज के प्रत्येक प्राणी में हमारी संस्कृति की यह मर्यादा मानों एक पैदाइशी चीज़ है । यही कारण है कि सहोदर भाई-बहन हों या धर्म के भाई-बहन अपने मार्ग से कभी स्खलित नहीं होते ।

सास-बहू

पारिवारिक जीवन में सास-बहू के सम्बन्ध भी काफी आकर्षक रहे हैं । कन्या जब विवाहोपरान्त पतिगृह में पदार्पण करती है, तब उसे सास के रूप में अपनी मां के ही दर्शन होते हैं और सास को भी अपनी बेटी के रिक्त स्थान की पूर्ति में बहू को देख, संतोष तथा शान्ति एक साथ प्राप्त होते हैं । दोनों ही एक-दूसरे के रिक्त स्थानों की पूर्ति कर आह्लादित हो, उमंग के साथ जीवन में पुन: प्रवृत्त होती हैं । संयुक्त जीवनयापन प्रणाली के कारण भारतीय पारिवारिक चित्रण में यह सम्बन्ध जितना महत्व रखते हैं, उतना पाश्चात्य जीवन में नहीं, क्योंकि वहां जीवन को एकसाथ मिलकर व्यतीत करने की कोई उमंग नहीं है । भारत के सभी कालों में संयुक्त परिवार की प्रथा रही है, अत: सास-बहू के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भ भी यत्रतत्र प्राप्त होते हैं ।

आलोच्यकाल के नाटककारों में से कुछ नाटककारों ने इस सम्बन्ध को अवश्य चित्रित किया, लेकिन अधिकांशत: उसका गहन अध्ययन नहीं हुआ है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'सती-प्रताप' नाटक में बहू द्वारा सास की सेवा की

आकांक्षा करते हैं । सावित्री उस दिन का ही इंतजार करती है[1], जब कि उसे अपने सास-श्वसुर को पाकादि द्वारा परितोष देकर सेवा कर सकेगी । नवीन बहू का प्रथम कर्तव्य (यह) है कि वह वृद्ध सास-श्वसुर को समय पर भोजनादि दे ।

सास-बहू का आदर्शात्मक चित्रण राधेश्याम कथावाचक ने किया है । सास ज्ञानवती एवं उनकी पुत्रवधू विद्यादेवी में आदर्श व्यवहार की परि-कल्पना की है । दोनों एक-दूसरे के लिए हृदय से सुख-सुविधा का ख्याल रखती हैं । दोनों को एक-दूसरे के व्यवहार से तृप्ति रहती है । जहां तृप्ति है, संतोष है, वहां जीवन में शान्ति भी रहती है । ज्ञानवती विद्यादेवी से कहती है कि "शुद्ध भाव से सास-श्वसुर की सेवा करके तुने स्त्री-धर्म को गौरवान्वित किया है , तेरे सद्गुणों ने हम बूढ़ों को हर्षित ही नहीं, गर्वित भी किया है ।"[2] इन सम्बन्धों में व्याघात वहीं उत्पन्न होता है, जहां चमेली और बिजली जैसी स्त्रियों को अपने सुख की ही चिन्ता रहती है । अपने अस्थिर मति के कारण ही चमेली अपनी सास लक्ष्मी को मारने से भी नहीं चूकती । चम्पक को सिखा कर अपने सास-श्वसुर को घर से बाहर निकलवा देती है । बिजली अपनीसास से नृत्य भी करवाती है । नाटककार ऐसी ही बहुओं के समक्ष विद्यादेवी का आदर्श सामने रखता है,जो अपने त्याग तथा सेवा - वृत्ति से सास-श्वसुर के स्नेह का भाजन बनती है ।

नाटककार दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक "भारत-रमणी" में वासन्ती अपनी सास के प्रति अत्यन्त व स्नेहपूर्ण है । वह सास का 'माँ' के तुल्य ही पूर्ण आदर करती है । सास का अपमान उसे सहन नहीं होता । उसका पति मोहन वेश्यागामी होने पर पत्नी के साथ-साथ, माँ के प्रति भी अत्यन्त तिरस्कार, एवं अवहेलना का व्यवहार करता है जिससे वासन्ती को अत्यन्त दुःख होता है । वह पति के व्यवहार से एकदम व्यथित हो उठती है । वह अपने पति से सास के प्रति व्यवहार को सुधारने की प्रार्थना करती है--"कुलवधुओं के कर्तव्य ने, पतिव्रत के धर्म ने ,लोक की शर्म ने और नारी के कर्म ने । नाथ ! माता पर अत्याचार न करो, डरो-डरो,

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :"सती प्रताप",१८८३,भा०ना०,पृ०७७३,अंक३

२ राधेश्याम कथावाचक :"श्रवणकुमार",१९१६,प्र०सं०,पृ०५६,अंक१, सीन ४

पतिदेव ! माता के शाप से डरो, लोक-निन्दा से डरो[1]।" यदि बहुएं सास के प्रति अपने इसी प्रकार के भाव रखें तो परिवार में तिक्तता कभी न उत्पन्न हो । प्राय: सास-मां यही चाहती हैं कि उनकी बहू परिवार के प्रत्येक कार्य को अत्यन्त सुचारु रूप से करने की क्षमता रखती हो । भारतीय आदर्श नारी को सदैव एक कुशल गृहिणी के रूप में ही देखना चाहता है । "भारत वर्ष" नाटक में चम्पा भी ऐसी बहू की आकांक्षा करती है --" ---- मुझे ऐसी बहू चाहिए, जो प्रत्येक समय स्वतन्त्रता की ही उपासक न होकर घर का काम-काज भी सम्हाल सकती हो[2]।" डा०लक्ष्मण सिंह चौहान के "उत्सर्ग" नाटक में शिवाजी और उनकी रानी पुत्र संभाजी के विवाह के लिए अत्यन्त उत्सुक है । रानी कमला को अपने सामने भावी पुत्रवधू रूप में पाकर बहुत खुश हो जाती है । वात्सिका बन्धन सामने आने पर वह स्पष्ट कहती है कि "हमें बहू व्याहना है, राज्य की चतु:सीमा नहीं[3]।" पुत्रवधू की प्राप्ति में रानी का मन कितना उत्साहयुक्त हो जाता है, यह दृष्टव्य है, वह किसी बन्धन को नहीं मानना चाहती ।

प्राय: बहुओं ने अपनी सास को अवहेलित नहीं किया है । नन्हीं दुल्हन की सावित्री एक बाल विधवा है, सास-श्वसुर का व्यवहार उसके प्रति अत्यन्त कटु रहता है, जिससे वह विवश हो बाहर निकल पड़ती है और कठिन दिनों को पार कर स्वयं स्त्रियों का नेतृत्व करती है, सभी उसको आदर की दृष्टि से देखने लगते हैं । उसकी सास भी उससे अपने व्यवहारों के लिए क्षमा मांगती है तो सावित्री एकदम कह उठती है--"साधु माता जी ! आप मेरे लिये स्वर्ग से उतरी हुई साक्षात् श्री गंगा है । मां दुर्गा हैं । उठिये, मुझे अपनी इस पवित्र गोद में छिपा लीजिये । जहां मेरे सर्वस्व ---- ने अपनी बाल्यावस्था बितायी[4]।" बहू सास के प्रति कभी

---

१ दुर्गाप्रसाद गुप्त :"भारत रमणी", १९२५ई०,पृ०३४,अंक१,दृश्य३
२ हरिशरण मित्र :"भारतवर्ष", १९२७ई०, पृ०७१, वर्तमानांक,दृश्य३
३ डा० लक्ष्मण सिंह : "उत्सर्ग",पृ०१५, अंक१,दृश्य४
४ तुलसीदत्त शैदा : "नन्हीं दुल्हन", १९३०ई०,पृ०१७९,अंक३,दृश्य५

मर्यादा से बाहर नहीं जाती । 'परदा' नाटक में सास,बहू जानकी को परदे के अन्दर रखना चाहती है, जब कि जानकी सबकी मर्यादा को समझते हुए भी रूढ़ियों में नहीं जीना चाहती ।"[1]

इसी प्रकार यद्यपि आलोच्यकाल में सास-बहू के सन्दर्भ अति विरल हैं, लेकिन जो हैं,उनमें नाटककारों ने यही चाहा है कि बहू सास की सेवा कर,उसके प्रति अपने आदर को कम न होने दे । सास-बहू दोनों भारतीय आदर्शानुरूप ही चित्रित हुई हैं ।

भाभी

देवर-भाभी -- विवाहोपरान्त नारी का यह नवीन सम्बन्ध उसमें एक विशेष दायित्व की सृष्टि करता है । भाभी का देवर व ननद के साथ यह सम्बन्ध चंचल होते हुए भी गम्भीर दायित्व पूर्ण होता है । व्यवहार में वह केवल भाभी का ही नहीं,वरन् गौरवपूर्ण माँ के पद की भी अधिकारिणी होती है । विवाहोपरान्त नारी से समाज और सम्पूर्ण परिवार यह आशा रखते हैं कि वह अपने देवर व ननद की देखभाल माँ के समान उचित व पूर्णरूप से करेगी । ननद और देवर को भी उसके पद-गौरव के अनुरूप ही उसे सम्मान प्रदान करना चाहिए ।

प्राचीनकाल से भारतीय परिवार में यह सम्बन्ध अत्यन्त मधुर तथा पवित्र माना गया है । वैदिक साहित्य में दिए गए 'द्विवर'[2] शब्द से ज्ञात होता है किसम्भवत: उस समय पति-मृत्यु के बाद पत्नी देवर को अपना दूसरा पति बना सकती थी, ~~कर्क~~ व लेकिन कालान्तर में उच्च वर्ण में इस प्रथा का विकास न हो सका । महाकाव्यों में भाभी सदैव माता के रूपमें आदृत रही है । उसके बाद भी सम्बन्ध का यही रूप गतिशील रहा है ।

आलोच्यकाल में देशव्यापी पुनर्जागरण होने के कारण सभी का ध्यान समस्याओं की ओर अधिक था । नाटककारों का भी ध्यान नारी वर्ग की समस्याओं की ओर अधिक था, अत: नाटकों में समस्यागत रूप ही

---

१ महावीर बेनुवंश : 'परदा',१९३६ई०, पृ०१२, अंक१,सीन २

२. ऋग्वेद : मण्डल १० , सूक्त ४० , मन्त्र २ ।

अधिक चित्रित हुए हैं । भाभी-देवर व या ननद के सम्बन्ध कभी सामाजिक स्तर पर समस्या रूपमें सामने नहीं आए । यही कारण है कि इस काल में भाभी रूप में नारी कम आई है । कतिपय नाटकों में ही इस सम्बन्ध की मधुरता दिखाई देती है ।

ईश्वरीप्रसाद शर्मा के `रानी सुन्दरी` नाटक में वीरसिंह के भाई धीरसिंह की कलुषित दृष्टि अपनी भाभी रानी सुन्दरी ~~सुन्दरी~~ पर पड़ती है । रानी सुन्दरी उसके इस कृत्य की भर्त्सना कर व कहती है--"नीच ! अपनी माता के समान बड़ी भाभी के साथ तेरा यह व्यवहार, जा चिल्लु भर पानी में डूब मर ।"[1] स्पष्ट नाटककार भाभी के रूप में माता का दर्शन ही समाज को कराना चाहता है । हरिकृष्ण प्रेमी के `प्रतिशोध` नाटक में भाभी-देवर के मधुर व्यवहार की कथा फतह खां तथा गम्भीर सिंह के वार्तालाप में आती है । जुझार सिंह की पत्नी, ओछे की महारानी अपने देवर हरदौल को पुत्रवत् मानती थी, तथा हरदौल का भी अपनी भाभी के प्रति अत्यन्त पवित्र व्यवहार था । पन्द्रह दिन बाद लौटे महाराज, जब भोजन के लिए बैठे तो रानी द्वारा भूल से, सोने का थाल देवर के आगे रख गया । बस, महाराज को उनके बीच अनैतिकता पूर्ण सम्बन्ध का भ्रम हो गया । फलतः रानी को अपनी व देवर दोनों की आन बचाने के लिए अपने ही हाथ से देवर को ज़हर देना पड़ा ।[2] व्यवहार की पवित्रता अपने ऊपर इस दोषारोपण को न सह सकी । कठिन परीक्षा देकर अपनी उज्ज्वलता को इतिहास में स्थाई बना गयी ।

`स्वर्ग की फलक` नाटक में नारी अपने कर्तव्य से पीछे नहीं हटी है । रघु की भाभी, अत्यन्त सुलझे हुए विचारों की नारी है । उसने रघु को पाला-पोसा है, पुत्रवत् उसकी शिक्षा-दीक्षा के प्रति सावधान रही ।[3] उसकी प्रत्येक आवश्यकता को उसने माता के समान पूरा किया है । क्योंकि उसका यह परम कर्तव्य था । और अन्त में उसके विवाह के विषय में भी उसका हृदय माता के समान ही

---

1 ईश्वरीप्रसाद शर्मा : `रानी सुन्दरी`, १९२५ई०, प्र०सं०, अंक २, दृश्य५, पृ०६५

2 हरिकृष्ण प्रेमी : `प्रतिशोध`, १९३७ई०, प्र०सं०, पृ०११, अंक१, दृश्य१

3 उपेन्द्रनाथ अश्क : `स्वर्ग की फलक`, १९३९ई०, प्र०सं०, १९५०ई०, तृ०सं०, पृ०७१, अंक४

उदार है, वह विवाह विषयक उसकी रुचि का ही समर्थन कर पति से अनुरोध करती है । वह अपने उस व्यवहार का बदला नहीं चाहती । वह कहती है-- "---- हमने उसे पाला है, पढ़ाया-लिखाया है, अपना कर्तव्य समझकर । अब उसका बदला हम क्यों चाहें ?"[1] वह स्वजन की आत्मा को बन्दी बनाकर स्नेह नहीं प्राप्त करना चाहती । उसने रघु को हमेशा माँ के समान अपनी शीतल छत्र-छाया प्रदान की है । प्रतीकार की अपेक्षा किए बिना । सम्बन्ध का यही रूप पा० बेचन शर्मा उग्र के "आवारा" नाटक में चित्रित हुआ है । इसमें दयाराम की भाभी तुलसी देवर दयाराम पर मातृवत् अपनी स्नेहिल दृष्टि रखती है । दयाराम को वह बच्चा मानती है । दयाराम भी अपनी भाभी से अपनी सभी बातें एवं कार्य बताता रहता है । भिखारिन के प्रति अपने सम्बन्ध को भाभी से बताकर पूर्ण सहायता प्राप्त करता है । भाभी तुलसी २५ हजार गिन्नियों का राज अपने पति से छुपा रखती है । अन्त में जब उसका पति दयाराम पर आरोप करता है, तो वह सहन नहीं कर पाती और कहती है--"------ देखो । यह हैं पच्चीस हजार की गिन्नियां । ---- सन्नाटे में क्यों आ गए? बेलो । वह उचक्का है वह लुच्चा है। मेरा कुलदीपक, मेरा बेटा। इसको मेरे बाबू ने नहीं, उस भिखारिन ने चुराया था। ---- ।"[2] नाटककार ने तुलसी का चित्रण अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्रित किया है । पति और देवर दोनों के प्रति अपने कर्तव्य को निभाती हुई वह नारी, पति के सम्मुख अत्यन्त विवश हो जाती है और दयाराम के प्रति उसकी ममता अन्त में फूट पड़ती है ।

<u>ननद-भाभी</u> -- इसी प्रकार भाभी व ननद के पारस्परिक व्यवहार का चित्रण भी कुछ नाटककारों ने किया है । सेठ गोविन्ददास के "प्रकाश" नाटक में रुक्मिणी मनोरमा की भाभी है । लेकिन इन दोनों ननद-भाभी के बीच में विचार व दृष्टि

---

१ उपेन्द्रनाथ "अश्क" : "स्वर्ग की झलक", पृ०७४, अंक४ , सन् १९३९ई०प्र०सं०--१९५०द्वि०सं०

२ पा० बेचनराम शर्मा उग्र : "आवारा", १९४२ई०,प्र०सं०,पृ०९६,अंक३,दृश्य३

में पर्याप्त अन्तर है । रुक्मिणी पाश्चात्य विचारों से प्रेरित होने के कारण मनोरमा के हर व्यवहार एवं आचरण से नफरत करती है, क्योंकि मनोरमा भारतीय आदर्शों से प्रेरित है । वह भाभी के आचरण[1] को सहन नहीं कर पाती, लेकिन मर्यादावश अपने मार्ग पर ही ध्यान रखती है । हरिकृष्ण प्रेमी में नन्द जहांनारा व भाभी नादिरा में अत्यन्त स्नेहपूर्ण सम्बन्ध[2] हैं । वे एक दूसरे का अत्यन्त ख्याल रखती हुई जीवन व्यतीत करती हैं ।

इस प्रकार भाभी के रूप में नारी नाटक में अत्यन्त विरल आई है । लेकिन जितना भी चित्रण हुआ है, उसमें नाटककारों ने आदर्श रूप को ही पसन्द किया है । प्रेम, स्नेह, पवित्रता के यह सम्बन्ध परिवार में शान्ति के कारण हैं ।

सपत्नी भाव

नारी जब सपत्नी के पद पर स्थित होती है तो उस समय अपनी स्वाभाविक कोमलता को खो बैठती है । उसके अन्दर सामान्यत: कठोरता एवं प्रतिहिंसा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं । हमारी प्राचीन सभ्यता में सपत्नी के प्रसंग अधिक पाए जाते हैं, क्योंकि उस समय बहुविवाह की प्रथा समाज में व्याप्त थी । क्षत्रिय वंश उस समय समाज में अपनी शक्ति के बल पर अग्रणी था । शक्ति बल से कुमारियों का हरण उनके लिए गौरव का विषय थी । यही कारण है कि सपत्नी सम्बन्धों की अधिकता थी । मुस्लिम काल में भी यह समस्या वर्तमान थी । कालान्तर में पुनर्जागरण काल में नारी जीवन की कुण्ठा, हीनता आदि के कारणों में से इसे भी महसूस किया गया। आलोच्य काल के नाटककारों ने यत्र-तत्र इस समस्या को उठाया है । और अत्यन्त खुलकर तो नहीं लेकिन परोक्ष में समाज के लिए बहु-विवाह को हानिकारक माना है और एक विवाह को मान्यता प्रदान की । नारी

---

१ सेठ गोविन्ददास : 'प्रकाश', १९३५ई०, द्वि०सं०, पृ०६३, अंक१, दृश्य८
२ हरिकृष्ण प्रेमी : 'स्वप्नभंग', १९४९ई०, द्वि०सं०, पृ०५७, अंक१, दृश्य३

के सपत्नी रूप का चित्रण कर, उससे उत्पन्न होने वाली विषमता को चित्रित किया है । नाटककार जयशंकर "प्रसाद" ने नारी की इस चिरपरिचित समस्या को उठाया है । "अजातशत्रु" नाटक में छलना और वासवी बिम्बसार की पत्नियाँ हैं । छलना और वासवी के बीच सपत्नी भाव ही द्रोह उत्पन्न कर देता है । वासवी अत्यन्त संयत तथा गम्भीर प्रकृति की नारी है । उसके अन्दर ईर्ष्या नहीं, जिस महत् राजमाता के पद पर वह प्रतिष्ठित है, उसी के अनुरूप महती भावना से युक्त है । लेकिन छलना, उसमें सपत्नी वासवी के प्रति अत्यन्त तीव्र रोष व्याप्त है । वह जलन, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा के से व्याप्त है, वह राजमाता के पद को प्राप्त करना चाहती है । राज्य में जितना विप्लव आता है, सब छलना की महत्वाकांक्षा के लिए ही, वह अपनी शक्ति को बढ़ाकर वासवी को नीचा दिखाना चाहती है । सपत्नी सम्बन्ध कभी भी सुख-शान्ति का कारण नहीं होता । वासवी अत्यन्त निःस्पृह भाव से सबसे विरत हो बिम्बिसार के साथ कुटी में आश्रय ले लेती है । छलना वहां भी उसे शान्तिपूर्वक नहीं रहने देती[1] । इसी प्रकार जमुनादास मेहरा की देवयानी शर्मिष्ठा के प्रति अत्यन्त द्रोह का भाव रखती है । जहां शर्मिष्ठा अत्यन्त उदारमना है, वहां देवयानी शर्मिष्ठा को अत्यन्त बुरी स्थिति में पहुंचाने के लिए ही प्रयत्नशील रहती है[2] । जयशंकर "प्रसाद" के एक और अन्य नाटक में अनंतदेवी व देवकी एक ही सम्राट कुमारगुप्त की पत्नियां हैं । लेकिन यहां भी अनन्तदेवी सपत्नी भाव से प्रेरित हो सुमार्ग पर नहीं चल पाती । वह देवकी से स्पर्धा रखती है । राज्य की आकांक्षा उसे अत्यन्त भयानक बना देती है । देवकी का बढ़ता हुआ प्रभाव, उसके लिए असह्य है[3] । वह भटार्क से मिलकर सम्राट की हत्या तो करवाती ही है, साथ ही देवकी की भी कारागार में बन्दी बना वध करवाने पहुंच जाती है[4] । नारी का इससे अधिक निम्न व्यवहार और क्या हो

---

१ जयशंकर प्रसाद : "अजातशत्रु", १९२२ई०, प्र०सं०, दसवां सं०, पृ०१३४, अंक३, दृश्य१

२ जमुनादास मेहरा : "देवयानी", १९२२ई०, प्र०सं०, पृ०८६, अंक ३, दृश्य१

३ जयशंकर "प्रसाद" : "स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य", १९२८ई०, प्र०सं०, ११वां सं०, १९५४ पृ०२८ अंक१ ।

सकता है । नारी सदैव से प्रेम पर एकांगी अधिकार चाहने वाली रही है, जहां उसके प्रेम में अन्य कोई स्त्री बाधक बनी उसने कठोर रूप धारण किया है । लक्ष्मीनारायण मिश्र की आशादेवी भी ऐसी ही नारी है । उमाशंकर[1] के प्रेम को प्राप्त करने के लिए ही, वह उनकी पत्नी को विष दे देती है । प्रेम में तो व्यक्ति ऊंचाई की ओर बढ़ता है, लेकिन महत्वाकांक्षी स्त्रियां सदैव अवनति की ओर ही बढ़ी है । जिस जगह वे हैं, उसी वह जगह अपने साथ मे अन्य किसी नारी को नहीं दे सकती हैं । नाटककार जमुनादास मेहरा ने इसके विपरीत चित्रण किया है । सरला, सौत के रूप में अत्यन्त दयालु स्त्री है । वह पति की ब्याहता पत्नी है जब उसे यह पता चलता है कि उसके पूर्व भी पति का विवाह राधा के साथ हुआ था, लेकिन उसे कुजाति समझ कर निकाल दिया, तो वह अत्यन्त दु:खी हो उठती है । सास-श्वसुर से पृथक् वह राधा को अपने पास आश्रय देती है । और उसे पति से मिलाती है । यहां नारी कितनी उदारमना है । वह कहती है -- "मैं संसार को दिखा देना चाहती हूं कि सौतन का क्या कर्तव्य है[2] ।" सरला के अन्दर राधा के प्रति किसी प्रकार की बुरी भावना नहीं आती । यहां नारी, नारी को, सहयोग देती है, भले ही वह उसकी सपत्नी ही क्यों न हो? हरिकृष्ण प्रेमी के रक्षा बन्धन नाटक में जवाहरबाई एवं कर्मवती पति की मृत्यु के बाद भी देश की रक्षा के लिए एक साथ स्नेहपूर्वक रहती है । उनके अन्दर एक-दूसरे के प्रति किसी प्रकार का द्वेष नहीं है । राज्य के प्रति उनके मन में[3] कोई तृष्णा नहीं है । विक्रम एवं उदयसिंह के प्रति दोनों के मन में समान भाव है । गोविन्दवल्लभपन्त की मागंधिनी भी पद्मावती से प्रतिद्वंद्विता रखने वाली नारी है । वह वीणा[4] में सर्प रखकर उदयन को पद्मावती के एकदम विरुद्ध कर देना चाहती है ।

---

1 लक्ष्मीनारायण मिश्र : "मुक्ति का रहस्य", १९३२ई०, द्वि०सं०, पृ०१०९, अंक ३

2 जमुनादास मेहरा : "हिन्दू कन्या", १९३२ई०, प्र०सं०, पृ०३३, अंक१, दृश्य७

3 हरिकृष्ण प्रेमी : "रक्षाबन्धन", १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०१०, अंक१, दृश्य१

4 गोविन्दवल्लभपंत : "अन्त:पुर का छिद्र", १९४०ई०, अंक२, दृश्य२, पृ०५०

गोविन्दवल्लभ पन्त के नाटक में एक सामान्य परिवार में नारी का व्यवहार अत्यन्त उच्च दिखाया है । 'सुहागबिंदी' नाटक की रेवा अत्यंत सहृदय है । नारी के अन्तर्मन की व्यथा को पहचानने वाली है । विजया उसकी सौत है । उसका पति विजया को निकाल देता है । बेकसूर वही विजया जब ढूंढते ढूंढते पति के घर आती है, तो रेवा उसको अपने घर में आश्रय देती है, वह जानती है कि जितना अधिकार उसका है,घर में, उतना ही विजया का भी । पति को विजया के प्रति उदार होने के लिए, वह पूरा प्रयत्न करती है । विजया को उस समय तक घर में ही पति से छुपा रखती है, जब तक कि उसका पति विजया से मिलन को महसूस नहीं करता । नारी का सौत के लिए यह आचरण उसकी स्वाभाविक गुणों का प्रेरक है । लक्ष्मीनारायण मिश्र की पद्मावती तथा वासवदत्ता महाराज उदयन की पत्नियां हैं । लेकिन दोनों का मानसिक विकास पूर्ण रूप से हो चुका है । वासवदत्ता नारी के उच्चादर्श की प्रतीक है । वह,पद्मावती को अपनी छोटी बहन मानकर व्यवहार करती है । और पद्मावती वासवदत्ता के कुमार को अपना ही पुत्र मानती है, वह मातृस्नेह वश उसे एक मिनट के लिए भी नहीं छोड़ पाती । वासवदत्ता स्वयं उदयन से पद्मावती को वह सौभाग्य देने की प्रार्थना करती है,जिसके लिए नारियां हमेशा कामना करती है । वह उसके लिए अपने कुमार को भी छोड़ देती है । वह कहती है, पति के लिए पिता छोड़ते जिसे देर न लगी सपत्नी के लिए वह पुत्र भी छोड़ देगी --- मैं उसे सपत्नी नहीं --- अपनी देह मानती हूं --- अपना पुत्र उसे सौंप[3] कर आर्यपुत्र के मन में अपने और उसके बीच का भेद मैंने मिटा दिया है ---- ।" सपत्नी के प्रति वासवदत्ता के प्रेम की पराकाष्ठा है । कुमार की स्नेह की डोर ने उन दोनों को और अधिक कस दिया है ।

---

१ गोविन्दवल्लभ पन्त : 'सुहागबिन्दी', १९४९ई०,तृ०सं०,पृ०१०७,अंक४,दृश्य३

२ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'वत्सराज', १९५०ई०,प्र०सं०,पृ०७६,अंक२

३ वही, पृ०७५,अंक२

इसप्रकार कतिपय नाटकों में सपत्नी रूप में जो नारी -चित्रण हुआ है, उसमें प्राय: नारी-प्रेम पर एकाधिकार पाने के लिए ,साथ ही अपनी आकांक्षा की पूर्ति के लिए, सपत्नी के प्रति हिंसा का रुख अपनाती है। लेकिन अधिकतर नाटककारों ने नारी का सपत्नी के प्रति उदार तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार दिखाकर एक आदर्श की प्रतिष्ठा की है ।
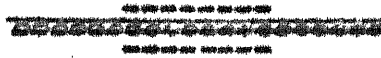
अध्याय -- ८ :

नारी और प्रेम

अध्याय -- ८

नारी और प्रेम

जीवन की सुन्दरता नारी के प्रेममय स्वरूप पर निर्भर रहती है । प्रेम और नारी, दोनों पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन-स्तर पर अत्यन्त आवश्यक हैं । प्रेममय जीवन प्रणाली अत्यन्त उच्च होती है । यही तो एक शक्ति है, जिसने नारी को विश्व में मंगलमय रूप में खड़ा किया है । नारी के प्रेम की सीमा अत्यन्त विस्तृत होती है, जिस एकनिष्ठता के साथ वे अपने प्रेम का वितरण करती हैं, उसी भाव के साथ वे अपने प्रति भी प्रेम चाहती हैं । नारी-प्रेम में त्याग भी करती है, उत्सर्ग भी, लेकिन उसके प्रतिकार स्वरूप केवल प्रेममय व्यवहार की ही आकांक्षा रखती है । पुरुष द्वारा की गई उसके प्रेम की अवहेलना ही उसके लिए अत्यन्त कष्टदायी होती है और यही कारण है कि कभी-कभी क्षुब्ध हो वह प्रतिहिंसा का रूप धारण कर लेती है ।

प्रेम अपने को भी प्यार करता है, तथा दूसरों को भी । प्राय: यह कहा जाता है कि प्यार अन्धा होता है, यह सच है, लेकिन उस समय वह प्रेम का शुद्ध रूप नहीं होता, क्योंकि प्रेम जब भी अन्धा होगा तो वह[१] निष्क्रिय हो जायगा, चेतनाहीन हो जायगा । सक्रिय, सचेत प्रेम ही पूर्ण प्रेम होगा । इस प्रेम

---

१ ' Love does not have to be blind. When it is blind, it is not love. For when it is blind, it is often not love of another but only narrow love of self. One usually sees the beloved clearly if one sees the self clearly.' P. 14
By HAROLD GREENWALD & LUCY FREEMAN
Book, Emotional Maturity in Love & Marriage.
Copy right 1961.

का निषेध जीवन का ही निषेध होगा । बिना इसके जीवन एक भार बन जायगा । अतः जीवन के लिए प्रेम अत्यन्त आवश्यक है[1] । इस आलोच्यकाल के नाटकों में जीवन में प्रेम को पूर्ण महत्व दिया गया है । नारी ही इस प्रेम की सूत्रधार है । उसके प्रेम ने जीवन को अत्यन्त सरल किया है । उसका प्रेम किसी चीज की आकांक्षा नहीं करता केवल प्रतिदान में उसी प्रेम को चाहता है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने `चन्द्रावली` नाटक में नारी के प्रेम का रूप कृष्ण और चन्द्रावली के माध्यम से चित्रित किया है । चन्द्रावली का प्रेम कृष्ण के प्रति निष्काम है । जब वह अपने ऊपर होने वाले प्रेम के कारण कष्टों का अनुभव करती है, तो वह यही इच्छा करती है कि `मैं उस निर्दयी को चाहूं पर वह मुझे न चाहे`[2] । उसके कृष्णके प्रति प्रेम में महात्म्यज्ञान और प्रीति का पूर्ण सामंजस्य है[3] । वह कृष्ण के प्रेम को चाहती है । इसी प्रकार चन्द्रराज भण्डारी के नाटक में यशोधरा सिद्धार्थ से प्रेम करती है । वह सिद्धार्थ की वीरता से नहीं, वरन् स्वयं सिद्धार्थ से प्रेम करती है । सिद्धार्थ की वीरता के परीक्षण-काल में वह अपनी सखी से कहती है--` प्रेम और वीरता में कोई सम्बन्ध नहीं है । रमणी का हृदय वीर को नहीं चाहता, वैज्ञानिक को नहीं चाहता, वह चाहता है, केवल प्रेमिक को[4] ।` प्रेम यथार्थ में स्वार्थहीन होता है ।

पा० बेचनशर्मा `उग्र` की नारी-प्रेम में पुरस्कार की इच्छा नहीं रखती । `महात्मा ईसा` नाटक की शान्ति ईसा से अत्यधिक प्रेम करती है । हमेशा उनके साथ रहकर कार्य में उन्हें अपना सहयोग देती है । अपने इस प्रेममय साहचर्य के लिए प्रतीकार की अपेक्षा नहीं रखती । उसका प्रेम इन्द्रियजनित

---

१ वही, पृ. २३।

२ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : `चन्द्रावली`, १८७६ई०भा०ना०, पृ०५१३

३ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : `भारतेन्दु हरिश्चन्द्र`, पृ०१४७

४ चन्द्रराज भण्डारी : `सिद्धार्थ कुमार`, १६२२ई०, पृ०४१, प्र०सं०, अंक१ दृश्य ५ ।

नहीं,वरन् शुद्ध प्रेम है । ईसा द्वारा उसके विषय में चिन्ता व्यक्त करने पर वह कहती है --" प्रेम पुरस्कार नहीं चाहता । उसे कष्ट में ही सुख मिलता । उसे केवल एक करुणापूर्ण दृष्टि की भूख रहती है ।"[1] प्रेम का सच्चा स्वरूप यही है । हेरोडिया जैसी नारियों का प्रेम जो केवल वासनापूर्ति के लिए होता है, वास्तव में प्रेम कहा ही नहीं जा सकता ।

जयशंकर "प्रसाद" कृत "अजातशत्रु" नाटक में मल्लिका के प्रेम का स्तर अत्यन्त विस्तृत है । उसका प्रेम, करुणा आदि भाव तो विश्वमैत्री का सन्देश लेकर आए हैं । मल्लिका जानती है कि किसी का प्रेम-पात्र बनने का अर्थ है कि उसे भी प्रेमपात्र बनाया जाय । श्यामा के प्रति विरुद्धक का व्यवहार उसे यह कहने के लिए विवश कर देता है । "यदि तुम प्रेम का प्रतिदान नहीं जानते हो तो व्यर्थ एक सुकुमार नारी-हृदय को लेकर उसे पैरों से क्यों रौंदते हो ? विरुद्धक ! क्षमा माँगो ।"[2] नारी अपने प्रेम में दाग नहीं लगने दे सकती । उसका प्रेम उज्ज्वल होता है । वह अपने प्रेम को कष्ट सहने दे सकती है, लेकिन उसे झुकने नहीं दे सकती । नाटककार डा० लक्ष्मण सिंह ने उर्मिला के प्रेम को ऐसा ही चित्रित किया है । वह जब यह सुनती है कि कैदी रामानुज सरकार से माफी माँग लेंगे तब उनके प्रति प्रेम होते हुए भी वह एकदम उत्तेजित हो उठती है और उसे ही एकदम समाप्त करने का निश्चय कर लेती है[3] । नारी-प्रेम को कभी कलुषित नहीं होने दे सकती । साथ ही नारी जब प्रेम करती है तो धन,रूप,कुल की अपेक्षा नहीं करती ।वह प्रेम करती है, केवल प्रेममय मूर्ति से ही । नाटककार कृष्णलाल वर्मा ने भी यही चित्रित किया है । राममोली एक बार कुंवर को प्रेम करने के बाद पीछे नहीं हटती । यद्यपि शेरसिंह के द्वारा कुंवर की अनुपस्थिति में परेशान

---

१ पा० बेचनशर्मा शर्मा "उग्र" : "महात्मा ईसा", १९२२ई०, प्र०सं०, पृ०७१, अंक२दृश्य४
२ जयशंकर "प्रसाद" : "अजात शत्रु", १९२२ई०, प्र०सं०, पृ०१४७, अंक३, दृश्य३
३ डा० लक्ष्मण सिंह : "गुलामी का नशा", १९२४ई०, पृ०५१, अंक १दृश्य४, प्र०सं०

की जाती है, लेकिन वह अपने प्रेम से हटती नहीं," प्रेम किसी के हाथ की बात नहीं है । यह अदृष्ट के अधीन है । पवित्र प्रेम को धन की आवश्यकता[1] नहीं, रूप की चाह नहीं, कुल की अपेक्षा नहीं, और बल की परवाह नहीं ----- ।" नाटककारों ने नारी के प्रेममय स्वरूप को अत्यन्त आदर की दृष्टि[2] से देखा है । ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने नारी के प्रेम को अनमोल पदार्थ बताया है ।

जयशंकर "प्रसाद" की देवसेना का प्रेम एक साथ ही सरल और जटिल है । एक ओर वह व्यक्तिगत प्रेम को सार्वजनीन प्रेम में पर्यवसित कर उदात्त-पूत आदर्श का निर्वाह करती है, दूसरी ओर प्रणय-दौत्र[3] की टूटन को कहीं गहरे में महसूस करती है, जो कि "आह वेदना मिली विदाई " जैसे मार्मिक गीत में पूरी सुकुमारता के साथ मुखरित हुआ है । देवसेना के चरित्र में निश्छल प्रणय-भाव तथा कचोटती निराशा का रचनात्मक मेल स्पृहणीय है ।

कहीं-कहीं नारी का प्रेम अपने में एक प्रश्न बन गया है । "सन्यासी" नाटक में किरणमयी अपने प्रेम में असफल रहती है । दीनानाथ वृद्ध से वह, वह प्रेम नहीं पाती जो कि उसको अपने पूर्व प्रेम सम्पादक जी से मिल सकता था । प्रेम की अतृप्ति नारी को अत्यन्त शिथिल बना देती है । दूसरी तरफ इसी नाटक में मालती प्रेम में हार न मानकर चुनौती देने वाली है । विश्वकान्त उसके प्रेम से दूर रहने की कोशिश करने लगता है तो उसकी प्रतिहिंसा जाग उठती है । वह किरणमयी से कहती है कि उसने प्रेम की दुनिया को छोड़ दिया है, वह अब अपना स्थिर निवास बनायेगी । "प्रेम ? कैसी तफ़री ? ---- मैंने प्रेम छोड़कर दुनिया में अपनी जगह बनायी है ।"[4] जयनाथ नलिन ने इसी मालती का बुद्धिसम्मत समझौता

---

१ कृष्णलाल वर्मा : "बलजीत सिंह", प्र०सं०, पृ०११६-११७, अंक४, दृश्य६

२ ईश्वरीप्रसाद शर्मा : "रानी सुन्दरी", १९२५ई०, पृ०४२, अंक २ दृश्य १, प्र०सं०

३ जयशंकर "प्रसाद" : "स्कन्दगुप्तविक्रमादित्य", १९२८ई०, पृ०सं०

४ लक्ष्मीनारायण मिश्र: "सन्यासी", पृ०१५१, १९२९ई०, प्र०सं० अंक४

कहा है[1] । वास्तव में जीवन के आरम्भ में लड़के-लड़कियों के लिए प्रेम एक बहाव का ममक है जाता है , लेकिन जब कुछ दिन बाद उस बहावकी अस्थिरता का पता चलती है तो मालती जैसी नारी उसे स्थायित्व देना चाहती है । प्रेम का रूमानी रूप उसे पसन्द नहीं । "--- मैं रोमाण्टिक प्रेम नहीं चाहती, मैं वह प्रेम चाहती हूं जो आजकल की दुनिया में समझदारी के साथ निबाहा जा सके ----[2] ।"

जिस प्रकार प्रेम के स्थायीरूप को मालती पसन्द करती है, उसी प्रकार[3] नाटककार इब्सन की SVANHILD भी प्रेम के स्थायित्व को चाहती है । प्रेम की रूमानी दुनिया उसे पसन्द नहीं । नारी अपने स्वाभाविक रूप से रहना चाहती है, वह काल्पनिक लोक में घूमना पसन्द नहीं करती । यही कारण है कि SVANHILD प्रेमी FALK को पसन्द नहीं करती, मात्र विवाह की दृष्टि से । वह उससे प्रेम कर सकती है, लेकिन विवाह नहीं । वह समझती है कि विवाह बाद पति-पत्नी रूपमें उनका प्रेम निभ नहीं सकता[4] । यद्यपि इस जीवन में वह उसे पूर्णरूप से नहीं प्राप्त करसकती है,लेकिन फिर भी उनके बीच का प्रेम शाश्वतरूप में विद्यमान रहेगा[5] । ठीक इसी प्रकार मालती का यह बुद्धिसम्मत सम-झौता होते हुए भी उसका देवता का पाय धारण किया हुआ विश्वकान्त ही बनता है । प्रेम के लिए वासना को आधार न बनाना वरन् उसके लिए कुछ उत्सर्ग करना विश्वकान्त का सेवाव्रत ले लेना ही नाटककार की दृष्टि में वास्तविक प्रेम का रूप है । वास्तव में प्रेम उत्सर्ग[6] चाहता है । धीरता व सहिष्णुता से हम प्रेम को ऊंचा उठाकर दिव्य बनाते हैं ।"

----

१ जयनाथ नलिन : "हिन्दी नाटककार", द्वि०सं०, १९६१ई०

२ लक्ष्मीनारायण मिश्र: "सन्यासी", १९२९ई०, पृ०१४८, प्र०सं०, अंक४

३ SVANHILD- I believe in a love that lasts for-ever- by IBSEN . Play is 'Love's comedy'- Book- The Oxford Ibsen .Vol. II, Page 193,Act 3,

४ SVANHILD- Where happiness would strive with death. I was not fitted to become your wife...'- Same - Page 194, Act 3,

५ SVANHILD- ' Now Falk, I have renounced you for this life... but I have won you for eternity'. Same - Page -195 .Act 3,

६ डा०राधाकृष्णन् : "हिन्दुओं का जीवन-दर्शन", अनु०कृष्ण किंकर सिंह, पृ०८१, प्र०सं०, १९५१ई०

नाटककार सुदर्शन ने तो प्रेम को जीवन का सौन्दर्य ही माना है । नारी-प्रेम में अपना सब कुछ अर्पित कर देना जानती है । एक बार किसी से प्रेम कर लेने पर वह उसको कभी भूल नहीं सकती । प्रेम वास्तव में नियमों में बद्ध नहीं है । वह तो एक व्यवस्था रहित शक्ति है ।[1] 'अंजना' नाटक में सुखदा स्वयं अपने प्रेम के लिए ऐसा ही महसूस करती है । 'स्त्री का हृदय ऐसी भूमि है, जिसमें प्रेमांकुर कुशा के समान जन्म लेता है, और उखाड़ा जाकर फिर उग सकता है ----- स्त्रियां प्रेम के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहती हैं ----- ।'[2] अंजना का प्रेम सुखदा के प्रेम से भिन्न कुशा की तरह नहीं वरन् फूल की तरह कोमल है, सुखदायी है । प्रेम में चाहे कैसी कठिन से कठिन स्थिति का सामना क्यों न करना पड़े, लेकिन वह धैर्य नहीं छोड़ती । प्रेम जीवन के लिए प्रकाश रूप है । 'दुनिया उदासथी, स्त्री उत्पन्न हो गई । स्त्री बेकार थी, उसे सुन्दरता दी गई, परन्तु चारों ओर अंधेरा था, आंखें उस सुन्दरता को देखने के योग्य न थीं, तब विधाता ने स्त्री का हृदय लेकर उस पर प्रेम का जादू कर दिया । दुनिया में उजाला हो गया ।'[3] अर्थात् प्रेम जिन्दगी के लिए प्रकाश रूपहै और नारी जीवन और प्रेम को जोड़ने वाली एक आवश्यक कड़ी है । नारी और प्रेम दोनों जीवन के लिए आवश्यक हैं ।

प्रेम स्वयं नारी के लिए उसकी जिन्दगी में प्राण स्वरूप ह रहता है । वह अपने जीवन में पति से अन्य किसी चीज़ की अपेक्षा केवल प्रेम की ही आकांक्षा करती है । नाटककार जमुनादास मेहरा ने अपने नाटक में दिखाया है कि प्रेमशून्य नारी का जीवन अपने में कितना रिक्त एवं विवश हो जाता है । जीवन उसके लिए भारस्वरूप हो जाता है । रमा अपने दुराचारी पति मानिकचन्द से प्रेम को आंशिकरूप में भी नहीं प्राप्त कर पाती । वह उससे

---

१ बर्टेण्डरसैल : 'अनु०धर्मपालक - 'विवाह और नैतिकता', पृ०८६

२ सुदर्शन : 'अंजना', १९३०ई०, पृ०३, अंक१, दृश्य२, द्वि०सं०

३ वही पृ०११८, अंक४, दृश्य२, ष द्वि०सं०

उसकी याचना करती है । " वही --- प्रेम --- प्रेम ,जिसके लिए नारियां तड़पा करती हैं, मैं आपसे उसी सुख की भिक्षा माँगती हूं,जिसके सामने स्त्रियां सारे संसार को ठुकरा देती हैं --- ।"[1] सेठ गोविन्ददास की मनोरमा भी प्रेम के बलिदान रूप को अधिक अच्छा समझती है । सुशीला द्वारा यह कहने पर कि वह प्रकाश के प्रेम को बिना प्राप्त किए हुए तो प्रेम की विकसन प्रणाली को तो पूर्ण नहीं कर पायेगी, तो वह यही उत्तर देती है कि "--- उसका दूसरा पहलू भी है, और वह है बलिदान --- प्रथम विकास है व दूसरा विसर्जन ।विकास से विसर्जन कई गुना श्रेष्ठ और आनन्ददायक है । फिर बलिदान के समय तो हृदय पर प्रेम का[2] स्वरूप उस तरु के समान हो जाता है,जो खण्डहर पर हरा-भरा रहता है ।"

प्रेम जीवन में सक्रियता के लिए प्रेरणा-शक्ति है । वह अपने प्रेम पात्र के लिए हर प्रकार से सहायक होने की कोशिश करता है । 'मुक्तियज्ञ' की नारी विजया ऐसी ही धारणा रखती है । वह विमला से जो कि छद्मवेश में विमलदेव बनी हुई है--इन्द्रलाल के प्रति मोह में अकर्मण्य होते देख कर कहती है--"----- प्रेम का अर्थ समझते हो विमलदेव ! निष्क्रिय निश्चेष्ट प्रेम,प्रेम नहीं,---जिसे प्रेम करते[3] हो--उसके हो जाओ, उसके मार्ग को अपना मार्ग बना लो ---तो प्रेम है ।"

प्रेम हमेशा स्वतन्त्र उत्पन्न होता है । यदि कोई किसी से बलात् प्रेम करवाना चाहे तो वह प्रेम नहीं अत्याचार ही होगा । प्रेम कोई बिक्री की वस्तु नहीं कि जब चाहा, तब प्राप्त हो गया । नाटककार पुरुषोत्तम महादेव वेष ने प्रेम को सहज ही प्राप्त होने वाला नहीं माना है । सुमति के विचारों में नाटककार की दृष्टि स्पष्ट है । श्यामलाल के प्रस्ताव से वह अत्यन्त उद्भ्रान्त हो जाती है और कहती है--'प्रेम कुछ बाजार में बिक्री के लिए सजाई

---

१ जमुनादास मेहरा : 'जवानी की भूल', १९३२ई०,पृ०४४, अंक१, दृश्य७,प्र०सं०
२ सेठ गोविन्ददास : 'प्रकाश', १९३५ई०,पृ०१९८, १९९,अंक३द्वि०सं०,दृश्य ५
३ प्रो० सत्येन्द्र : 'मुक्तियज्ञ', १९३७ई०,पृ०३४ ,अंक१,दृश्य६,प्र०सं०

हुई चीज़ नहीं है, जिसे कोई दाम लगाकर खरीद सके ---- हिन्दू लड़कियों को तो विवाह से पहले प्रेम-प्रकरण की गंध भी नहीं मिलती[1] ।" स्पष्ट है कि नारी का वह प्रेम जो जीवन व सृष्टि के विकास में योग देता है, विवाह बाद ही होता है । हिन्दू नारी इस प्रेम की विवाह के पहले कोई कल्पना ही नहीं करती। नाटककार रामदीन पाण्डेय ने प्रेम को अत्यन्त विस्तार दिया है । ज्योत्स्ना इस विस्तृत प्रेम की मूर्ति है । जीवन में प्रवेशित होती हुई प्रभा को वह इसी की शिक्षा देती है--"दाम्पत्य प्रेम की भी संसार में आवश्यकता है । परन्तु अधिक आवश्यकता उस प्रेम की है, जिसके द्वारा हम स्त्रियां जगत् के वृद्ध पुरुषों की सेवा पिता के रूप में ---- वृद्ध स्त्रियों की माता के रूप में और अन्य स्त्रियों की बहन के रूप में कर सकें[2] । वास्तव में नारी-प्रेम का विस्तार यही है । इसी कारण वह जीवन के लिए मंगलमय है । 'हत्या के बाद' नाटक की शीला प्रेम को जीवन का अनिवार्य अंग मानती है । उसके बिना कोई जी नहीं सकता । वह यह मानती है कि मनुष्य हमेशा स्वार्थ के कारण प्रेम करता है । पूंजीवादी लोगों का विरोध करने में वह भी कार्य करती है । इस कार्य में आदित्य उसका देवर भी सहायक है । सब समझते हैं कि शीला आदित्य से प्रेम करती है, लेकिन वह स्पष्ट कह देती है--" ---- परन्तु मानव सदा अपने स्वार्थ से प्रेम करता है । मेरा स्वार्थ आज शोषितों में केन्द्रित है । मैं उन्हें प्रेम करती हूं और जो इस स्वार्थ-पूर्ति में सहायक हैं, उन्हें भी प्रेम करती हूं --[3] ।" उसका यह कथन उसके चरित्र के अनुरूप है । वह अपने पति के प्रति प्रेम को भूलने वाली नहीं । शीला का प्रेम विस्तृत है, लेकिन मर्यादाहीन नहीं ।

नारी सर्वदा से पुरुष के अनिष्ट प्रेम की उपासिका रही है । वह उस प्रेम को पाने के लिए अपना सब कुछ छोड़ सकती है । चंड-प्रतिज्ञा नाटक में रत्ना एक ऐसी ही स्त्री है । अपने ही हंसी में कहे गए वचनों के कारण

---

१ पुरुषोत्तम महादेव वैद्य : "आहुति", १९३८ ई०, पृ० १६, अंक १, प्रवेश २, प्र०सं०

२ रामदीन पाण्डेय : "ज्योत्स्ना", १९३९ ई०, प्र०सं०, पृ० ९५, अंक ४ दृश्य ७

३ विष्णु : "हत्या के बाद", १९३९ ई०, "हंस", मार्च।

अब चंड के लिए आए विवाह-प्रस्ताव को अपने लिए महाराणा को स्वीकार करना पड़ा । हंसा ने भी अपनी समस्त इच्छाओं का दमन कर राजकुल की मर्यादा को समझते हुई उनसे केवल उनके प्रेम की आकांक्षा की । वह जानती है --"यौवन बरसाती नदी की बाढ़ है और प्रेम की मन्दाकिनी की सततुवाहिनी पवित्र धारा है ।"[1] नाटककारों ने नारी के प्रेम के लिए भारतीय रूप को ही उचित माना है । जयनारायण राय ने इसे कैलाश, मिस मेहता, आदि के माध्यम से इस रूप को सामने रखा है । मिस गुप्ता, मिस मेहता को समझाती हैं कि भारतीय लड़कियों के लिए प्रेम का यह रूप उचित नहीं है । उनकी लज्जा ही विदेशों में उनका मान किए हुए है । "हिन्दुस्तान की लड़कियां चलती फिरती मुहब्बत नहीं करतीं ।"[2]

नाटककार सेठ गोविन्ददास ने समाजवादी स्वच्छन्द प्रेम के औचित्य -अनौचित्य का चित्रण किया है । नाटक में विमला व नीतिराज स्वच्छन्द प्रेम के समर्थक हैं "सौशलिज्म स्त्री-पुरुष के स्वच्छन्द प्रेम का सन्देश है । जब एक पुरुष अपने मन से एक स्त्री से प्रेम करने लगे और यदि वह स्त्री भी दिल से उसे मंजूर कर ले, तब दोनों को चाहिए कि वे एक साथ, एक ही घर में रहें, वे उन सभी सुखों को भोगें जो पति-पत्नी पाते हैं, लेकिन विवाह न करें ।"[3] प्रेम की इस व्यवस्था ने नैतिकता को समाज में रहने न दिया । विमला व नीतिराज के इसी तरह के व्यवहार के कारण चारों ओर से विरोध होने लगे । स्वयं वे भी आपस में सफल न हो सके और विमला को गर्भावस्था में ही धर्मध्वज के पास शरण लेनी पड़ी । नारी का प्रेम व्यभिचार का प्रेम नहीं, वरन् पवित्र प्रेम होना चाहिए । अन्यथा वह समाज के लिए बहुत बड़ी समस्या बन जायगा । इसके विपरीत अपने नाटक "दु:ख क्यों" में नाटककार ने विवाहित प्रेम के सुखद जीवन को चित्रित किया है । सुखदा को जब-जब पति यशपाल का प्रेम मिलता है, तो वह कितनी तृप्त

---

१ संत गोकुलचन्द : "चंड प्रतिज्ञा", १९४०ई०, पृ०३०, अंक२, दृश्य३, प्र०सं०
२ जयनारायण राय: "जीवनसंगिनी", १९५१ई०, पृ०२४, अंक १, दृश्य४
३ सेठ गोविन्ददास : "त्याग या ग्रहण", १९५३ई०, पृ०३७, अंक २

रहती है । अपने व्यक्तित्व को पूर्णतया विलीन करके भी प्रेम को स्थिर रखना चाहती है । प्रेम की अवहेलना ही, नारी के लिए दु:खदायी होती है । वह यशपाल से कहती है--" बस इसी प्रकार सदा प्रेम रखना, यह मेरी प्रार्थना है । प्रेम में अगर कोई सबसे ज्यादा दु:खदायक चीज है तो वह प्रेम पात्र द्वारा की गई यह अवहेलना ।"[1]

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने तो प्रणय को विकार नहीं, वरन् सात्विक बताया है । उदयन कहते हैं-- "प्रणय विकार नहीं है प्रिये ! प्रकृति का सबसे सात्विक धर्म यही है । इस धर्म से भागने वाले प्रकृति के धर्म से भाग रहे हैं । नर और नारी का आकर्षण न केवल मनुष्य योनि में ही --- सभी जीवयोनियों में है ।"[2]

नाटककार उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की नारी दैवी प्रेम को पसंद नहीं करती । 'उड़ान' नाटक में माया, अपने प्रति शंकर, रमेश और मदन के तीन प्रकार के प्रेम का अनुभव करतीहै, लेकिन वह किसी के प्रेम से सन्तुष्ट नहीं है । शंकर उसे अपनी वासनापूर्ति का साधनमात्र मानता है और मदन जिसे उसने अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया था अपनी सम्पत्ति मानता है, तथा रमेश वह तो उसे देवी मानकर उसकी पूजा करना चाहता है । वह उसे अपनी काव्यमयी खोखली दुनिया में रखना चाहता है । ठीक इसी प्रकार जैसे नाटककार बर्नार्ड शा के "मैन एण्ड सुपरमैन" में आक्टेवियस (Octovius) ANN के प्रति प्रेम रखता है । लेकिन ANN विवाहित जीवन में प्रेम के संयतरूप को चाहती है । वह उससे कहती है कि वह उसको जिस दैविक रूप में रखना चाहता है, वह उसमें नहीं रह पायगी । वह प्रेम विवाहित जीवन में उम्र भर निभ नहीं पायेगा[3] । इसीलिए वह

---

१ सेठ गोविन्ददास : "दु:ख क्यों ?" १९४६ई०, पृ०७८, अंक ३

२ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "वत्सराज", १९५०ई०, पृ०१०८, अंक३, पृ०सं०

३ ANN, '.. You see, I shall have to live up
always to your idea of my divinity;
and I do'nt think, I could do that
if we were married . But if I
marry Jack, Youll never be disillusioned
-at least not until I grow too old'..
Book- Bernard Shaw , The complete Plays, Vol I.
Play- Man and Superman, Page 398, Act IV.

टैन्नर (TANNER) से शादी करने के लिए तैयार हो जाती है । ठीक इसी प्रकार माया भी प्रेम की इन भिन्न-भिन्न दुनिया में न रहकर जीवन में वास्तविक पत्नी बनना चाहती है । वह स्पष्ट कहती है--" मैं देवी भी नहीं, जो केवल अपने आसन पर बैठी रहे ---- संगिनी की तुममें से किसी को भी जरूरत नहीं[१] ।" प्रो० जगन्नाथ मिश्र ने अपने एक लेख में लिखा है कि नारी का सहज स्वाभाविक मानवी रूप है, उस रूप में ही वह पुरुष की प्रेयसी पत्नी बनना चाहती है[२] । उसका प्रयोजन केवल शरीर के लिए ही नहीं, बल्कि मन और प्राण के लिए भी है । जैसा कि इब्सन ने स्पष्ट लिखा है कि प्रेम पत्नी नहीं, स्त्री चाहता है[३] । मात्र नारी । नारी उस प्रेम को नहीं चाहती, जो नींद खुलते ही समाप्त हो जाय । वह प्रेम के भौतिक रूप को नहीं, वरन् आत्मिक दृढ़ता को चाहती है । जो जीवन के चाहे कैसे भी उतार-चढ़ाव हों, लेकिन वह नष्ट न हो । वास्तव में प्रेम सार्थकता भी इसी में है ।

प्रेम जिन्दगी का दूसरा नाम है, वह तिरस्कार की वस्तु नहीं । यह जीवन की एक निधि है, जिसे मनुष्य अपना कह सकता है । प्रेम द्वारा हम एक आध्यात्मिक वास्तविकता का सृजन करते हैं और व्यक्तियों के रूप में अपनी भवितव्यता का विकास करते हैं[४] ।" नारी के अन्दर यह एक विशेष शक्ति रूप में विद्यमान रहता है । आलोच्यकाल के नाटकों में अधिकतर नारियों ने प्रेम की दृढ़ता को ही महत्व दिया है । प्रेम में वे केवल प्रेम के सिवा और किसी चीज़ की इच्छा नहीं करती । प्रेम ही उनके जीवन की पूर्णता है ।

प्रेयसी

विवाह-पूर्व नारी का प्रेम पूर्ण व्यवहार समाज में प्रेयसी रूप से जाना जाता है । उसका अपना अलग एक सामाजिक स्थान होता है । वह

---

१ उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'उड़ान', १९३५ई०, द्वि०सं०, पृ०१५६, दृश्य४, रचनाकाल १९४६ई०

२ प्रो० जगन्नाथ मिश्र :' दाम्पत्य जीवन और प्रेम', 'विश्वमित्र', पत्रिका, अक्तू०१९४७ई० पृ०१८

3' But love is blind, love chooses not a wife but a woman;...' Page. 188. Love's Comedy-Act Three Book-The Oxford Ibsen. Vol II.

४ डा० राधाकृष्णन : 'धर्म और समाज', पृ०१८०, अनु० विराज

पुरुष की अनुगता बन जाती और उसे अपने सम्पूर्ण हृदय से चाहने लगती है। अपने उस प्रेम के प्रतिकार में केवल उस पुरुष का प्रेम चाहती है। कभी-कभी उसके अन्दर की भावनाएं इतनी अधिक विकसित हो जाती हैं कि वह अवसर आने पर अपने प्रेमी के लिए उत्सर्ग हो जाती है और उस उत्सर्ग करने में उसे एक विचित्र सुख की अनुभूति होती है। अपने इस रूप में नारी देना अधिक जानती है, लेना कम। वह अपनी सम्पूर्णता को अर्पित कर देना चाहती है। कभी-कभी उसके इस प्रेम में समाज बाधक बन जाता है।

आलोच्यकाल के नाटकों में नारी प्रेयसी रूप में अधिकांशत: आई है। नाटककार नारी के इस रूप की अवहेलना न कर सके। यद्यपि कभी-कभी नारी का विवाह पूर्व प्रेम समाज की नैतिकता की दृष्टि से बाधक प्रतीत होता है। अनैतिकतापूर्ण होते हुए भी यह रूप भी अपने में महत्वपूर्ण है। जब यदि प्रेम सच्चा होगा तो वह सुन्दर भी अवश्य होगा। प्रारम्भ के नाटकों में नारी का यह रूप अत्यन्त परिष्कृत रूप में चित्रित नहीं हुआ है। ला०श्रीनिवास-दास के नाटक में प्रेममोहिनी रणधीर को प्यार करती है। उसका प्रेम बनावटी नहीं है। राजकुमारी रणधीर के साथ-साथ अपना जीवन भी समाप्त कर प्रेम की सच्चाई दिखा देती है। वह प्रेम में चुप होना उचित नहीं समझती[1]। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाम ही 'रोमियो एण्ड जुलियट' की ओर ध्यान ले जाता है[2]। आनन्दप्रसाद कपूर की उवरा का प्रेम धन और मान नहीं चाहता, वह एक मल्लाह नेता श्याम की पुत्री है। सेनापति सूर्यविक्रम की लोलुप दृष्टि उस पर पड़ जाती है। और वह उवरा के प्रेम को पाने के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है, लेकिन उवरा धन, वैभव, सम्मान, सब कुछ होते हुए भी सूर्य-विक्रम को नहीं चाहती, वह तुच्छ, दरिद्र सैनिक इन्द्रदेव के प्रति अपने प्रेम को समर्पित

---

१ ला० श्रीनिवासदास : 'रणधीर और प्रेममोहिनी', सं०१९३४, पृ०१२०, अंक५, प्र०सं० गर्भांक १।

२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४७३, आठवां सं० २००८।

करती है । अपनी पुत भावनाओं के कारण इन्द्रदेव ही उसका प्रेमपात्र रहता है । इन्द्रदेव द्वारा कारण पूछने पर वह दृढ़ता से उत्तर देती है-- "प्रेम,धन,मान,मर्यादा नहीं खोजता है, वरन् वह सच्चे और स्वच्छ हृदय की खोज में सदा रहता है । चाहे वह पुरुष कैसा ही दरिद्र क्यों न हो, यदि प्रेमिका को उसका हृदय स्वच्छ ज्ञात होगा तो वह किसी धनवान् को जो एक महानीच पुरुष है, कभी न वरेगी ।[1] यहीं पर प्रेम की विजय होती है । 'महात्मा ईसा' नाटक में नाटककार श्री पा० बेचन शर्मा उग्र ईसा की प्रेमिका शान्ति में भी उच्च भावों को चित्रित करते हैं । वह किसी वासना की पुर्ति के लिए नहीं, (प्रेम नहीं करती) वरन् उसमें मंगल की भावना निहित है । महात्मा ईसा के साथ-साथ वह भी लोक-सेवा का व्रत ले लेती है । कितनी कठिन से कठिन परिस्थिति आई, शान्ति ने ईसा का साथ नहीं छोड़ा ।[2] वह दुःख-सुख सह सकती है , लेकिन आराध्यदेव के चरणों से दूर नहीं हो सकती । उसका प्रेम पुरस्कार नहीं चाहता है, उसे कष्ट में ही सुख मिलता है । उसे केवल एक करुणा पूर्ण दृष्टि की भूख रहती है ।[3] इसी प्रकार शान्ति का प्रेम इन्द्रियजनित नहीं,वरन् वह काफी ऊंचा उठा हुआ है ।

डा० लक्ष्मण सिंह के नाटक 'गुलामी का नशा' में उर्मिला रामानुज की प्रेमिका है । वह भी रामानुज के समान देश के लिए कुछ करने को सोच कर आगे बढ़ती है । उसे गर्व है कि रामानुज भी देश-कार्य में सहायक हैं । रामानुज जिस समय जेल में बन्द हो जाता है, तब उर्मिला अत्यन्त ० धैर्य रखे रहती है, लेकिन जब वह यह सुनती है कि रामानुज सरकार की हुकूमत को स्वीकार कर लेगा, तो वह अपने प्रेम को समाप्त कर देने के लिए उद्यत हो जाती है ।[4] नारी प्रेमी को कभी भी अपने गौरव से नीचे नहीं गिरने दे सकती । इस प्रकार

---

१ आनन्दप्रसाद कपुर : 'सुनहला विष', १६१६ई०,प्र०सं०,पृ०७१,अंक२,दृश्य७

२ पा० बेचन शर्मा उग्र : 'महात्मा ईसा', १६२२ई०, प्र०सं०,पृ०४७,अंक२,दृश्य१

३ वही,पृ०७१,अंक२, दृश्य८

४ डा० लक्ष्मण सिंह : 'गुलामी का नशा', १६२४ई०,प्र०सं०

दलजीत सिंह नाटक में राममौली एक बार कुंवर से प्रेम करने के बाद,उससे विमुख नहीं होती । शेरसिंह दलजीत सिंह के जाने के बाद उसे कितना दु:खी व अपमानित करता है, लेकिन वह अपने हृदय निश्चय को कभी नहीं बदलती । वह स्पष्ट कह देती है---- " ----- प्रेम किसी के हाथ की बात नहीं है । यह अदृष्ट के अधीन है। पवित्र प्रेम को धन की आवश्यकता नहीं, रूप की चाह नहीं, कुल की अपेक्षा नहीं और बल की परवाह नहीं ।"[1] अन्त तक वह अपने प्रेम पर दृढ़ रही ।

नारी स्वयं को संकट में डाल सकती है,लेकिन अपने प्रेमी को हमेशा उससे दूर रखने का प्रयत्न करती है । ब्रजनन्दन सहाय की ऊषांगिनी-विमाता द्वारा दी गई मौत से बचाने वाले कुन्नीलाल से प्रेम करने लगती है । लेकिन जब सन्देह में कोतवाल उसे पकड़ने आता है तो वह कुन्नीलाल को वहां से भगा देती है । वह नहीं चाहती कि उसके कारण उसका प्रेम कलंकित हो[2] । उसके स्थान पर स्वयं अपने को गिरफ्तार करवा देती है । नारी जब प्रेम करती है,तब वह जाति, देश का बन्धन नहीं देखती । लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक अशोक में छायना एक ऐसी ही प्रेमिका है । छायना के द्वारा नाटककार ने "प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में भी कुछ मान्यताओं का खण्डन कर नए मान स्थापित किए हैं[3] ।" छायना सेंटीपेटर से प्रेम करती है । लेकिन उसके पिता उसे इसलिए नहीं पसन्द करते कि वह एक दरिद्र परिवार का है । उसके माता-पिता का कोई पता नहीं है,इसलिए वह अपनी बेटी का उस निर्धन युवक से कैसे विवाह कर सकते हैं । लेकिन छायना अपने प्रेम के संबंध में यह आरोप कैसे सहन कर सकती थी, वह विरोध करती है । वह कहती है--"सेंटीपेटर के माता-पिता चाहे जो कोई रहे हों, किन्तु इतना तो अवश्य है कि वह भी मनुष्य थे । जिस भांति मैं हूं, आप हैं, --- वह भी मनुष्य थे --- इससे सेन्टीपेटर में कोई कमी नहीं आई -- । राजकुमारी का विवाह भिक्षुक के साथ । पिता जी, यह बड़ा

---

१ कृष्णलाल वर्मा : "दलजीत सिंह नाटक", १९२४ ई०,प्र०सं०,पृ०११६-११७,अंक४,दृश्य६
२ ब्रजनन्दनसहाय : "ऊषांगिनी", १९२५ ई०,प्र०सं०, पृ०११३, अंक ३,दृश्य ३
३ डा० बच्चन त्रिपाठी : "हिन्दी नाटक तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र",पृ०२२०,प्र०सं०,१९६८

ऊंचा आदर्श है ---[१] ।" नाटककार प्रेम एवं विवाह के माध्यम से जातिगत भेदभाव को समाज से हटाना चाहता है । नारी के लिए यह बहुत मुश्किल है कि वह एक बार एक से प्रेम कर पीछे हट जाय ।

जयशंकर 'प्रसाद' की देवसेना का चित्रण अत्यन्त कोमल हुआ है । देवसेना का प्रेम पूर्ण भावसे स्कन्दगुप्त के प्रति होता हुआ भी स्वाभिमान, आत्मगौरव, गरिमा से युक्त है । देवसेना का प्रेम ऊपर से अत्यन्त संयत है,लेकिन उसके अन्दर प्रणय की एक ऐसी हलचल रहती है,जिसमें इच्छाओं की लहरें अत्यन्त व्याकुलता से उद्वेलित होती हैं और प्रिय को पाने के लिए किनारे तक बढ़ना चाहती है, लेकिन मर्यादा के बांध के कारण अन्दर ही उमड़-घुमड़ कर रह जाती है । उसका प्रेम धन की विशालता पर नहीं,वरन् हृदय की विशालता पर अटकता है । स्कन्दगुप्त से प्रेम करके भी , वह उसे विवाह का रूप नहीं देना चाहती । उसके भाई बन्धुवर्मा ने मालव राज्य स्कन्द को सौंप दिया था । यदि वह विवाह करती है, तो लोग यह न कहें कि 'मालव देकर देवसेना का विवाह किया जा रहा है ।[२]'नाटक के अन्त में संगीत-सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान की प्रतिकृति देवसेना का नारी जीवन प्रेम में निष्काम रहने की इच्छा करता है । 'अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के भंवर में फंसाकर कलुषित न कीजिए । नाथ ! मैं आपकी ही हूं, मैंने अपने को दे दिया है । अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती ।[३]' देवसेना का प्रणय गौरवयुक्त है । शान्तिप्रिय द्विवेदी इसे 'राजनीति के सार्वजनिक क्षेत्र से अध्यात्म के आत्मिक क्षेत्र में पर्यवसान बताते हैं[४]। डा० विश्वनाथ ने उसके प्रेम के इसप्रकार के पर्यवसान के लिए कहते हैं --'देवसेना स्कन्दगुप्त को तपश्चर्या के जीवन की ओर अग्रसर होने के लिए जो संकेत देती है,उसमें संस्कृत नाटकों के लौकिकता से आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्त करने के आदर्श का निर्वाह है ।[५]'

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'अशोक',१९२७ई०, प्र०सं०,पृ०५२-५३,अंक २ दृश्य३

२ जयशंकर 'प्रसाद' : 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ',१९२८,प्र०सं०,पृ०९६,अंक३

३ वही, पृ०१५०,अंक५

४ शान्तिप्रिय द्विवेदी : 'सेठ गोविन्ददास के कुछ नाटक',अक्तू०,दिस०,१९५२'हिन्दुस्तानी पत्रिका, पृ०२६५ ।

५ डा० विश्वनाथ मिश्र : 'हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव',पृ०२४९,प्रकाशकाल१९६६ई०

विजया,की वह प्रेम को बेचना नहीं चाहती, उसे अपने अन्दर संजोकर उसी में लीन हो जाना चाहती है। उसके हृदय की कोमल कल्पना स्कन्द की पुकार मचाती है। लेकिन वह समस्त आकर्षणों से विदा ले लेती है। उत्सर्ग कर कुछ पाना चाहती है। 'मेरे इस जीवन के देवता! उस जीवन के प्राप्य! क्षमा'[1] -- कथन में स्कन्द की प्रेमिका देवसेना कष्ट व सुख की मिली-जुली एक अनोखी आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है। जीवन की यह विडम्बना है कि जिसे वह चाहती है, लेकिन वरण नहीं कर पाती और वरण न कर पा सकने में ही, वह उसे अनायास पा जाती है। देवसेना के विरोध में नारी पात्र विजया-प्रेम को धन में, वैभव में ढूंढ़ती है। वह महत्त्वाकांक्षा की पुतली स्कन्द को सिंहासन से हटते देख अपने प्रेम को भी उससे हटा लेती है। उसके प्रेम की माप ऐश्वर्यमय होने के कारण ही प्रेमियों का भी परिवर्तन होता चलता है। कभी स्कन्द, कभी कापालिक और कभी भटार्क तथा पुनः स्कन्द की ओर घूमता हुआ उसका प्रेम स्थिरता जानता ही नहीं।

नारी प्रेम करती है, लेकिन कभी-कभी प्रेम के व्यवहार से असन्तुष्ट हो ज़िन्दगी से बुद्धिसम्मत समझौता कर लेती है। लेकिन यह दशा उस नारी-चरित्र की है, जो पश्चिम के जीवन-दर्शन से प्रभावित है। नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सन्यासी' नाटक में मालती का प्रेम ऐसा ही है। मालती विश्वनाथ से प्रेम करती लेकिन वह उससे दूर भागता फिरता है। मालती हृदय को सन्तुष्ट नहीं कर पाती।[2] उसे जीवन में स्थिर करने वाला प्रेम चाहिए। वह प्रो० रमाकान्त से विवाह करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। डा० विश्वनाथ मिश्र लिखते हैं कि 'मालती की यह प्रेम की वैज्ञानिक व्याख्या निश्चितरूप से पश्चिम के वैज्ञानिक जीवन-दर्शन से प्रेरित है और उसकी यह बौद्धिक विश्लेषण की वृत्ति इब्सन और शा के बुद्धिवादी नारी चरित्रों का स्मरण दिलाती है।[3] 'बाद में मालती का प्रेम बुद्धिसम्मत होते हुए भी उसकी शारीरिक मुक्ति

---

१ जयशंकर 'प्रसाद' : 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य', १९२८ई०, प्र०सं०, पृ०१५५, अंक५

२ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'सन्यासी', १९२९ई०, प्र०सं०, पृ०१४८, अंक४

३ डा० विश्वनाथ मिश्र : 'हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव', पृ०२७९, प्रका०काल१९६६ई

का कारण विश्वनाथ का सन्यासी बनकर योगी बनता है । "हां अब तुम मेरे देवता बन सकते हो ---- इस रूप में । मेरे शरीर की मुक्ति तो तुमसे मिल गई, लेकिन मेरी आत्मा ? ----- ।"[1] यह आज की बौद्धिकता से ग्रस्त नारी के प्रेम की समस्या है । नाटककारों ने प्राय: प्रेम को कर्तव्य मार्ग में बाधक नहीं बताया है । चतुरसेन शास्त्री ने 'उत्सर्ग' नाटक में अखिला भैरवसिंह से प्रेम करती है और अपने प्रेम को विवाह में परिवर्तित करने के लिए भी प्रस्तुत होती है, लेकिन उसी समय युद्ध छिड़ जाता है । समस्त चित्तौर में एक जागरण की लहर दौड़ जाती है । लेकिन भैरव सिंह अखिला से अपने उस प्रेम को दुहराता है । अखिला उसे धिक्कार देती है -- " ---- ऐसे विप्लव के समय विवाह का प्रसंग छेड़ने में तुम्हें ग्लानि नहीं होती ।"[2] डा० लक्ष्मण सिंह चौहान की कमला भी एक ऐसी ही प्रेमिका है । वह शिवाजी के पुत्र संभाजी को अपने सम्पूर्ण भावना से प्यार करती है । ~~लेकिन संभा-जी को अपने सम्पूर्ण भावना से प्यार करती है~~ । लेकिन संभाजी जब युद्धक्षेत्र में अकर्मण्य हो जाता है, तो उसे सुनकर कमला का प्रेम एकदम आहत हो जाता है । वह आत्मघात कर अपने प्रेमी को सचेत करती है । शिवाजी को पत्र में लिखती है-- " ---- युवराज के पतन का कारण मैं अपने को ही मानती हूं । ---- प्यार ने युवराज को रसातल तक पहुंचा दिया, यह मेरा दुर्भाग्य है ---- मेरी मृत्यु युवराज के मोह-जनित प्रमाद को मिटा देगी ।"[3] नारी का यह त्याग उसके प्रेम की उच्चता को प्रदर्शित करता है ।

जयशंकर 'प्रसाद' की चन्द्रलेखा, विशाख के प्रथम साक्षात्कार में ही, उससे प्रेम करने लगती है । और जीवन भर अपने इस प्रेम पर ही टिकी रहती है । प्रेम में धन, राजवैभव, उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते । राजा नरदेव महापिंगल के षड्यंत्र में वासना से प्रेरित हो चन्द्रलेखा को किसी प्रकार रानी बना

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "सन्यासी", १९२९ ई०, प्र०सं०, पृ०१६५, अंक४

२ चतुरसेन शास्त्री : "उत्सर्ग", १९२९ ई०, प्र०सं०, पृ०३१, अंक३

३ डा० लक्ष्मण सिंह चौहान : "उत्सर्ग", पृ०८६, अंक ३, दृश्य५

लेना चाहते हैं, लेकिन चन्द्रलेखा अपने मार्ग से ज़रा भी विचलित नहीं होती। वह अपनी ही कुटी में प्रणय-याचना करने वाले नरदेव से स्पष्ट कह देती है--`राजन्! मुझसे अनादृत न हूजिए, बस, यहां से चले जाइये।`[1] दरिद्र होकर भी वह वैभव की आकांक्षा नहीं करती। चन्द्रलेखा को बचाने के लिए जनता विप्लव उत्पन्न कर देती है। अन्त में चन्द्रलेखा अपने प्रणय को प्राप्त करने में सफल होती है। नारी ने सदैव प्रेम करके वैभव की कभी आकांक्षा नहीं की। डा० प्रेमलता लिखती हैं-- `प्रेम के विकास ने दरिद्रता में भी जीवन को मधुरता प्रदान की है। वह प्रथम दर्शन में ही विशाख के सौजन्य पर मुग्ध हो जाती है ---- जीवन भर पतिव्रता बनी रहती है।`[2]

सुदर्शन के `अंजना` नाटक में सुखदा पवन के प्रति अत्यन्त आकर्षित है। वह उसके प्रेम में अंधी है। अपनी मां से स्पष्ट कह देती है कि वह हृदय एक पुरुष को देकर शरीर दूसरे के अधिकार में नहीं देसकती।[3] वह अपने निश्चय में अटल है। पवन के प्रति वह इतना अधिक आगे बढ़ जाती है जहां से लौटना उसके लिए कठिन ही नहीं, असम्भव है। लेकिन पवन की वही प्रेमिका सुखदा, पवन द्वारा उसके प्रेम को न ग्रहण करने पर प्रतिहिंसा की मूर्ति बन जाती है। और वह पवन की पत्नी अंजना के माध्यम से बदला लेने के लिए सन्नद्ध हो जाती है।[4] वह पवन से कहती है --` स्त्री को प्रेम के पश्चात् प्रतिकार प्यारा है`-- सुखदा अपनी शक्ति भर प्रयत्न करती है, लेकिन जब उसे अपने प्रेमी के वैवत्य का पता चलता है तब उसकी अवस्था अत्यन्त उन्मादमय हो जाती है। वास्तव में नारी के अहं को सबसे अधिक ठेस तभी लगती है, जब कि पुरुष उसके प्रेम को ग्रहण नहीं करता। इस स्थिति में या तो वह एकदम कोमल हो जाती है या फिर अत्यन्त प्रतिहिंसित रूप में सामने आती है। इसी प्रकार `नवीन प्रताप` नाटक की मेहरुन्निसा, माता-पिता

----

१ जयशंकर `प्रसाद` : `विशाख`, १९२९ई०, द्वि०सं०, पृ०४८, अंक२

२ लेखिका डा० प्रेमलता अग्रवाल : `हिन्दी नाटकों में नायिका की परिकल्पना` प्र०सं०, १९६९ई०, पृ०१३८

३ सुदर्शन : `अंजना`, १९३०ई०, द्वि०सं०, पृ०६, अंक१, दृश्य१

४ वही, पृ०१५, अंक१, दृश्य २।

द्वारा अत्यन्त उग्र विरोध के बावजूद, प्रताप के प्रति, अपने प्रेम को नहीं छोड़ती है। उसका प्यार भी सच्चा है। जो कठिनाई के दिनों में दिन-दिन और अधिक विकसित होता रहता है[1]।

नारी का प्रेममय रूप जो अत्यन्त कोमल और आकर्षण का केन्द्र होता है, जयशंकर 'प्रसाद' की मालविका, कल्याणी में चित्रित है। 'प्रसाद' की नारी त्याग की मूर्ति है। मालविका, कल्याणी, अलका, कार्नेलिया-- सब अपने अपने हृदय में प्रेम की टीस का अनुभव करती हैं। मालविका पूरे ~~नाटक~~ न नाटक में अत्यन्त आकर्षणीय पात्री है। 'प्रसाद' जी ने पूरे नाटक में उसके अत्यन्त कम सन्दर्भ दिए हैं, लेकिन जितना है, उसी में मालविका का उत्सर्ग अत्यन्त मार्मिक है। मालविका चन्द्रगुप्त को प्यार करने लगती है। हर क्षण चन्द्रगुप्त के लिए कुछ भी करने को तैयार रहती है। चन्द्रगुप्त के लिए ही वह चाणक्य के निर्देशानुसार नन्द से झूठ बोलती है। 'क्या असत्य बोलना होगा ? चन्द्रगुप्त के लिए सब कुछ करूंगी[2]।' जिस स्थान पर चन्द्रगुप्त सोता था, उस पर एक रात्रि शत्रु चन्द्रगुप्त का वध करने आने वाले थे, अत: मालविका ने चाणक्य के निर्देशानुसार चन्द्रसौध में उसके सोने का प्रबन्ध किया और उस स्थान पर स्वयं चन्द्रगुप्त का परिवेश पहन कर सो गई। उसने अपने जीवन को जानते हुए चन्द्रगुप्त के लिए उत्सर्ग कर दिया। चन्द्रगुप्त के लिए षड्यन्त्रकारियों को पकड़ना है तथा उसके लिए किसी जीवन की बलि आवश्यक है। मालविका का शय्या पर सोते समय स्वगत अत्यन्त सम्वेदना उत्पन्न करता है -- 'आओ प्रियतम ! दुखी जीवन बिताने के लिए, और मैं रहती हूं, चिर-दुखी जीवन का अन्त करने के लिए। --- यह चन्द्रगुप्त की शय्या है। ओह, आज प्राणों में कितनी मादकता है। --- स्मृति, तू मेरी तरह सो जा[3]।' प्रारम्भ से ही मालविका का यौन प्रणय आज उत्सर्ग में लुप्त है। उत्सर्ग किसके लिए ? अपने प्रिय के लिए। वह स्वर्गीय कुसुम प्रिय के हृदय में सबसे अधिक स्थान प्राप्त कर लेता है। कल्याणी तो

---

1 पं० ज्वालाप्रसाद दुबे : 'नवीन प्रताप', १९३१ई०, प्र०सं०, पृ०९७, अंक२, दृश्य८

2 जयशंकर 'प्रसाद' : 'चन्द्रगुप्त', १९३१ई०, नवीं सं०१९५२, पृ०१७२, अंक३

3 वही, पृ०२०७, अंक४

चन्द्रगुप्त को प्रारम्भ से ही प्यार करती चली आ रही है[1] । उसने जिन्दगी में यदि किसी पुरुष को वरण किया तो वह था--चन्द्रगुप्त । लेकिन पिता के विरोधी प्रणय के कारण उसकी पीड़ा को दबाए खड़ी रही । प्रणय को प्राप्त करने में असफल कल्याणी आत्मघात कर प्रेम की पीड़ा को ही समाप्त कर देती है । प्रेम सम्भवत: नारी जीवन का प्राण है । इस नाटक में अलका, आम्भीक की बहन एक और नारी पात्र है जो प्रेम करती है, लेकिन देशभक्ति उसके लिए सर्वप्रथम है । सिंहरण पर उसका प्रेम है, लेकिन वह कर्तव्य के आगे उस प्रेम को उभरने नहीं देती । 'प्रसाद' की नारी के लिए उत्सर्ग प्रणय का दूसरा नाम है । प्रेम में उसके अन्दर किसी भी प्रकार का इन्द्रिय-स्पन्दन नहीं है, वरन् प्रेम उसकी मानसिक उन्नति में सहायक होता है ।

प्रसादोत्तरकाल में नारी-चरित्र प्रेम व विवाह की समस्याओं से बहुत अधिक आक्रान्त होने लगे । नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने नारी की इन समस्याओं को चित्रित किया है । 'मुक्ति का रहस्य' में नारी इसी मुक्ति के लिए छटपटाती है । आशादेवी उमाशंकर से प्रेम करती ~~करती~~ है और उस प्रेम को पाने के लिए उसकी पत्नी की हत्या ज़हर देकर कर देती है । इस पाप को छुपाने के लिए उसे डाक्टर के साथ एक अन्य पाप और करना पड़ता है । यहीं पर आकर उसकी सारी भावनाएं एक साथ डगमगा जाती हैं । वह प्रेम के लिए अपना सतीत्व भंग नहीं सहन कर पाती । अब वह निश्चय कर लेती है कि अपने पापों से वह अपने प्यार के देवता को कलंकित नहीं करेगी । वह डाक्टर के साथ ही अपना घर बनाने का निश्चय कर लेती है । वह डाक्टर से कहती है--' वे मेरे ईश्वर हैं -- देवता हैं-- उनको पाने के लिए ---- लेकिन नहीं मैं उन्हें अपवित्र नहीं करूंगी[2] ।' वह प्रेम के अपवित्र होने के भय से प्रेम को ही छोड़ देती है । डा० विश्वनाथ मिश्र ने आशादेवी के ऊपर इब्सन की रेबेका की छाया मानी है[3] । प्रेम के लिए पवित्रता कितनी आवश्यक है--इसे

१जयशंकर प्रसाद : 'चन्द्रगुप्त', पृ०१९५, अंक४

२लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'मुक्ति का रहस्य', १९३२ई०, द्वि०सं०, पृ०१००, अंक३

३डा०विश्वनाथ मिश्र : 'हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव', पृ०२८३, प्रका०काल१९६६

आशादेवी अन्त में समझ पायीं ।

प्रेम में नारी की प्रतिहिंसा अत्यन्त भयानक होती है । जमुनादास मेहरा के 'पछिली भूल' नाटक में हीरा अपने प्रेमी गोपालसिंह को न पाने पर प्रतिहिंसा की मूर्ति बन जाती है और उसके परिवार को बरबाद करने के लिए कटिबद्ध हो जाती है[1] । 'प्रसाद' की कोमा प्रेम की पुजारिणी है । वह शकराज से प्रेम करती है । मिहिरदेव की वह पालिता पुत्री अत्यन्त कोमल स्वभाव वाली है । शकराज उसके प्रेम की तरफ से कुछ रूखा व्यवहार करने लगता है, वह कोमा के लिए अत्यन्त ठेस पहुंचाने वाला हुआ । शकराज का उपहार रूप ध्रुवस्वामिनी को मंगाना उसके लिए अत्यन्त असह्य हो जाता है, वह नहीं समझ पाती कि राजनीति एक नारी को कुचले बिना कैसे नहीं पूर्ण हो पाती ? वह उसी अनीति और अन्याय के बीच में नहीं रह पाती । वह सोचती है कि उसके वहां रहने से भावों को छिपाने के लिए शकराज को बनावटी व्यवहार करना पड़ेगा, पग-पग पर वह अपमान को सह न पायगी । शकराज उसे रोकता है तो वह कहती है — 'प्रेम का नाम न लो । वह एक पीड़ा थी जो छूट गई । --- मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्वमयी पुरुष मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी ---[2] ।' कोमा शकराज से मुंह मोड़ कर चली जाती है । लेकिन कोमा का प्रेम एकदम मरता नहीं, वह शकराज का शव लेने ध्रुवस्वामिनी के पास जाती है । घोर अपमान सहकर भी प्रेमी की मृत्यु उसे विह्वलित कर देती है ।

नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने ऐतिहासिकता से पृथक् श्यामा भीलनी में नारी का एक अन्य रूप रखा है । राणा रत्नसिंह के बेटे से उसने प्रेम अवश्य किया, लेकिन सामाजिक कठोरता ने उसे केवल एक दिन के प्रेम का सुख दिया। वह विवश नारी एक दिन के प्रेम-प्राप्य का इतना बड़ा मूल्य चुका कर एकदम

---

1 जमुनादास मेहरा : 'पछिली भूल', 1932ई0, प्र0सं0, पृ0 24, अंक 1, दृश्य 5

2 जयशंकर 'प्रसाद' : 'ध्रुवस्वामिनी', 1933ई0, प्र0सं0, 1957, पृ0 46, अंक 2

रिक्त हो गई। उसके पास[1] से कर्तव्य स्थान पर कुछ देर में पहुंचने के कारण मेवाड़ ने उसे मौत की सजा दे दी। उसके प्रेम की सच्चाई अपने प्रायश्चित को पुत्र विजय में पूरा करती है। जन-जन में देशानुराग को फैलाती हुई वह चारणी युद्ध में पुत्र को भेजती है। वह समझ जाती है कि उसका प्रेम बलिदान एवं कर्तव्य के मार्ग में बाधक हुआ था, अतः उस प्रायश्चित का मूल्य वह अपने एवं अपने पुत्र के जीवन से पूरा करती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के एक अन्य नाटक 'सिन्दूर की होली' में चन्द्रकला रजनीकान्त को प्रथम दर्शन में अन्दर ही अन्दर अपना सब कुछ अर्पित कर देती है। अचानक प्रेमी की मृत्यु से वह अपने को विधवा मान बैठती है। उसका प्रेम रजनीकान्त के सिवा किसी अन्य के लिए सोचना भी नहीं चाहता। यद्यपि नाटककार ने मनोरमा के माध्यम से इसे कोरी भावुकता कह कर महत्व नहीं देना चाहा है। लेकिन चन्द्रकला स्पष्ट कह देती है--'राम और सीता का दुष्यन्त और शकुन्तला का, नल और दमयन्ती का, अज और इन्दुमती का प्रेम प्रथम दर्शन[2] में ही हुआ था। स्त्री का हृदय सर्वत्र एक है -- मैं इसके लिए पश्चाताप करूंगी।' मिश्रजी कीचन्द्रकला में भावना का आवेग प्रबल है। इसी प्रकार चम्पा 'राजयोग' नाटक में नरेन्द्र से प्रेम करके उसे छोड़ नहीं पाती है। शत्रुसूदन अपनी शक्ति के बल पर चम्पा से विवाह कर लेता है, लेकिन[3] उसे समर्पण नहीं दे पाती 'मैं अब भी अपना पहला प्रेम नहीं छोड़ सकी --।' इसे वह स्वीकार करती है। लेकिन नाटककार ने उसे भावनाओं के वेग में ही बिना बुद्धि के नहीं बहने दिया है। वरन् नरेन्द्र द्वारा समझा कर परिस्थिति से समझौता करवाया है। सेठ गोविन्ददास की मनोरमा भी रूप-सौन्दर्य पर नहीं, वरन् गुण सौन्दर्य पर आसक्त होने वाली नारी है। वह प्रकाश से प्रेम करती है। प्रकाश सच्चरित्रता, दृढ़ता, ही उसके अन्दर प्रेम तरंगे उत्पन्न करती है। उसका प्रेम प्रतीकार की आकांक्षा नहीं करता। वह अत्यन्त संयत, गम्भीर है। अपनी

1हरिकृष्ण प्रेमी : 'रक्षाबन्धन', १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०२४, अंक१, दृश्य५

2लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'सिन्दूर की होली', १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०८४, अंक२

3लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'राजयोग', १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०९१, अंक३

सखी से कहती है--"हां, इतना तो मैंने अवश्य देखा कि उन्होंने न कभी मेरी ओर दृष्टि भर कर देखा भी नहीं, न प्रेम की कोई बात ही कही, परन्तु मुझे इसकी भी चिन्ता नहीं। मैं वह प्रेमिका भी नहीं कि प्रेम-पात्र की ओर से परिवर्तन में मैं प्रेम की आकांक्षा करूं और प्रति सहयोग न मिलने पर प्रेम न कर सकूं।"[1]

नाटककार उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की भारमली में प्रेम का नवल विकास सम्पूर्ण दृढ़ता के साथ उपस्थित है। भारमली एक राजनर्तकी है। उसका प्रेम युवराज राघव पर है। अत्यन्त सच्चे हृदय से वह युवराज से प्रेम करती है। मंडोवरकुमार रणमल्ल उसके प्रेम को जब नहीं पा पाता तो भारमली को राघव से दूर करने के लिए राघव के प्रति चूंड के अन्दर हीन भावना पैदा करता है, और राघव भाई द्वारा दिए गए निर्वासन को स्वीकार कर लेता है लेकिन भारमली मन ही मन कहती है--"अच्छा तो राठौर! यह तुम्हारा षड्यन्त्र है, परन्तु तुम भारमली को बांध न सकोगे। वह जायगी, जहां कुमार जायगा। आकाश में, पाताल में, जल में, थल में वह अपनी आत्मा को ही ढूंढेगी और तुम न पा सकोगे उसे राठौर।"[2] इसमें भारमली के अन्दर प्रेम की दृढ़ता और साथ ही प्रिय से दूर करने के प्रयत्न में एक आह भी प्रतिध्वनित होती है। विषादमय संगीत की लहर स्पष्ट ध्वनित होती है। वह प्रेम के लिए उत्सर्ग करना भी जानती है।

प्रिय की अकाल मौत उसके अन्दर प्रतिहिंसा भर देती है। रणमल को[3] शराब पिलाकर उसे बांध देती है और कुमार राघव के अपमान का बदला लेती है। लोगों ने समझा भारमली नीच नायिका, कुमार के बादरणमल के विलास भवन में पहुंच गयी। लेकिन भारमली वह बिना बदला लिए मरना नहीं जानती थी। बदला लेने के बाद उसी छुरी से अपनी हत्या कर राघव के पास चली

---

1 सेठ गोविन्ददास : 'प्रकाश', १९३५ई०, द्वि०सं०, पृ०४८, अंक३, दृश्य५

2 उपेन्द्रनाथ अश्क : 'जय पराजय', १९३७ई०, प्र०सं०, पृ०१२९, अंक३, दृश्य५

3 वही, १९३७ई०, प्र०सं०, पृ०२०६, अंक५, दृश्य७

जाती है । वीर रमणी भारमली, देवी थी । गोपालकृष्ण कौल लिखते हैं कि उसके रूप में अश्क ने ऐसी नारी को प्रस्तुत किया है,जो पुरुष के कंधे से कंधा भिड़ाकर चल सकती है --- उसमें अपने प्रिय के लिए मर मिटने की लगन है --- इस दृढ़ता के साथ भारमली में अपूर्व तरलता है , उसका चरित्र आदर्शमय प्रेम का उदाहरण है और 'प्रसाद' की कल्याणी और मालविका दोनों को अपने में आत्मसात् कर लेती है -- ।[1] डा० नगेन्द्र ने उसे देवसेना और मालविका के गौरव की अधिकारिणी मानते हुए उसे युग की अमर सृष्टि कहा है ।[2] वास्तव में 'प्रसाद' की देवसेना, मालविका प्रेम में अपनी जो बलि देती हैं, उसी के समानान्तर भारमली की बलि भी है, लेकिन 'प्रसाद' के यह नारी चरित्र प्रेम के लिए बलि नहीं लेते जब कि भारमली रणमल की बलि लेती है । बिना लिए वह अपने को शान्त नहीं कर पाती । लेकिन प्रेम की यह भिन्नता भारमली के प्रेम और उसके गौरव को गिराती नहीं,वरन् उसे और भी मार्मिक बना देती है । प्रेम कोमल रूप में हो या कठोर , लेकिन उसकी पराजय, अपने प्रति पाठक की करुणा सहज उत्पन्न कर देती है, और साथ ही अपने त्याग में वह गौरव का अधिकारी हो जाता है ।

समाज प्रेम में चाहे कितना बाधक हो,लेकिन नारी अपने प्रेम मार्ग को नहीं छोड़ती, भले ही उसे अपना जीवन त्यागना पड़े। 'बन्धनमुक्त' नाटक में योगेश और निम्नकन्या बिन्नो के प्रेम को गांव वाले नहीं देख सकते । लेकिन अनजाने ही उसे चाहने वाली बिन्नो,योगेश के ऊपर गांव वालों द्वारा विपद् स्थिति को देखकर स्वयं को योगेश की ढाल बना लेती है, और अपने जीवन की आहुति दे देती है । वह मरते समय कहती --" मैं तुम्हें चाहती हूं, पर किसी का चाहना भी क्या पाप है -- ।"[2] ग्राम वाले उनके भौतिक मिलन को भले ही तोड़ दें,लेकिन आत्मिक मिलन में वह कुछ नहीं कर सके ।

---

१ गोपालकृष्ण कौल : 'नाटककार अश्क',पृ०९८-९९

२ डा० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी नाटक',पृ०४१,प्र०सं०,१९९९,

कुमार हृदय के नाटक 'नवशे का रंग' में शान्तिप्रेम की पुजारिणी है । वह अहंवादी अराजकेतु के विपरीत कलाकुमार से प्रेम करती है । उसका सब कुछ उसी भावुक, संसार-संस्कृति के केन्द्र रूप युवक से बंधा है । अराजकेतु की भयानकता उसे अपने पथ से डिगा नहीं सकती । वह कुमार से कहती है--"प्रेम की परिभाषा भी तो ऐसी ही कुछ विचित्र सी है कुमार ! मैं केवल कंकाल होकर ही किसी के द्वारा बलपूर्वक अधिकृत हो सकती हूं । उस समय मेरे नाम पर अनर्थ हो सकते हैं, मेरे निज अस्तित्व पर नहीं ।"[1] और सचमुच अराजकेतु अपनी भयानक कठोरता से भी उसे प्राप्त नहीं कर पाता है । नाटककार सेठ गोविन्ददास की रेवा सुन्दरी प्रेम में कुलीनता या अकुलीनता का विचार नहीं करती है ।वह पिता द्वारा घोर विरोध के बावजूद वह अपने प्रेम को नहीं छोड़ती । यदुराय सम्राट द्वारा निर्वासित कर दिया जाता है । रेवा सुन्दरी के प्रेम को निष्क्रिय देखकर यदुराय उसे कुलीनता के अभिमान से युक्त समझ लेता है, और उसकी भर्त्सना करता है, लेकिन रेवा सुन्दरी उसके तिरस्कार को भी शिरोधार्य कर लेती है[2] । नाटक के अन्त में प्रेम ही विजित होता है । रेवासुन्दरी अपने सौभाग्य को प्राप्त करती है । पा० बेचनशर्मा 'उग्र' के 'आवारा' नाटक में लाली एक भिखारी की पुत्री होकर भी प्रेम के महत्व को जानती है । वह प्रेम को कभी छोड़ नहीं सकती। दयाराम के प्रति उसका प्रेम है ।[3] सच्चे प्रेम के कारण ही वह बाधाओं को पार कर अपने प्रेमी को प्राप्त करती है । वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक 'राखी की लाज' में चम्पा का सोमेश्वर के प्रति प्रेम अत्यन्त भोला है । वह अबोध चम्पी प्रेम करके भी अपने दादा से उसे कहने की हिम्मत नहीं कर पाती है । उसका प्रेम मर्यादा की सीमा

---

१ कुमार हृदय : 'नवशे का रंग', १९५१ई०,प्र०सं०, पृ०३२,दृश्य३

२ सेठ गोविन्ददास : 'कुलीनता', १९५१ई०,प्र०सं०,पृ०६२,अंक३,दृश्य ३

३ पा०बेचनशर्मा 'उग्र' : 'आवारा', १९५२ई०,प्र०सं०,पृ०१०७,अंक३,दृश्य७

के अन्दर ही उमड़ता रहता है।[1] लेकिन अन्त में भाई मेघराज आदि की सहायता से उसका सोमेश्वर के प्रति प्रेम-विवाह में परिणत हो जाता है। नन्दलाल जायसवार के नाटक 'अछूतों के इन्साफ' में मलीना ब्राह्मण होकर भी जाति को प्रेम में महत्त्व नहीं देती। वह अछूत विमल से प्रेम करती है। वह विमल से कहती है--' विमल, तुम्हारे लिए सब कुछ कर सकती हूं। ---- मैं समाज को रास्ते पर लाऊंगी। माता-पिता को समझाऊंगी एक नया चमत्कार दिखाऊंगी।[2]' लेकिन समाज किसी भी मूल्य पर इन दोनों के प्रेम को पूर्ण नहीं होने देता। अन्त में प्रेमी युगल आत्मघात द्वारा सारे बन्धन तोड़कर एक हो जाता है।[3] मलीना विमल के साथ प्रेम नहीं तोड़ सकती थी। उसके प्रेम ने बलि मांगी और उसने सहर्ष दी।

रामवृक्ष बेनीपुरी की 'अम्बपाली'[4] के प्रेम का अन्त अत्यन्त करुण है। आनन्दग्राम में रहती हुई अम्बपाली अरुणध्वज से प्रेम करती है, लेकिन जब अनायास ही वैशाली महोत्सव में राजनर्तकी बना दी जाती है तो उसका प्रेम एकदम चीत्कार कर उठता है। वह विवश सी राजनर्तकी की मर्यादा में बंध जाती है। वह अपनी जिन्दगी को प्रेम से दूर करने के कारण एक लाश के समान ढोती रहती है।[4] अरुणध्वज की मृत्यु उसे जीवन से एकदम विमुख कर देती है।[5] और वह बौद्ध धर्म की शरण में चली जाती है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री की रज़िया ने अजीत सिंह से जाति और देश सब कुछ भुलाकर प्रेम किया था। लेकिन देश के लिए वह अजीत सिंह से मुख मोड़कर चली जाती है, लेकिन प्रेम सदैव उसके साथ रहता है। लेकिन अजीत सिंह देश को विपत्ति में छोड़कर रज़िया के पीछे ही भागता है। अपने प्रेम की कायरता देख रज़िया को अत्यन्त क्षोभ होता है, वह उसे धिक्कारती है। --'

---

१ वृन्दावनलाल वर्मा : 'राखी की लाज', १९४३ ई०, प्र०सं०, पृ०८५, अंक ३दृश्य३

२ नन्दलाल जायसवार वियोगी : 'अछूतों का इन्साफ', १९४३ ई०, प्र०सं०, पृ०५२, अंक२सीन १

३ वही, पृ०७६, अंक३, सीन १

४ रामवृक्ष बेनीपुरी : 'अम्बपाली', १९४७ ई०, प्र०सं०, पृ०१०८, अंक ४-२

५ वही, पृ०११३, अंक४, ३

काश, कि तुम भी राजपूत के बेटे होते ?"[1] प्रेम को पौरुष से च्युत होते देख रजिया अत्यन्त क्षुब्ध हो जाती है । वह राजा को आदेश देती है कि " जाओ राजा, अपना फर्ज अदा करो, वरना मैं तुमसे नफरत करने लगूंगी । और ऐसा करने पर मैं जिन्दा नहीं रहूंगी ? --"[2] । उसका प्रेम देश-सम्मान को प्राथमिकता देता है ।

इस प्रकार आलोच्यकाल के नारी-चरित्र अपने प्रेम के लिए त्याग करना जानते हैं, उत्सर्ग करते हैं । वे प्रेम के लिए अपने जीवन तक की परवाह नहीं करते, लेकिन उनका प्रेम कर्तव्य को प्राथमिकता देता है । वे व चरित्र उसे अपने करणीय मार्ग से च्युत नहीं देख सकते । नारी ने अपने प्रेम का प्रदान प्रायः एक ही बार किया है । प्रेम में धन की एवं वैभव की कभी इच्छा नहीं की, केवल सच्चे प्रेम को ही चाहा है ।

---

१ चतुरसेन शास्त्री : "अजीतसिंह", १९५८ई०, तृ०सं०, पृ०१२७, अंक ४, दृश्य २, पृ०१२७

२ वही, पृ० १२८ , अंक४, दृश्य३ ।

अध्याय --६

नारी का वैश्या-रूप

अध्याय --६

नारी का वैश्या-रूप

वैश्या-वृत्ति नारी जीवन का अत्यन्त अभिशापग्रस्त जीवन है । नारी जब समाज के नियमों पर जी नहीं पाती, तब वह वैश्या-वृत्ति का आश्रय ले लेती है । नारी में सम्भवत: पुरुष की अपेक्षा अधिक शक्ति होती है, उसका सचेतन मस्तिष्क एवं सहानुभूति आदि सभ्यता को बनाने के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं।[1] लेकिन वही नारी यदि स्वयं को नहीं बना पाती तो, वह समाज के लिए एक बहुत बड़ी समस्या बन जाती है । वस्तुत: ऐसा लगता है कि वैश्या-वृत्ति भी समाज का एक नियम बन गई है, क्योंकि हमें यह हर युग में किसी-न-किसी रूप में प्राप्त होती है । समाज का एक अंश भोगलिप्सा में लिप्त रहता है । प्राचीन राजवंशों में भी राजनर्तकियों का विशेष स्थान होता था, जो मनबहलाव का साधन होती थी । मध्ययुग में यह प्रथा बहुत अधिक बढ़ गई थी । वैश्याओं के अपने-अपने कोठे होते थे, जहां रात-दिन महफिलें जमा करती थीं और सामान्य घरों की बरबादी बढ़ती जा रही थी । अन्ना गार्लिन स्पेन्सर लिखते हैं कि वैश्यावृत्ति अपने आदिरूप से ही आर्थिक कारण का फल रहा है ।[2] यह सच है कि आर्थिक कारण वैश्यावृत्ति के मूल में रहा है । लेकिन मध्ययुग

---

1. 'But woman can bring her fresh mind & all her power of sympathy to this new task of building up a spiritual civilisation, if she will be conscious of her responsibilities..- Page 183, by Rabindra Nath Tagore 1945, 4th edition 'Personality'.
2. A The ancient enemies of human progress agreed & lust, and the ancient draw backs to human progress, ignorance, laziness, self indulgence, vanity & lack of moral responsibility are now, as ever, causes of the social evil. But Prostitution is an always has been in part & often in large part, an economic question.'- Anna Garlin spencer- Page 123, 'Woman's share in Social Culture'.

में समाज के बलात्कार के कारण नारी जीवन इतना अधिक बरबाद हो रहा था कि वह जीवन की इसी राह पर आने के लिए विवश हो गया था । समाज नारीत्व का रक्षक नहीं, भक्षक बन बैठा था । छोटी-छोटी उम्र में विवाह कर दिया जाता था और जब वे जल्दी विधवा हो जाती थीं, तो समाज उनको एक तरह से निकाल दे देता था , वे समाज के एक अंश द्वारा तो हेय दृष्टि से देखी जाती और दूसरा अंश उन्हें गिद्ध दृष्टि से देखा करता था । फलतः स्त्री विवश हो वेश्या बन जाती। स्त्री-सौन्दर्य तो सदैव से आकर्षण का विषय रहा ही है । सौन्दर्य एक ऐसा बिन्दु है, जहां से एक मार्ग स्वर्ग का निदर्शन भी कर सकता है, दूसरा नरक[1] का । आनन्द दोनों मार्ग में प्राप्त होता है, लेकिन एक का अन्त वास्तविक 'आनन्द' से युक्त होता है औ दूसरा दु:ख,उद्वेग,पश्चाताप आदि में समाप्त होता है । नारी-सौन्दर्य जहां लोगों को उनकी वास्तविक मंजिल दिखाकर प्रेरणा देता है, वहीं वह उन्हें अत्यन्त बेराह कर देता है । वेश्यारूप ने परिवारों की सुख-शान्ति को नष्ट किया है । १९ वीं शती उत्तरार्द्ध में जागरण की इस लहर ने वेश्या प्रथा को एकदम समाप्त कर देना चाहा है । राजनैतिक नेताओं एवं समाज सुधारकों ने वेश्या प्रथा के कारण होने वाली देश और समाज की बरबादी को महसूस किया है । महात्मागांधी ने वेश्यावृत्ति के विषय में चिन्ता व्यक्त की है। उन्होंने कहा है कि वेश्यावृत्ति एक महाभीषण और बढ़ता जाने वाला दोष है। दोष में भी गुण देखने की और कला के पवित्र नाम पर अथवा दूसरी किसी मिथ्या भावना से बुराई को वाजब मानने की प्रवृत्ति ने इस अध:पातकारी पाप-विलास को एक प्रकार के सूक्ष्म आदर[2] भाव से सज्जित कर दिया है और वह इस नैतिक कुष्ट के लिए जिम्मेदार है । वस्तुत: समाज से इस अनैतिकता को दूर करने केलिए

---

१ 'आनन्द सौन्दर्य का आध्यात्मिक रूप है'
डा० गजानन शर्मा : 'प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी', पृ०५, प्र०सं०, १९७१ई०

२ संकलनकर्ता- रामनाथ सुमन : 'गांधी वाणी', पृ०२२१

सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ आर्थिक व्यवस्था भी समुचित करनी पड़ेगी[१] ।

हमारे आलोच्यकाल के नाटककारों ने वेश्या की गम्भीर समस्या को चित्रित किया है । उस समय पत्र-पत्रिकाएं इस विषय में अनेक अंक निकाल रही थे[२] । उन्होंने चित्रित किया है कि वेश्या का प्रेम सच्चा नहीं होता । यदि उसे प्यार होता है तो सिर्फ धन से । जब व्यक्ति के पास से धन समाप्त हो जाता है, तो वह उसे ऐसे निकाल देती है, जैसे दूध से मक्खी निकाल दी जाती है । कहीं-कहीं वेश्याओं का भी हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'प्रेमजोगिनी' नाटक में काशी की दालमण्डी का जो चित्रण किया है, उसमें बड़े दुःख के साथ लिखा है कि[३] घरों के सभी लोग वेश्या के दास बन रहे हैं --- । साथ ही उन्होंने 'भारत-दुर्दशा' नाटक में विधवा- विवाह-निषेध को व्यभिचार का कारण बताया है[४] । नारी का व्यभिचार ,वेश्या रूप में परिवार की अशान्ति का कारण है । नाटककार शालिग्राम वैश्य वेश्याओं को कपटी,दुराचारिणी आदि कहते हुए उनके कपटी प्रेम से बचने के लिए सचेत रहे हैं[५] । हनुमन्त सिंह रघुवंशी ने इस बुराई को

---

१ '.. Prostitution requires for its diminution not only laws, well enforced , to abolish the traffic in womanhood.. but most of all , greater power on the part of the average a young girl to earn her own support under right conditions & for a living wage..' - Anna Garlin Spence, Page 125. Woman's Share in social Culture

२ 'चांद', मार्च , १६२५ई०,वर्ष ३ खण्ड १

३ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'प्रेमजोगिनी' ,१८७५ई०,भा०ना०,पृ०७३४,दूसरा गर्भांक

४ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'भारतदुर्दशा' ,१८८०, भा०ना० पृ०६०५,अंक ३

५ शालिग्राम वैश्य : 'माधवानल कामकन्दला' ,१६०४ई०,पृ०३४-३५,अंक१, गर्भांक ५ ।

समाज से दूर करने की आवाज उठाई है । सत्यवती का पति कुलसिंह वैश्यागामी हो जाता है । उसके भाई चन्द्रोदय सिंह उसे वैश्या के बुरे प्रभाव को बताकर अच्छी राह पर लाना चाहते हैं -- " क्या आप नहीं जानते कि बहुधा नवयुवकों के हृदय-क्षेत्र में दुराचार का बीज इस नृत्यशाला में ही होता है --- यह वैश्यागमन निर्धन और दरिद्र तो ऐसा बना देता है कि अच्छे-अच्छे धनाढ्यों को राह का भिखारी बना छोड़ता है ।[1]" नाटककार वैश्यापन को बरबादी का कारण बताता है । मौ० असहाक के 'भक्त सूरदास' नाटक में बिल्वमंगल सती स्त्री रम्भा के रहते हुए भी वैश्यागामी हो जाता है । उसके पिता रामदास उसे वैश्या की बुराइयों को समझाते हैं-- " इसमें वैश्यापन के सिवाय और कुछ नहीं है । --- औरत के नाम को --- जलील करती है --- आधी स्वार्थ और आधी निर्लज्जता है ।[2]" लेकिन बिल्वमंगल अपने हठ को नहीं छोड़ता । तदनन्तर नाटककार ने वैश्या का हृदय-परिवर्तन किया है । वैश्या चिन्तामणि ही भक्ति प्रवाह में अपने जीवन को बदल देती है, और बिल्वमंगल को वापस घर भेजती है । वह उससे कहती है-- 'बिल्वमंगल ! भिखारी --- एक हिन्दू अबला जो पति के घर को अपना मन्दिर, पति के प्रेम को अपना पूजन --- जानती है[3] --- बिलखते, छोड़कर --- भटकते फिरना --- क्या महादुराचार नहीं है ? --- ।" चिन्तामणि का मानसिक परिवर्तन स्वयं उसे एवं बिल्वमंगल को भक्ति का मार्ग दिखाता है और बिल्वमंगल पुन: अपनी पत्नी को प्राप्त कर ईशाराधना में तन्मय हो जाता है । नाटककार हरद्वारप्रसाद जालान के 'कुरवेण' नाटक में राजा वेण अत्यन्त कामी और वैश्यागामी है । एक ही नहीं, कई वैश्याएं उसका मनोरंजन करती हैं । वैश्यागामी राजा कभी भी सुचारु रूप से शासन नहीं कर सकता । नाटककार स्वयं वैश्या इन्दुमती के द्वारा सभी को सतर्क

---

1 हनुमन्त सिंह रघुवंशी : 'सतीचरित्रनाटक', १९१० ई०, द्वि०सं०, पृ०३३, अंक ३

2 मौ० असहाक : 'भक्त सूरदास', १९१८ ई०, पृ०३६, अंक १, सीन ६

3 वही, पृ०४४, अंक २, सीन १

करता है कि 'वेश्या आज तक न तो किसी की हुई है और न होगी । वेश्या के जाल में फंसा, वह मानो ब दलदल में फंसा ।'[1] यही कारण है कि महाराजा वेण की विलासिता बढ़ती जाती है और उसका अन्त अत्यन्त दु:खदायी होता है । जमुनादास मेहरा आकांक्षा की अतृप्ति को वेश्यागमन का कारण मानते हैं । असमान अवस्था में विवाह होने से युवक-युवतियां बेराह हो जाती हैं[2] । 'पाप-परिणाम' नाटक में वेश्या रजिया, कुन्दन, मनोरंजन आदि पुरुषों के जीवन को बरबाद करती है । नाटककार ने सती मनोरमा द्वारा वेश्या के कपट-पूर्ण प्रीति का भण्डाफोड़ किया है[3] । मात्र धन के ऊपर टिकने वाला वेश्या का प्रेम, पत्नी-प्रेम की बराबरी नहीं कर सकता है । पं० रेवतीनन्दन भूषण ने इस प्रथा का उन्मूलन कर, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति को अग्रसर किया है । नारियां अपने पतियों के इस प्रथा के शिकार हो जाने पर कितनी दु:खित हो जाती हैं । स्वयं कर्मवीर एक जगह कहते हैं -- " ---- अपनी पतिव्रता सती स्त्रियों को पांव से ठुकरा कर रात के बारह-बारह बजे तक चोरों और डाकुओं की तरह बाजारों में फिरते नज़र आते हैं[4] ।" नैतिक पतन राष्ट्र के लिए अहितकर है । यदि राष्ट्र की उन्नति अपेक्षित है तो उसका सर्वथा तिरस्कार करना पड़ेगा । मनसुखलाल सौजतिया ब भी अपने "रणबांकुरा चौहान" नाटक में इसकी बुराइयों को चित्रित करते हैं । अरुण एवं रमेशचन्द्र का घरेलू जीवन कितना खराब हो जाता है । जब पति वेश्यागामी हो जाता है, तो पत्नी भी दुराचारिणी हो जाय, तो क्या आश्चर्य है । रमेश के वेश्यागामी हो जाने पर उसकी पत्नी विलासिनी भी आचरण-हीन हो जाती है । एक बुराई अनेक बुराइयों को जन्म देती है । नाटककार ने नाटक

---

१ हरद्वारप्रसाद जालान : "क्रूरवेण", १९२४ई०, प्र०सं०, पृ०१८, अंक १, दृश्य २

२ जमुनादास मेहरा : "पाप परिणाम", १९२४ई०, प्र०सं०, पृ०४८-४९, अंक१, दृश्य९

३ वही, पृ०३८, अंक२, दृश्य ५

४ रेवतीनन्दन भूषण : "कर्मवीर नाटक", १९२५ई०, प्र०सं०, पृ०२६-२७, अंक१, दृश्य३

के अन्त में वेश्या का हृदय-परिवर्तन कराया है । वह वेश्याओं द्वारा वेश्यावृत्ति छोड़ने का आग्रह करता है । वेश्या मदनसुन्दरी जब इस बात को समझती है तो अपनी वेश्यावृत्ति छोड़ देती है-- "सचमुच विषय-वासना ने देश की दशा गिरा दी है ---- ।"[1] राधेश्याम कथावाचक का सच्चरित्र श्यामलाल नामक पात्र भी एक बार[2] जो वेश्याभिमुखी होता है, तो फिर लक्ष्मी जैसी सती पत्नी की परवाह नहीं करता । वह वेश्या की बाहरी चमक-दमक में खो जाता है । नाटककारों ने अधिकतर पुरुष को वेश्यागामी दिखाकर परिवार की दुर्दशा को चित्रित किया है । रामसिंह वर्मा ने भी[3] हीरालाल के वेश्यागामी हो जाने पर परिवार की दुरवस्था का चित्रण किया है । बालकृष्ण भट्ट ने भी मालती के पति रसिकलाल को वेश्याभिमुखी दिखाया है । नाटककार समाज की वेश्यागामी प्रवृत्ति को चित्रित करता है । उसे दुःख है कि वेश्यागामी[4] पुरुष जब धनहीन हो जाता है, तभी अपनी पत्नी एवं घर का महत्व समझ पाता है । नाटककारों ने वेश्या को, अपनी वृत्ति छोड़ देने पर, समाज में स्थान देने का आग्रह किया है। "प्रबुद्ध यामुन" नाटक में वियोगी हरि भी यही चाहते हैं, यद्यपि उसमें उन्होंने समाज के रूढ़िवादी न्यायदत्त जैसे व्यक्ति का भी चित्रण किया है, जो वेश्या-विवाह का प्रायश्चित्त गुरुहत्या एवं गो-हत्या से भी बढ़कर बताते हैं[5] ।

दुर्गाप्रसाद गुप्त पुरुष के इस आंख के नशे से क्षुब्ध हैं[6] । वेश्या का प्रेम तो मृग-मरीचिका है । उसमें कोई सत्यता नहीं, न सारता ही है । युगलकिशोर वेश्या कामलता के चक्कर में फंस जाता है । अन्त में हारे हुए जुआरी की तरह अपना सब धन वेश्या के यहां फाड़ कर चला जाता है । सामाजिक धर्म के ठेकेदार

१मनसुखलाल लोजतिया : "रण बांकुरा चौहान", १६२५ई०, प्र०सं०, पृ०१५८, अंक३, दृश्य ४

२राधेश्याम कथावाचक : "परिवर्तन", १६२६ई०

३रामसिंह वर्मा : "स्वामिभक्ति", १६२८ई० ।

४बालकृष्ण भट्ट : "शिक्षादान", १६२८ई०, द्वि०सं०, पृ०४४, गर्भांक ५

५वियोगी हरि : "प्रबुद्ध यामुन", १६२६ई०, प्र०सं०, पृ०४८, अंक२, दृश्य३

६दुर्गाप्रसाद गुप्त : "आंख का नशा", १६३१ई०, द्वि०सं० ।

ही उसे और अधिक बढ़ाते जाते हैं। उनके सामाजिक नियम जहां एक ओर विधवा रूप में नारी को कलंक समझकर निम्न स्थान प्रदान करते हैं, वहीं वे ही नियम वेश्या के रूप में उसी नारी को प्रशंसा की नज़र से देखते हैं। नाटककार पं० चन्द्रदेव शर्मा एक सज्जन व्यक्ति द्वारा समाज को इसी की वास्तविकता से परिचित कराते हैं-- "रण्डियां क्या हैं ? वे भी तुम्हारे जैसे रईसों के घर से पीड़ित, ताड़ित निकाली हुई विधवा बहू-बेटियां हैं। नित्य तुम्हारे समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ाई जाकर उन्हें पतित किया जा रहा है। ---- वे भी समझती हैं कि वैधव्य दशा में "मेरे समाज के कलंक" हमें सताते हैं और वेश्या रूप में सज जाने पर वे ही आंखों पर बिठाते हैं तो उत्तम वेश्या-वृत्ति ही है ---"[1]। और अन्त में नाटककार को भय है कि यदि इसी प्रकार वेश्याओं की संख्या बढ़ती गई तो सम्भव है कि पूर्व व पश्चिम का अन्तर ही समाप्त न हो जाय। "नीच" नाटक में श्री नगेन्द्र पुरुष जाति के अत्याचार[2] को ही वेश्या बनने का कारण बताते हैं। मालती का चरित्र उसका प्रमाण है।

हिन्दू समाज में विवाह के अवसर पर नृत्य-गान करवाना भी इस वृत्ति का एक कारण है। "जवानी की भूल" नाटक में मानिक चन्द अपने विवाह में वेश्या नृत्य देखकर अपना आचरण ही खो बैठता है[3]। मोहन वेश्या की तमाम बुराइयों को बताता है लेकिन वह नहीं सचेत हो पाता। हिन्दू नारी रमा इसमें तिल-तिल कर जीवन नष्ट करती रहती है।

नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस समस्या को बड़ी ही गम्भीरता के साथ "राक्षस का मन्दिर" नाटक में चित्रित किया है। वेश्याओं के आश्रम की व्यवस्था कहां तक अपने में सफल है ? इस नाटक की मूल समस्या असगरी

---

1 पं० चन्द्रदेव शर्मा : "गुरुओं की करामात", १९३१ई०, प्र०सं०,पृ०१२-१३,अंक१,दृश्य १

2 श्री नगेन्द्र : "नीच", १९३१ई०, प्र०सं०,पृ०१०४,अंक४, दृश्य १

3 जमुनादास मेहरा : "जवानी की भूल", १९३२ई०, प्र०सं०।

का जीवन है । उसका सम्पूर्ण जीवन वेश्यावृत्ति का अंजाम है । अशगरी एक वेश्या है, वह भी मुसलमान । वेश्या शायद समाज में सम्मान का जीवन व्यतीत नहीं कर सकती है । रामलाल अशगरी को उठा तो लाता है, लेकिन वय में बहुत अधिक अन्तर उसे गिरने से बचाता है । अशगरी की युवा भावनाएं मुनीश्वर को देख एकदम व्यग्र हो उठती हैं । लेकिन मुनीश्वर व अशगरी के सम्बन्ध से रामलाल को जो धक्का लगता है, वह अशगरी को जीवन से एकदम विरक्त कर देता है । उसका हृदय अपने जीवन से एकदम क्षुब्ध हो जाता है । रामलाल का पुत्र रघुनाथ उसके जीवनका तीसरा मोड़ बनता है । डा० बच्चन त्रिपाठी लिखते हैं कि अशगरी वेश्या-पुत्री अजीब नारी के रूप में चित्रित है, जिसका सम्बन्ध देव,राक्षस,मानव तीनों प्रकृतियों से है[1] । लेकिन अशगरी अपने मानव को,अपने सम्पर्क से दूषित नहीं करना चाहती, वह अपने जीवन से इतनी अधिक व्यग्र हो जाती है कि दुनिया की मुहब्बत के बाद वह ईश्वर द्वारा अपनी मुक्ति चाहती है । यही कारण है कि वह अत्यन्त त्याग और सेवा के भाव से मुनीश्वर द्वारा स्थापित मातृमन्दिर की संचालिका बनती है । मुनीश्वर जिस समय मातृमंदिर की स्थापना करने का उद्योग करता है,उससमय उसकी हृदयगत पवित्रता पर अशगरी एवं रघुनाथ को सन्देह हो रहता है । लेकिन बुद्धि सबके हृदय का परिष्कार कर उन्हें एक सचेत व्यक्तित्व बनाती है । मुनीश्वर भी अपने राक्षसत्व को छोड़ देता है । स्वस्थ वातावरण जीवन को उदात्त बना सकता है । अशगरी का जीवन एक गम्भीर सामाजिक समस्या से किस प्रकार उदात्तता में परिवर्तित होता है, यह द्रष्टव्य है । सब ओर से सिमटकर वह अपने जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा में मोड़ देती है । डा० नगेन्द्र,मिश्र जी के अशगरी तथा अन्य इसी प्रकार के नारी-चित्रणों को असफल नारी जीवन की व्याख्या मानते हैं-- जो लौकिक अर्थ में गिरकर भी अन्त में अपनी आत्मा का संस्कार कर लेती है[3] ।

---

१ डा० बच्चन त्रिपाठी : "हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण मिश्र",प्र०सं०,१९६८ई० पृ०३५८ ।

२ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "राक्षस का मन्दिर",१९३२ई०,प्र०सं०,पृ०१०० अंक २

३ डा० नगेन्द्र : "आधुनिक हिन्दी नाटक",पृ०५८,प्र०सं०,१९६६ई० ।

चन्द्रशेखर पाण्डेय[1] ने अपने नाटक "करालचक्र" में लिखा है कि वेश्या पैसा कमाने की एक मशीन है। वह डाल-डाल पर फुदकने वाली रंगीन चिड़िया है, जो कहीं एक जगह स्थिर रहना नहीं जानती। नाटक में रमाशंकर पोंगटानन्द सभी कामी एवं वेश्यागामी हैं। रमाशंकर वेश्या सौदामिनी के रूप आकर्षण में फंस जाता है, जब सौदामिनी उसकी समस्त सम्पत्ति को अपने अधिकार में कर लेती है, तब उसे अपने घर से निकाल बाहर करती है। उस समय रमाशंकर अपने को धिक्कारता है। नाटककार वेश्यागमन को एकदम त्याज्य बताता है, जो केवल पतन का मार्ग है। पन्नालाल रसिक ने लिखा है कि वेश्या ही व्यक्ति को आत्महत्या की ओर प्रेरित करती है। रत्नकुमार, जब अपना सब कुछ खो बैठता है और उसे वेश्या के बनावटी रूप का पता चलता है, तब वह अत्यन्त पश्चाताप की स्थिति में पहुंच कर आत्मघात करने लगता है। वह कहता है-- " ---- हे संसार! मैं तुमसे सदा के लिए विदा ले रहा हूं --- पर तुम्हें मालूम हो जाय कि ये वेश्याएं काली नागिन हैं, जो मनुष्य का[2] सर्वनाश कर देती हैं और अन्त में इस प्रकार आत्महत्या करने को बाध्य करती हैं ----।" सचमुच प्रारम्भ में वेश्या भले ही सामाजिक विवशता से बने, लेकिन एक बार बनने के बाद वह हृदयहीन एवं लोभी ही बनती है। "वसन्तप्रभा" नाटक में वेश्या का दुष्परिणाम प्रभा जैसी सती स्त्री[3] को भोगना पड़ता है। पति के वेश्यागामी हो जाने पर उसे भी अपहृत होना पड़ता है। लेकिन वह स्त्री साहस नहीं छोड़ती और अपने शक्ति-बल से एक राज्य की अधिकारिणी बन जाती है। घर-घर की इस प्रकार की कहानी-वेश्यागमन का परिणाम है। महादेवप्रसाद शर्मा ने "समय का फेर" नाटक में वेश्या की कुप्रवृत्ति का चित्रण किया है। मुन्नीबाई वेश्या के फेर में पड़े किशोरीलाल से उसका मित्र काली कहता है--" --- यह तुम्हारे प्रेम को पैरों से ठुकरा देने वाली धन और धर्म लूटने[4] वाली तुम्हें कौड़ी-कौड़ी का मोहताज बनाकर गली-गली भीख मंगाने वाली वेश्या है।" वेश्या में धन-लिप्सा बहुत ज्यादा होती है।

---

१ चन्द्रशेखर पाण्डेय : "करालचक्र", १९३३ई०, पृ०४२, अंक१, दृश्य ६

२ पन्नालाल रसिक : "रत्नकुमार", १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०७६, अंक२, दृश्य२

३ जमुनादास मेहरा : "वसन्तप्रभा", १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०५०, अंक२, दृश्य१

४ महादेवप्रसाद शर्मा : "समय का फेर", १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०३६, अंक१, दृश्य ४

नाटककार राजा कुंवर सिंह वेश्यावृत्ति को अत्यन्त तिरस्कृत बताते हैं-- वह लिखते हैं कि वेश्या वह तालाब है, जिसमें सिर्फ भले आदमी ही नहीं, और कुत्ते तक भी मुंह लगा जाते हैं, वेश्या वह नाव है, जिसपर लंगे-लुच्चे सभी सवारी कर सकते हैं।[1] बुधिया, कालू डाकू की परित्यक्ता पत्नी वेश्या मार्ग को इन्हीं सब बुराइयों के कारण नहीं अपनाना चाहती है, वह जानती है कि वेश्या बनने पर, केवल दस वर्ष तक आनन्द मिल सकता है। पूरी उम्र का नहीं।[2] लेकिन नाटककार वेश्याकी दुरवस्था का कारण समाज को मानता है।[3] शिवरामदास गुप्त उन पिता वर्ग को धिक्कारते हैं, जो पैसे के लोभ में अपनी कन्याओं को विधवा एवं वेश्या बनाते हैं। गरीब की दुनिया नाटक में आगा मुराद से इसी तथ्य को कहता है।[4] प्रो० सत्येन्द्र ने अपने नाटक 'जीवन-यज्ञ' में ऐतिहासिक कथानक के अन्दर वेश्याओं की समस्या को चित्रित किया है। नाटककार ने नाटक में वेश्या के हृदय-परिवर्तन को चित्रित किया है। गुजरात के महाराजा जयसिंह से वेश्या कहती है--" हां महाराज। सच्चे सुख का मार्ग भारत में वेश्याओं के लिए भी आम्रपाली ने दिखा दिया है। मैं उसी मार्ग का अनुसरण करूंगी ---।"[5] महाराज जय सिंह के दरबार में आकर वेश्या कैसे न बदलती उसे अपने भारत के आदर्श का एहसास होता है और वह अपना जीवन को एकदम बदल देती है। औरतों को एकत्र करने वाली कर्मठ असमा के दल में वेश्या "बिन्दु" अपना सब कुछ अर्पित कर मेहनत से जीवन व्यतीत करने के लिए आ जाती है। वह महसूस करती है कि अब तक के जीवन में उसका अपना कहने को क्या शेष रहा ? उसने तो अपना सर्वस्व पल-पल पर त्यागा। वैभव का त्याग कर उसे अपनत्व का बोध होता है। "--- आज मेरा शरीर दुकान नहीं।[6] आज ही मेरा शरीर देव-मंदिर बना है। अब मैं नया जीवन आरम्भ करूंगी।" उसके आगे

---

१ राजा कुंवर सिंह : "प्रेम के तीर", १९३५ई०, प्र०सं०, पृ० ४७, अंक १, दृश्य ५

२ वही, पृ०४७, अंक१, दृश्य ५।

३ राजा कुंवर सिंह : "प्रेम के तीर", १९३५ई०, प्र०सं०, पृ०१७, अंक१, दृश्य३

४ शिवरामदास गुप्त : "गरीब की दुनिया", १९३६ई०, प्र०सं०, पृ०७६, अंक २, दृश्य२

५ प्रो० सत्येन्द्र : "जीवन-यज्ञ", पृ०६६, अंक २ दृश्य २

६ वही, पृ०७४, अंक२, दृश्य २।

बदल देने पर इतनी अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि डूंगरसिंह के पुत्र लालजी द्वारा जब उस पर बल प्रयोग किया जाता है, तो वह उसे लात मार देती है कि उसकी मृत्यु ही हो जाती है। महाराज जयसिंह उसके इस कदम की प्रशंसा करते हैं, इसके द्वारा उसने मुक्त नारीत्व के गौरव की रक्षा की, आम्रपाली के आदर्श को सामने रखकर।[1] 'आदर्श मिलवै महिला' नाटक में नाटककार ने समाज की कुव्यवस्था पर क्षोभ प्रकट किया है। सामाजिक अन्याय ही वेश्यावृत्ति आदि को प्रोत्साहन देते हैं। बाल-विधवा जीवन जब समाज में उचित स्थान नहीं पाता, तभी वह कुमार्ग की ओर प्रेरित होता है। दुर्गामती, एक बाल-विधवा, समाज द्वारा दिए गए अनेक दुःखों का सामना करती है। वह दुःखी हो अपनी सखी से कहती है--"---- आज हिन्दूजाति की लाखों करोड़ों विधवाओं को वैधव्य वेदना की दहकती हुई चिन्ता-चिता में जीवनपर्यन्त झुलसना पड़ता है और ---- बहुतों को विवश होकर वेश्या-पाप वृत्ति जैसे नारकीय जीवन में उतरना पड़ता है ----।"[2] अतः नारी जीवन के सुधार के लिए आवश्यक है कि समाज, अपनी व्यवस्था को स्वयं सम्हाले। 'ड्रामा अछूत भक्ति'[3] में भी नाटककार समाज में फैलने वाली इस बुराई से चिन्तित है। 'पतिता' नाटक में विजय शुक्ल यह चित्रित करते हैं कि वेश्यागामी होने पर कितने परिवार टूट जाते हैं। ललिता का पति रामकिशोर वेश्यागामी हो जाता है और मोहिनी वेश्या के फेर में अपना सब कुछ गंवा बैठता है।[4] रामकिशोर वेश्यावृत्ति के कारण पत्नी ललिता को तो दुःख देता ही है, साथ ही वह सरस्वती को भी अन्त में फंसाकर उसे दुःख प्रदान करता है। वेश्यावृत्ति की फैलती हुई आग घरों को झुलसा कर रख देती है। नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी' वेश्या नारी के हृदय में घुसने का प्रयत्न करते हैं। उसकी भी एक अन्तरात्मा है। नारी वेश्या बनने के लिए विवश की जाती है। दिन में

---

१ प्रो० सत्येन्द्र : 'जीवनयज्ञ', पृ०८१, अंक२, दृश्य २

२ देवी प्रसाद : 'आदर्श महिला उर्फ खूनी कटार नाटक', १९३८ई०, प्रथम सं०, पृ०२९, अंक २, दृश्य १

३ ड्रामा अछूत भक्ति : 'कैलाशनाथ गुप्त', १९३८ई०, पृ०२१, अंक१, सीन ४

४ विजयशुक्ल : 'पतिता', १९३८ई०, पृ०१२६, अंक ३, दृश्य७

'माया' और रात में 'अ नवीन' होने वाली लड़की अपने माता-पिता के द्वारा वेश्या होने के लिए विवश की जाती है। क्योंकि उसी धन से पूरे परिवार की विलासिता की पूर्ति होती है। प्रकाश का सम्पर्क उसे चैतन्य करता है। समाज के एक अंश का प्रेम उसमें अन्दर सजीवता उत्पन्न कर देता है। न जाने कितनी स्त्रियाँ इसी तरह विवश होकर वेश्या होती हैं। प्रकाश से वह कहती है --' मैं तो नारी नहीं नारी का शव हूं, मुझे कोई भी छू सकता है ---[1]।' कितनी व्यथा है, इस कथन में। वेश्याओं के भी हृदय होता है। ऐसी वेश्याओं के प्रति नाटककार अत्यंत सहानुभूति रखता है। माया प्रकाश की पत्नी को गुप्त रूप से आर्थिक सहायता प्रदान करती है। इसी नाटक में ज्योत्सना का पति रजनीकान्त भी बुराइयों से युक्त है। वह अपनी मनोवृत्तियों को पूर्ण करने के लिए इधर-उधर से अपने मित्रों को बटोर लाता है और अपनी पत्नी के ही रूप की हाट लगवाता है। पति-भक्त, पत्नी निर्जीव-सी उसके संकेतों पर नाचती रहती है[2]। उसके वह सब मित्र जो कि उसकी राह को बुरा मानते हैं, उसका अत्यन्त तिरस्कार करते हैं। शंकर उसे राह पर लाना चाहता है। वह रजनीकान्त के लिए स्पष्ट कहता है --'उसमें आत्मा है ही नहीं। स्त्री के सतीत्व का उसकी आंखों में कोई मूल्य नहीं ---- उसे शराब की बोतल चाहिए और एक बाजारू औरत। वह नर नहीं है, नर पिशाच है[3]।' वस्तुतः समाज जब-जब नारी के मूल्य को भुला देता है, तब-तब नारी ऐसे ही जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होती है। वरना हृदय की पवित्रता हर नारी के अन्दर रहती है भले ही वह वेश्या हो। कंचनलता सब्बरवाल ने वेश्या के अन्दर लहराता हुआ शुद्ध नारी-हृदय का चित्रण किया है। मधुमयी एक बौद्ध गणिका है। लेकिन वह गुप्त वंश के अन्तिम वंशज आदित्यसेन को महागुप्त की इच्छानुसार नष्ट नहीं कर सकती है। आदित्य के पिता माधवगुप्त से गणिका रूप में परिचित होने पर भी, वह अपने नारीत्व के सम्पूर्ण प्रेम को उसी के लिए सुरक्षित रखती है। गणिका होने से पूर्व वह एक नारी है। वह कुलगुप्त के षड्यन्त्र को तिरस्कृत कर स्पष्ट कह देती है--' गणिका का भी

---

1 हरिकृष्ण 'प्रेमी' : 'छाया', १९४१ई०, प्र०सं०, पृ०४५, अंक२, दृश्य५

2 वही, पृ०२३, अंक१, दृश्य५

3 वही, पृ०२६, अंक२, दृश्य२

एक गौरव होता है । समाज में भले ही उसका तुच्छ-सा स्थान है --- किन्तु फिर भी मेरे विस्तृत वक्षस्थल में एक मांस पिण्ड हृत्पिण्ड नाम का है और वह निरन्तर जाज्वल्यमान हो रहा है ----[1] ।" वह स्वयं पर चकित है कि गणिका होने पर भी उसके हृदय में नारी प्रेम कैसे उत्पन्न हो गया है[2] । लेकिन धीरे-धीरे वह वेश्या सब ओर से सिमट कर विश्व में अपने प्रेम को पाती है । गणिका हो जाने पर भी उसका नारीत्व समाप्त नहीं हो जाता है । सामान्य वेश्याओं से उसकी प्रवृत्ति एकदम भिन्न है ।

हरिकृष्ण प्रेमी ने ऐतिहासिक कथा में सम-सामयिक समस्याओं को बड़ी कुशलता के साथ चित्रित किया है । "विषपान" में केसर का चरित्र एक चिन्ता का विषय है । वेश्या यदि सुधरना चाहती है तो समाज उसे सुधरने नहीं देता है । केसर वेश्या की पुत्री होने मात्र से ही सब के द्वारा त्याज्य समझी जाती है । अपने सच्चे प्यार के बावजूद वह रानी नहीं बन सकती । स्वयं जयपुर नरेश जगत सिंह विवश हैं । केसरबाई,कृष्णा और अमानदास सभी इस सामाजिक बलात् पर रोष प्रकट करते हैं । नाटककार इसका कोई -न-कोई समाधान निकालना चाहता है । या तो इस प्रथा को आमूल समाप्त किया जाय या फिर उत्थान की इच्छा वालों को उनका सामाजिक सम्मान वापस मिले । केसर अपने हृदय के दुःख को व्यक्त करती है--" एक वेश्या अनेक व्यक्तियों से प्रेम का खेल खेलती है, और एक राजा अनेक रानियां रखता है । क्या दोनों सम्मान नहीं हैं ? समाज क्यों राजा का आदर करता है, क्यों वेश्या का अपमान करता है? और क्यों उससे घृणा करता है ?[3]" तर्क अपने में सचमुच सबल है । वास्तव में समाज अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है । एक को वह अच्छा बताता है,दूसरे को खराब जब कि दोनों के कार्य-समस्तर वाले हैं ।

इस प्रकार वेश्यावृत्ति एक ऽ बहुत बड़ा सामाजिक अभिशाप है ।

---

१ कंचनलता सब्बरवाल : "आदित्यसेन गुप्त",१९४२ई०,प्र०सं०,पृ०१९-२०,अंक १,दृश्य३

२ वही, पृ० २४,अंक१, दृश्य३

३ हरिकृष्ण प्रेमी : "विषपान",१९५१ई०, पृ०८०,अंक३, दृश्य १,

जीवन के हर क्षेत्र में उन्नति की दृष्टि से बाधक है । शक्ति के ह्रास का कारण है । जहाँ केवल धन का ही महत्त्व है । लेकिन इसकी जिम्मेदारी प्राय: नाटककारों ने समाज के ऊपर ही रखी है । यदि नारी को आर्थिक सुविधा के ऊपर के एक साथ-साथ सामाजिक सम्मान भी मिले, तो उनके वेश्यारूप को कम किया जा सकता है । इसके लिए सामाजिक चेतना की आवश्यकता है । जब तक समाज अपने इस पतनोन्मुख वर्ग के प्रति सजग न होगा, तब तक यह समस्या ज्यों-का-त्यों बनी रहेगी ।

अध्याय -- १० :

नारी का सार्वजनिक जीवन

अध्याय --१०

नारी का सार्वजनिक जीवन

नारी का सार्वजनिक जीवन, उसके सामाजिक जीवन पर ही निर्भर रहता है । जितना उसका सामाजिक जीवन गौरवपूर्ण होगा, उतना ही उसका सार्वजनिक जीवन क्रियाशील होगा । पाश्चात्य सभ्यता की अपेक्षा भारतीय सभ्यता में नारी का सार्वजनिक जीवन कुछ सीमित है, लेकिन जो भी रहा है, वह अत्यन्त मर्यादापूर्ण रहा है । प्राचीन भारत में नारी बहुत क्रियाशील रही है । घर से बाहर निकल कर, उसने हर क्षेत्र में पुरुष को सहयोग दिया है । लेकिन ज्यों-ज्यों हमारी सामाजिक व्यवस्था कमजोर होती गई, त्यों-त्यों नारी का सार्वजनिक जीवन कम होता गया और वह एकदम घर की चहारदीवारी में ही समा गया। जब उसको घर से बाहर ही नहीं निकलने दिया जायगा, तो वह जनसाधारण कार्यों में भी कैसे प्रवेश पा सकती है । पर देश में व्याप्त पुनर्जागरण की लहर ने उसे पुन: घर से बाहर किया । देशव्यापी चेतना से हमारे आलोच्यकाल के नाटककार कैसे बचे रहते । उन्होंने अपनी नाट्य-कृतियों में उसे घर और परिवार की जिम्मेदारियों के अतिरिक्त समाज की जिम्मेदारियां भी दी हैं । पारिवारिक जीवन से पृथक् सार्वजनिक क्षेत्र में भी यदि वह चाहे तो अच्छी से अच्छी भूमिका निभा सकती है ।

---

१ Prof. Indra The status of women in Anc. India :- Ist edition 1940.

Swami Madvanand Great women of India - Ist edition 1953.

वस्तुत: आलोच्यकाल की सामाजिक स्थिति अत्यन्त विवादास्पद थी । नारी की मानसिक और भौतिक उन्नति के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न न था । अत: नाटककारों के सामने तो सर्वप्रथम यही कर्तव्य था कि वह नारी पर से समाज के अनावश्यक बन्धनों को दूर करें । अत:उन समस्याओं के चित्रण की प्रमुखता होने के कारण सार्वजनिक क्षेत्र में नारी अत्यन्त विस्तृत रूप में नहीं आई है । कहीं तो नाटककारों ने ऐतिहासिक कथा-सन्दर्भों के माध्यम से उसमें वीरत्व लाने की चेष्टा की है । कहीं उसे स्वयं ही आश्रम का संगठन कर नारी जाति को समाज की क्रूरताओं से बचाकर शरण देते हुए दिखाया है । आज नारी का सार्वजनिक जीवन जितना विस्तृत हो गया है, उतना उस समय नहीं हो पाया था ।

नाटककार महेश्वर वत्स ठाकुर के 'कलावती' नाटक में कलावती का वीर सैनिक वेश स्त्रियों को बन्दूक हाथ में लेने की प्रेरणा देता है[1] । 'स्वर्ण देश का उद्धार' नाटक में अनन्तप्रभा राज्य द्वारा दिये गये देशवासियों के दु:खों का उद्धार करने के लिए सबको प्रेरित करती है[2] । उसके नेतृत्व में देश का अधिकांश भाग देश को अत्याचारों से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है । नाटककार नारी को इसीप्रकार देशसेविका रूप में देखना चाहता है ।

'प्रसाद' के नाटकों में युग की आधुनिकता की छाप पूर्णतया व्याप्त है । देश की राजनैतिक हलचल ने नाटककार को सचेत बना दिया । उनके ऐतिहासिक नाटक भी इन सूत्रों से वर्तमान को लिये हैं कि उनमें कहीं भी कोई छिद्र नहीं दिखाई देता है । युग की आवश्यकता ने नारी को भी देशसेविका बनाया । 'प्रसाद' के नारी पात्र भी सेवापरायण हैं । 'अजातशत्रु' नाटक में मल्लिका नाटककार की इच्छित नारी पात्र है,जो विश्वमैत्री एवं करुणा के सिद्धान्तों एवं आदर्श को लेकर चलती है । पति-प्रेम के साथ-साथ सेवा की भावना अपने शत्रु को भी सहायता देती है । उसकी कर्तव्य-भावना अत्यन्त पवित्र है । " महान हृदय को केवल विलास की मदिरा पिला कर मोह लेना ही स्त्री का कर्तव्य नहीं[3] ।" जहां उसे अपने व्यक्तिगत कर्तव्य का इतना

---

1 महेश्वर वत्स ठाकुर : 'कलावती', १९११ई०,पृ०२९, अंक २ दृश्य २,प्र०सं०

2 चन्द्रवेदालंकार विद्या वाचस्पति : 'स्वर्ण देश का उद्धार', १९२१ई०,प्र०सं०,पृ०६२,अंक३ गर्भांक ६

3 जयशंकर 'प्रसाद' : 'अजातशत्रु', १९२२ई०,प्र०सं०

ज्ञान है,वहीं दूसरे को भी वह कर्तव्यच्युत नहीं देख सकती है । युद्ध में घायल प्रसेनजित को अपने आश्रम में लाकर वह सुश्रुषा करती है, अजातशत्रु के हाथों से उसे बचाती है तथा विद्रोही हृदय दीर्घकारायण को राजभक्ति के सत्पथ पर प्रेरित करती है । इसी प्रकार युद्ध में उदयन के हाथों घायल हुए विरुद्धक की चिकित्सा करके उसे स्वस्थ करती है और उसके पिता प्रसेनजित से उसे अपने अपराधों के लिए क्षमादान दिलाकर पुन: युवराजपद दिलाती है । आतिथ्य धर्म का पालन भी उचित रीति से करती है । इस प्रकार मल्लिका का सेवाभाव समाज एवं देश दोनों को अपने में समेटे रहता है । देश की राजनैतिक हलचल ने सभी के ऊपर अपना प्रभाव डाला । डा० लक्ष्मण सिंह की उर्मिला एक नाम कोआपरेटर है । बड़ा सजग नारी-व्यक्तित्व है । गांधी[1] के विचारों से प्रेरित वह नारी देश के लिए अपने सहयोग को अर्पित कर देती है । पं० रेवतीनन्दन भूषण के "कर्मवीर" नाटक में देश के लिए नारी जाति का आवाहन किया गया है । जनमेजय अपनी मां इरावती से कहते हैं,--" --- देश की स्त्रियों में धर्म का प्रचार करो,जाति की रक्षा के कारण कर्तव्य क्षेत्र में कूद पड़ो[2] ।" स्वयं इरावती नारी जाति का संगठन कर देश के उद्धार का प्रयत्न करती है । नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी नारी को वीरवेश धारण करवा कर देश के लिए उत्सर्ग करने की प्रेरणा दी । "अशोक" नाटक में कलिंगराज अर्बुद[3] की पुत्री माया वीरांगिनी है ।महलों को छोड़कर युद्ध के लिए निकल पड़ती है ।

"स्कन्दगुप्त" नाटक की देवसेना भी महान् देशसेविका है । साहस,वीरता,देशसेवा आदि अनेक भावों से प्रेरित है । वह अन्त:पुर की रक्षा का भार भी अपने ऊपर लेती है । प्रथम अंक ही में भाई बन्धुवर्मा को,अन्त:पुर का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर आश्वस्त करती है । देवसेना अपनी भाभी जयमाला के साथ ही दुर्ग रक्षा करने में कटिबद्ध[4] है । विजया कहती है," -- तुम लोग आग की चिनगारियां हो या स्त्री हो --- ?" प्रेम की वह कोमल कलिका देश के प्रति अपने

---

1 डा० लक्ष्मण सिंह -- "गुलामी का नशा",१९२८ई०,प्र०सं०,पृ०१८,अंक१,दृश्य२

2 "आयेंगी भारत की महिलायें भी इस मैदान में ।
  देर बाकी कुछ न होगी, देश के कल्याण में ।।"--
  --रेवतीनन्दनभूषण : "कर्मवीर नाटक",१९२५ई०,प्र०सं०,पृ०१५६अंक३,दृश्य५

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

कर्तव्य से पीछे नहीं हटती है। स्कन्दगुप्त के अदृश्य हो जाने पर साम्राज्य के बिखरे एवं टूटे रत्नों की सुरक्षा एवं सेवा वह एक आश्रम में रहकर करती है। मालवकुमारी का यह सेवाव्रत नाटककार नारी जाति के लिए एक आदर्श रूप में चित्रित करता है। इसका आदर्श यथार्थ की भूमिका पर है, इसीलिए लोकोपयोगी एवं मंगलमय है। नारी का यही कर्मण्य रूप पुरुष की प्रेरणा बनता है।[1]

नारी को अपनी समस्याओं को स्वयं ही दूर करने के लिए नाटककारों ने उनके व्यक्तित्व को विस्तार दिया है। तुलसीदत्त शैदा ने बाल-विवाह के कारण प्रताड़ित सावित्री को एक विधवाश्रम की संचालिका बनवाया है। सावित्री स्वयं आश्रम का संगठन कर नारी समाज में चेतना फैलाती है, उन्हें सजग करती है और विपत्ति में ग्रस्त नारी को शरण देती है।[2]

नाटककार जयशंकर `प्रसाद` ने `चन्द्रगुप्त` नाटक में अलका के रूप में उस आधुनिक नारी का चित्र खींचा है, जो घर के सीमित कार्यक्षेत्र से निकल देश की स्वतन्त्रता के युद्ध में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करती है। अलका का झण्डा लेकर जनता में देश-प्रेम संगठन की भावना आदि जगाते हुए घूमना आधुनिक युग का चित्र उपस्थित करता है। इस समय सभी महात्मागांधी की अहिंसा, सेवाभाव और विश्व- प्रेम से अधिक प्रभावित रहे हैं। यही कारण है कि ऐतिहासिक सन्दर्भों में जयशंकर `प्रसाद`, व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर निस्पृह भाव से समाज एवं देश की सेवा करते हुए नारी-पात्रों की सृष्टि कर सके हैं। जो उत्सर्ग की मशाल जला कर सब को जागृत करती हैं। अलका राष्ट्रीय-प्रेम की सजीव मूर्ति है। इसके लिए उसने भाई

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी सं०३-४)

३ लक्ष्मीनारायण मिश्र : `अशोक`, १९२७ई०, प्र०सं०, पृ०१८४, अंक३, दृश्य४

४ जयशंकर `प्रसाद` : `स्कन्दगुप्त`, १९२८ई०, प्र०सं०, पृ०४७, अंक१

१जयशंकर `प्रसाद` : `स्कन्दगुप्त`, पृ०१३६, अंक५, १९२८ई०

२तुलसीदत्त शैदा : `नन्हीं दुल्हन`, १९३०ई०, पृ०१७७, अंक ३, दृश्य५

की भर्त्सना की पिता के प्यार को छोड़ा । उसकी यह विद्रोह भावना उसके ही शब्दों में इस प्रकार है--" यदि वह[1] बन्दिनी नहीं बनाकर रखी जायगी तो सारे गान्धार में वह विद्रोह मचा देगी ।" सारे राज-कुलों को ठोकर मार कर चल देती है । सिंहरण, चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त को वह कुशलता के साथ पूर्ण सहयोग देती है। दुर्ग की रक्षा भी बड़ी निपुणता के साथ करती है । ऐसी ही नारी जीवन की सार्थकता प्राप्त होती है । जो समयानुसार अपने कर्तव्यों को समझ कर न केवल परिवार में ही, परन्तु देश एवं समाज को उसके कष्ट के दिनों में सहायता पहुँचा सके। इसी प्रकार नाटक "कराळक" में सरला, चपला, सत्यवती सब मिलकर "महिला महा-मण्डल"[2] की स्थापना करती हैं और सताई जाती हुई स्त्रियों की रक्षा एवं उद्धार करने का यत्न करती हुई अपनी सामाजिक सजगता का परिचय देती है । रामनरेश त्रिपाठी की कुसुम भी एक सेवापरायण[3] लड़की है, जो शिक्षा प्राप्त करने के बाद गरीबों की सेवा में लग जाती है । हरिकृष्ण 'प्रेमी' के "रक्षाबन्धन" नाटक में वीर जवाहरबाई और रानी कर्मवती राज्य कार्य में कितनी निपुण हैं । जवाहरबाई युद्ध करते-करते वीरगति को प्राप्त होती हैं । कर्मवती में इतना साहस कि वह प्रत्येक को रक्षा के झंडे के नीचे एकत्र किए[4] रहती है । राजनीतिक दूरदर्शिता हुमायूं को भाई बनाने के लिए प्रेरित करती है ।

महावीर वेणुवंश के "परखा" नाटक में जानकी एवं मालती भी नारी वर्ग को जागृत करने[5] का संकल्प करती है । सार्वजनिक स्थल पर दिए गए उनके वक्तव्य इसके प्रमाण हैं । नाटककार उदयशंकर भट्ट की सुधा और परमाल मात्र महलों तक ही सीमित नहीं रहतीं, वे देश को, विपत्ति के दिनों में सहायता प्रदान करती हैं । वे सोचती हैं--" --- क्या, करने का भार पुरुषों के हिस्से में ही आया है --- क्या परतन्त्रता के दुःख से केवल पुरुषों को ही

---

१ जयशंकर "प्रसाद" : "चन्द्रगुप्त नाटक", १९३१ई०, पृ०९३, अंक१-८

२ चन्द्रशेखर पाण्डेय : "कराळक", १९३३ई०, पृ०१०९, अंक२, दृश्य४

३ रामनरेश त्रिपाठी : "जयन्त", १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०३७, अंक२, दृश्य१

४ हरिकृष्ण 'प्रेमी' : "रक्षाबन्धन", प्र०सं०, पृ०३५, अंक१, दृश्य६ , १९३४ई.

५ महावीर वेणुवंश : "परखा", १९३६ई०, पृ०५३-५६, अंक१, सीन ८

दु:ख होगा, स्त्रियों पर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ेगा? नहीं बहन, अब हमें उठना होगा[1]। इस कथन से उनकी मानसिक उन्नति का विकास मालूम पड़ता है। नारी कितनी सचेत है। उसने अपने सार्वजनिक जीवन की आवश्यकता महसूस की है। युद्ध में घायलों की सेवा का भार परमाल के नेतृत्व में रहता है, और पूर्ण युद्ध में लड़ती है।

नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से नारी में देश-सेवा की भावना प्रकट दिखाई है। राजनीति में उसने भी अच्छी भूमिका निभाई है। "प्रतिशोध" नाटक में विजया युद्ध के समय घूम-घूम कर देश में जागरण की लहर फैलाती है। देश के लिए अपने प्रेम का भी त्याग करती है। बलो दीवान के प्रति अपने प्रेम को गुप्त रखती है, जिससे वह अकर्मण्य न बन जाय। जब बलदिवान् शत्रु से घिर जाता है तो उस समय वार को रोकने के प्रयत्न में अपने को बलि दे देती है[2]। प्रो० सत्येन्द्र के 'जीवन-यज्ञ' में नारी जाति भी लोकहित के कार्य में संलग्न है। गुजरात राज्य में औदों का प्रतिनिधित्व करने वाली नारी जसुमा[3] है, जो अपनी मेहनत से राज्य में एक बहुत बड़े तालाब का निर्माण कार्य करवाती है। जयदेव की पत्नी वीरमती भी उसे उस कार्य में सहयोग देती है। रानी होकर भी राह चलते मजदूरों को भी सहायता देती चलती है[4]। लोकसेवा उनके जीवन का लक्ष्य है।

नारी समाजसेवी रूप में अधिक आई है। श्रीरामचन्द्र वर्मा[5] की लता पिता की मृत्यु के बाद स्त्री-समाजसेवी बन जाती है। गांव में स्त्रियों के उत्थान के लिए प्रयत्न करती है। वह एक स्त्री समाज की व्यवस्था करती है और उसको हर

---

१ उदयशंकर भट्ट : "दाहर अथवा सिन्ध पतन", १९३९ई०, द्वि०सं०, पृ०८५, अंक३दृश्य३
२ हरिकृष्ण 'प्रेमी' : "प्रतिशोध", १९३७ई०, प्र०सं०, पृ०१३५, अंक ३, दृश्य ६
३ प्रो० सत्येन्द्र : "जीवनयज्ञ", प्र०सं०, पृ०७२, अंक२, दृश्य२, प्र० काल ?।
४ वही, पृ०३६, अंक २
५ श्री रामचन्द्र सक्सेना : "लता", प्र०सं०, पृ०५४, अंक ३ दृश्य३

तरफ क्रियाशील बनाने का यत्न करती है । पुरुषोत्तम महादेव वैद्य की सुश्री सुमति सत्याग्रह संग्राम में[1] कार्य करती है । नारी ने राजनैतिक आन्दोलन में अपनी जितनी सक्रियता दिखाई, वह नाटककारों से छिपी न रही । समाज और देश के प्रति अपने कर्तव्य को समझने वाली सुमति हर परिस्थिति के लिए तैयार रहती है । मोहन उससे कहता है-- " --- तुम अपने अध्ययन के बल पर तुम आज विदुषी बनी हो। सत्याग्रह संग्राम में की हुई अपनी अथक[2] देश-सेवा के बल पर तुम आज भारतीय स्त्री-समाज की ललामभूत बनी हो बहन --- ।" उदयशंकर भट्ट की उमा एक नवयुवती सार्वजनिक सेवा का व्रत ले लेती है । गांव में अज्ञानता को दूर करना उसका प्रमुख प्रयत्न है । बूढ़ों, स्त्रियों एवं बच्चों सभी में शिक्षा का प्रचार करती है । उन्हें स्वच्छता का पाठ पढ़ाती है । गांव का एक किसान स्वयं कहता है-- "--- उमा देवी को देखिये, उनके प्रभाव से सारा[3] गांव कुछ-का-कुछ हो गया है । लिपे-पुते, साफ-सुथरे घर देख पड़ते हैं ---- ।"

नाटककार विष्णु के "हत्या के बाद" नाटक में शीला और प्रमिला दोनों का लक्ष्य दीन-दुःखी की सेवा करना है । शीला उस दल का प्रतिनिधित्व करती है, जो शोषितों के उद्धार के लिए शोषक वर्ग का विरोध करते हैं । पूंजीवादी वर्ग का धन लूटकर उसे गरीबों में बांटना है । वह स्वयं एक अमीर की[4] हत्या कर देती है । लेकिन इस घटना के बाद ही उसे अपनी शक्ति के ध्वंसात्मक उपयोग का आभास होता है और वह उसका उपयोग अन्य लक्ष्य से करने को सोचती है । जनसाधारण की सेवा में अपने जीवन भर वह लगी रहना चाहती है । उसकी नन्द प्रमिला भी सेवापरायण है, लेकिन वह अपनी सेवा कार्यों के लिए हत्या आदि नहीं करती । वह दीन-दुःखी की परिचर्या बड़े ही कोमल भाव से करती है । नन्द पिता से कहता[5] है, --" --- वह मुक्त है । हर काम के पीछे मूर्तिमयी शक्ति की तरह जागरूक है --- ।" हत्यारे की सेवा करने

---

1 Man Mohan Kaur- Role of women in the freedom Movement, Ist. edition 1968.

2 पुरुषोत्तममहादेव वैद्य : "आहुति", १९३८ई०, प्र०सं०, पृ०५०, अंक२, प्रवेश २

3 उदयशंकर भट्ट : "कमला", १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०३६, अंक२ सीन १

4 विष्णु : "हत्या के बाद", मई १९३९ई०, "हंस" में प्रकाशित, पृ०३८दृश्य३

5 वही, पृ०४१, दृश्य ५

से भी नहीं चूकती --[1] ' ---- सेवा मेरा व्रत है । हत्यारे की सेवा भी मैं करूँगी ----।" उसकी सेवा में भय का कोई स्थान नहीं है । शीला के ही दल की कामरेड पुष्पा पर श्रमजीवी संघ का पूरा भार है[2] । कहने का तात्पर्य यह कि नारी में जन-साधारण के प्रति पूर्ण जागरूकता है ।

'सरोजा का सौभाग्य' नाटक में नाटककार ने नारी को शक्ति प्रदान की है, जहां वह समाज के विरुद्ध खड़ी होकर भी लड़ सकती है । श्यामा, सरोजा दोनों चुनाव में खड़ी होती हैं और मेम्बर चुन ली जाती हैं । धनानन्द इस विजय की घोषणा करते हुए समाज की नृशंसता को मानों चुनौती सी देते हैं[3] । इसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा के 'राखी की लाज' नाटक में चम्पा एवं करीमन, गांव में फैली बीमारी में पूरा सहयोग देती हैं[4] । वस्तुत: नाटककारों ने गांव में भी नारी को जन-साधारण कार्य में लगाया है । सेठ गोविन्ददास ने दुर्गा और जहांनारा को राजनीति में प्रवेश कराया है । तथा उनसे कौम की समस्याएं सुलझवानी चाही हैं । दुर्गा कहती है--" ---- संसार के सामने यह सिद्ध करना चाहती हूं कि हिन्दू धर्म से महान धर्म, हिन्दू संस्कृति से बड़ी संस्कृति, अन्य कोई नहीं[5] ।" श्री नारायण विष्णु जोशी की शारदा राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाली है । वह प्रसिद्ध महिला कार्यकर्ता है। देश के प्रति अपनी जिम्मेदारी को समझती है । भण्डारी शारदा के लिए कहता है--" ---- शारदा बेन कोई कम हस्ती नहीं है । इस शहर की तो वे सबसे बड़ी महिला कार्यकर्ता हैं ही लेकिन तमाम हिन्दोस्तान की औरतों में उनकी धाक है[6] । ठेठ क उस महिला महासभा तक में उनकी अच्छी खासी चलत है---- ।" पूंजीवादी वर्ग के विरुद्ध वह मजदूर वर्ग के आन्दोलन में पूरा सहयोग देती है । शारदा चन्द्रभागा से कहती है -- '----हम

----

१ विष्णु : 'हत्या के बाद',पृ०४२, दृश्य ५

२ वही, पृ०३८,दृश्य ३

३माध्याचार्य रावत : 'सरोजा का सौभाग्य',१९५२,पृ०६६,दृश्य १६

४वृन्दावनलाल वर्मा : 'राखी की लाज',१९४३ई०,प्र०सं०,पृ०५५,अंक२,दृश्य३

५सेठ गोविन्ददास : 'पाकिस्तान',१९४६ई०,प्र०सं०,पृ०८१,अंक२,दृश्य२

६श्रीनारायण विष्णु जोशी : 'वकील साहब',१९४७ई०, प्र०सं०,पृ०२५,अंक१

डाकुओं के डेरों को आग लगाने के लिए । अब हमें भी आगे बढ़ना होगा --- ।"[1]
उसके इस कथन में कितनी दृढ़ता है , कर्मठता है ।

चतुरसेन शास्त्री की चन्द्रकुमारी मर्यादा के आगे किसी भी चीज़ को महत्व नहीं देती । उसका पति महाराजा अजीत सिंह अपने राजपूती शौर्य को भूल जाने के कारण किले की रक्षा से मुंह मोड़ लेता है ।लेकिन रानी अकेले किले की रक्षा करने में सन्नद्ध है । स्पष्ट है कि नाटककार नारी को परिस्थितिवश वीर भी पकड़वाना चाहता है । वह कहती है--" --- हम वीर-पुत्री और वीर वधु हैं । हमारा स्त्रीत्व इन क्षुद्र बन्धनों को स्वीकार करने को तैयार नहीं है । आप --- जाइये । हम अकेली ही ठाकुर राठौरों की आन की रक्षा करेंगी[2] । नारी की दृढ़ता प्रशंसनीय है ।

आलोच्यकाल की अन्तिम सीमा तक तो नारी के क्षेत्र काफी विकसित हो गए थे, उसका हर क्षेत्र में प्रवेश हो गया था । वृन्दावनलाल के वर्मा ने गोदावरी को डाक्टर के रूप में नारी की महत्ता को दिखलाया है । वह लेडी डाक्टर समाज-सेवा का व्रत ले लेती है । दीन-दु:खियों की सेवा, उसका प्रधान धर्म है ।[3] स्त्री-आन्दोलन, मिल-मजदूरों सभी के लिए अपना सहयोग देने के लिए तैयार रहती है । इसके विपरीत वर्मा जी अपने "झांसी की रानी" नाटक में एक बार फिर नारी को वीर वेश में देखना चाहते हैं । रानी लक्ष्मीबाई का व्यक्तित्व हर नारी के लिए एक प्रेरणा है । नाटक में लक्ष्मीबाई आते ही अपने राज्य की स्त्रियों को शस्त्र-विद्या सिखाना आरम्भ करती है । एक स्त्रियों की सेना अलग बनाती है । उसका मन्तव्य है कि जब तक अपनी रक्षा करना न सीख लें तब तक पुरुष पुरुष नहीं बन सकते[4] । दोनों का प्रयत्न ही स्वराज्य प्राप्त कर सकता है । दासता से

---

1 श्री नारायण विष्णु जोशी : "वकील साहब", १९४७ई०,प्र०सं०,पृ०७५,अंक२
2 चतुरसेन शास्त्री : "अजीत सिंह", १९४९ई०,प्र०सं०,पृ०१०५,अंक३,दृश्य६
3 वृन्दावनलाल वर्मा : "बैबट", १९५२ई०,प्र०सं०,पृ०१९,अंक१,दृश्य२
4 वृन्दावनलाल वर्मा : "झांसी की रानी", १९५२ई०,द्वि०सं०,पृ०४७,अंक२ दृश्य १

स्वतन्त्र होने के लिए भारत को वास्तव में नारी सहयोग की पूर्ण अपेक्षा थी । रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेजों के विरुद्ध स्वयं युद्ध-मैदान में अवतरित हुई । वह कहती है--" ---- मैं लड़ूंगी । समाज और स्वराज्य के लिए जिऊंगी । आज सब के सामने प्रण करती हूं कि यदि समस्त अंग्रेजों का मुझको अकेले ही सामना करना पड़े तो करूंगी, करती रहूंगी ।"[1] स्वराज्य के लिए वह अपने जीवन का उत्सर्ग कर देती है, और समस्त नारी जाति के लिए एक आदर्श छोड़ जाती है ।

इस प्रकार आलोच्यकाल में नाटककारों ने नारी को सार्वजनिक कार्यों में प्रवेशित कराया है । उसमें उसका देशसेविका एवं समाज सेविका यह दो रूप ही अधिक प्रभावशाली हैं । इसके लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अधिक काम्य रही है, क्योंकि वह एक सबल प्रेरणास्रोत है ।

---

१ वृन्दावनलाल वर्मा : "झांसी की रानी", १९५८ ई०, द्वि०सं०, पृ०१०८, अंक४, दृश्य ७ ।

अध्याय --११ :

नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व

अध्याय -- ११

नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व

पुनर्जागरण-काल में नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व अनेक पक्ष-विपक्ष की धारणाओं से ग्रसित था । नारी का व्यक्तित्व, समाज-सुधारकों, नेताओं सभी के लिए एक आकर्षण का विषय था । वस्तुत: भारतीय इतिहास के वैदिक युग में नारी को स्वतन्त्रता प्राप्त थी[१] । व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तो थी ही, पर साथ में आर्थिक स्वतन्त्रता में भी कोई विशेष बाधा न थी, क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों को जीवन में समानाधिकार प्राप्त था । लेकिन मध्ययुग में आकर नारी का व्यक्तित्व अत्यन्त संकुचित सीमाओं में बद्ध हो गया था । समाज में उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा नहीं थी । आर्थिक दृष्टि से तो वह पूर्णतया पुरुष के अधीन थी । नारी की इस पराधीन अवस्था का परिणाम[२] पुनर्जागरण-काल में समाज-सुधारकों ने महसूस किया और दूसरों को कराया है । उस समय महसूस किया गया कि परिवार, समाज, देश एवं राष्ट्र की वास्तविक उन्नति तभी हो सकती है, जब कि स्त्रियों को पराधीनता के दायरे से निकाला जाय, उन्हें सचेत किया जाय । उनका व्यक्तिगत स्वतन्त्र होना आवश्यक है, जिससे वे जीवन के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण रख सकें और पुरुषों को सहयोग दे सकें । न केवल समाज-सुधारकों एवं राजनीतिज्ञों

---

१ Prof. Indra. The status of women in Anc. India Ist. edition 1940.
J.B. Chaudhuri. Women in Vedic ritual. 2nd Edition 1956.

२ G.P. Upadhyaya . Origin, Scope and mission of the Arya Samaj.
Tara Chand. History of the Freedom Movement in India. 2nd edition 1954.
Nemai Sadhan Bose. The Indian Awakening & Bengal . 1960.
Lajpat Rai. A History of the Arya Samaj.

ने ही वरन् प्रसुप्त नारी भी सचेत हुई । उसने महसूस किया कि केवल पर्दे के भीतर, मन्दिर में स्थापित पाषाणी प्रतिमा अथवा देवी रूप में ही उसे नहीं रहना है । वरन् अपने अधिकारों को प्राप्त कर, सामाजिक सम्मान के साथ उसे जिन्दगी व्यतीत करनी है । उसे जागरूक, सचेत मानवी बनना है । तभी उसके जीवन की सार्थकता है, अन्यथा पाषाणी प्रतिमा के समान निर्जीव रहने से क्या ? उसने जब अतीत पर दृष्टि डाली तो उसे लगा कि स्वयं को आमूल सुधारना होगा और आगे दृष्टि डाली तो लगा कि बहुत परिवर्तन लाने हैं । क्योंकि समय की दौड़ में वह पीछे रह गई है । उसके सामने सामाजिक विषमताओं की ऊबड़-खाबड़ जमीन है, जिसपर यदि चलना है तो पहले उसे ठीक करना पड़ेगा समतल करना पड़ेगा । उसमें कुछ नवीनता लानी पड़ेगी, वह भी ऐसी जो पहले में मिलकर एक हो जाय । इसी समन्वय के बल पर वह अपने स्वस्थ जीवन का निर्माण कर पायेगी । अत:नारी के इस व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर का यह जागरण साहित्य का भी विषय बना । हमारे आलोच्यकाल के नाटककारों ने नारी जीवन को स्वतन्त्रता प्रदान की है,वे उसे मात्र कुण्ठाओं में ही नहीं जीने देना चाहते । लेकिन नारी जिस त्वरा के साथ खुले रूप में समाज के,देश के सम्मुख आई और राष्ट्रीय आन्दोलन में उसने पूरी भूमिका निभाई,उसमें एक मोड़ ऐसा आ गया-- जिसने यह सोचने के लिए विवश किया कि नारी स्वतन्त्रता उचित है या नहीं । कारण नारी-जागरण के बाद,उस पर पाश्चात्य प्रभाव इतनी तेजी से पड़ने लगा कि नारी का अधिकांश जीवन उसी पाश्चात्य जीवनयापन प्रणाली में ही अपना मार्ग देखने लगा । भारतीय समाज पाश्चात्य जीवन की नकल को सहन न कर सका । फलत: आलोच्यकाल के आरम्भ में तो नारी के व्यक्तित्व को उन्मुक्त रूप में देखने का प्रयत्न अवश्य है, लेकिन बाद में नारी के इस पाश्चात्य प्रभावपर भी कहीं,कहीं व्यंग्यात्मक दृष्टि डाली गई है ।

आलोच्यकाल के नाटकों की अग्रिम सीमा पर हमारे नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी नारी के शोचनीय व्यक्तित्व को महसूस किया और उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की कि हमारी[१] भारतीय नारी -पाश्चात्य नारी की तरह क्रियाशील रहे तो अधिक अच्छा है । "नील देवी" नाटक है के आमुख में उन्होंने जो लिखा है,उससे

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : "नीलदेवी",१८८१,भा०ना० (आमुख)

स्पष्ट है कि वे पाश्चात्य नारियों के लज्जाहीन स्वतन्त्र व्यक्तित्व को तो नहीं चाहते, लेकिन जीवन में अपने समाज की नारियों को उनके समान सजग अवश्य करना चाहते हैं, जिससे वह घर को सुचारुरूप से चला सकें। संतान को शिक्षित कर देश को उन्नत करें, अपना स्वत्व पहचानें। वे केवल पराधीन होकर हर स्थिति, हर कार्य के लिए पुरुष पर अचेतन मन से निर्भर न रहें। नाटक में चित्रित नील देवी का समर्थ व्यक्तित्व भारतेन्दु की इस अभिलाषा का प्रतिफलन है। डा०रामविलास शर्मा लिखते हैं कि उनकी मूल समस्या नारी की स्वाधीनता नहीं, भारत की पराधीनता है[1]। वस्तुत: संश्लिष्ट दृष्टि से देखें तो ये दोनों समस्याएं एक दूसरे में जुड़ी हुई प्रतीत होंगी। भारत की पराधीनता में किस तरह नारी की पराधीनता भी एक कारण है-- नाटककार यही यह कहना चाहता है। नारी देशोन्नति में किस प्रकार सहायक हो सकती है, इसका अच्छा उदाहरण नीलदेवी प्रस्तुत करती है।

कुछ नाटककारों ने नारी के प्रति मध्ययुगीन विचारकों की कटु संकीर्ण दृष्टि का ही समर्थन कर नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की सत्ता नहीं स्वीकार की है। पौराणिक सन्दर्भों को अपने नाटक का विषय बनाने वाले नाटककार राधेश्याम कथावाचक ने नारी को किसी न किसी के अधीन रखा है। उनकी दृष्टि में नारी की स्वतन्त्रता उसे बेराह कर देती है। श्रवणकुमार की पत्नी विषादेवी इसी आदर्श से प्रेरित है। वह सास-श्वसुर एवं स्वामी की आज्ञा के बिना कहीं जा नहीं सकती, क्योंकि स्त्री कभी स्वतन्त्र नहीं है। पिता, पति एवं पुत्र के बन्धनों में नारी सदैव बद्ध है[2]। सम्भवत: नाटककार समाज को स्वतन्त्र नारी के द्वारा अव्यवस्थित नहीं करना चाहता है। जैसा कि इसी नाटक में चित्रित कमेली का जीवन है। कमेली ने अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के कारण सम्पूर्ण घर को तो बरबाद किया ही, फिर आत्मघात कर लिया[3]। इसी प्रकार बलदेव प्रसाद खरे के "सत्यनारायण" नाटक में स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को संदिग्ध दृष्टि से देखा गया है। लड़की का कहीं अकेले चले जाने पर माता-

---

१ डा० रामविलास शर्मा : 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृ०१४५

२ राधेश्याम कथावाचक : 'श्रवणकुमार' १९१६, प्र०सं०, पृ०५२, अंक१, सीन ४

३ वही, पृ०१०५ ४, अंक २, सीन ४

पिता को चिन्ता हो जाती है कि कहीं कोई बुरा न कह दे । कलावती पिता एवं पति के विदेश चले जाने पर जब अकेली सत्यनारायण की कथा सुनने चली जाती है, तो उसके इस कार्य से उसकी माँ अत्यन्त चिन्तित हो जाती हैं । वह अपनी पुत्री कलावती से क्रोध में कहती है--" बस, रोज मनमाना घूम-फिर आया करो और क्षमा माँग लिया करो । यह नहीं सोचती कि संसार क्या कहेगा ।[1] "समाज सदैव कन्या को किसी-न-किसी संरक्षण से युक्त देखना चाहता है । नाटककार गोपाल दामोदर तामसकर ने भी नारी की उस स्वतन्त्रता का समर्थन नहीं किया है, जिसमें पुरुष के पुरुषत्व को चुनौती दी गई है । "राधामाधव अथवा कर्मयोग" में रमा एक ऐसी ही आधुनिक नारी है । वह सम्पूर्ण संसार की उन्नति के मूल में स्त्रियों को रखती है[2] । लेकिन नाटककार ने उसे राधा के माध्यम से स्त्री की सीमा बतलाई है --" ---- इस जगत् में स्त्री और पुरुष ये दोनों शक्तियाँ अवश्य हैं, पर इनमें से पुरुष प्रधान् है । दोनों शक्तियाँ बराबर हों, पर स्त्री को पुरुष के अधीन रहना ही चाहिए ।[3]"

वास्तव में नाटककार ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तित्व के द्वारा स्त्री-पुरुषमें विरोध उत्पन्न नहीं करना चाहता, क्योंकि आपस के झगड़े में सम्पूर्ण शक्ति ही नष्ट हो जायगी । केशव, रमा को यही समझाता है[4] । अन्त में वह अपने भूल को भाँप जाती है । हरिशरण मिश्र के "भारतवर्ष" नाटक में नारी की स्वतन्त्रता को गृह विनाश का प्रमुख कारण बताया गया है । नारी के लिए स्वतन्त्रता वहीं तक उचित है, जहाँ तक कि वह कर्तव्यच्युत न होवे । सेठ करोड़ीमल युग के प्रभाव से बेटे के लिए अप-टू-डेट बहू चाहते हैं, लेकिन उनकी पत्नी चम्पा उनसे स्पष्ट इन्कार कर देती है," नारी की देख-रेख के बिना घर के सभी प्रबन्ध मिट्टी में मिल जाते हैं[5] ।"

---

१ कल्वेमप्रसाद खरे : "सत्यनारायण", १९२२ई०, प्र०सं०, पृ० , अंक २, दृश्य ७

२ गोपालदामोदर तामस्कर : "राधामाधव या कर्मयोग", १९२८ई०, पृ०१४अंक१, दृश्य ३

३ वही, पृ० १५, अंक१, दृश्य ३

४ वही, पृ०१७, अंक१, दृश्य ३

५ हरिशरण मिश्र : "भारतवर्ष", १९२०ई०, पृ०७१ , वर्तमानांक तृतीय।

नारी की स्वतन्त्रता गृह विनाश का मुख्य कारण है[1]। स्पष्ट है कि नाटककार उस स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विरोधी है,जो पाश्चात्य स्वतन्त्र जीवन का प्रतिरूप है। वैसे ही नाटककार उमाशंकर सरमण्डल नारी के कर्तव्य निष्ठा से समन्वित स्वतन्त्र व्यक्तित्व की अभ्यर्थना करते हैं। काली नामक नारी-पात्र में स्वतन्त्रता के लिए एक तीव्र उद्वेग है, जिसके कारण वह विसक तक बन जाती है। --" मैंने अपने पति को ज़हर देकर क्यों मारा। स्वतन्त्र होने के लिए।"[2] अकेले रहने की यह नारी की व्याकुलता नाटककार को अभीप्सित नहीं। वह तो चंचला और चपला जैसी नारियों के व्यक्तित्व को मान्यता देता है। उसने इन दो नारियों के ऊपर उनके पति द्वारा जो व्यर्थ के प्रतिबन्ध लगे थे, उन्हें हटा दिया। उन्हें उन बन्धनों से स्वतन्त्र अवश्य किया, लेकिन इन नारियों ने अपने कर्तव्यों को भुलाया नहीं। जीवन के प्रति वह और अधिक सजग हुई। चपला कहती है--" ---- पढ़ने लिखने से जिन औरतों की आँखें खुल गई हैं, वे सदैव सोच-विचार कर स्वतन्त्रता पूर्वक[3] पति की आज्ञा मानते हुए तथा उनको प्रसन्न रखकर कार्य करने की चेष्टा करेंगी -- ।" नारी की स्वच्छन्दता मर्यादा के भीतर ही उचित है।

नारी जब अपनी स्वतन्त्रता के लिए व्यग्र हो उठी, उस समय पुरुष ने भी उस पर अपने अधिकार न खोने देना चाहा, फलत: संघर्ष की भूमिका आवश्यक हो गई। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में नारी की यह समस्या अत्यन्त प्रमुख रूप में आयी है। "सन्यासी" नाटक में मालती और किरणमयी अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग हैं। नाटककार ने शिक्षिता मालती को अपने विषय में खुद निर्णय लेने का अधिकार दिया। प्रेम और विवाह इन दो क्षेत्रों में नारी स्वतन्त्र होने के लिए अधिक व्यग्र है। विवाह में उसने अपने मूल्य को दिखाना चाहा है। उसे भी पुरुष की तरह अधिकार है कि वह जहाँ चाहे विवाह करे।[4] नारी की शिक्षा ने उसको आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र ह तो कर ही दिया है, पर समाज से उसने वैयक्तिक

---

1 हरिचरण मिश्र : "भारतवर्ष", १९२७ई०, पृ०७१ ,वर्तमानांक तृतीय
2 उमाशंकर सरमंडल : "अनोखा बलिदान", १९२८ई०,प्र०सं०,पृ०८९,अंक२,पर्दा१२
3 वही, पृ० ७७,अंक १, परदा ८
4 लक्ष्मीनारायण मिश्र : सन्यासी, १९२९, प्र.सं., पृ. १५१, अंक ४।

स्वतन्त्रता भी प्राप्त कर ली है । किन्तु किरणमयी का जीवन अपने विवाह से सन्तुष्ट नहीं । वृद्ध दीनानाथ के बन्धन उसे स्वीकार नहीं । वह स्पष्ट कहती है, "---- लेकिन मैं पिंजड़े में नहीं रह सकती । मैं तुम्हारा विश्वास करती हूं । तुम मेरा विश्वास करो । तुम इधर-उधर मित्र और मेमों से मिला करते हो मुझे भी अपने मित्रों से मिलने दो ---- ।"[1] किरणमयी स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जाने के लिए व्यग्र है । वह अपने सामाजिक जीवन को बढ़ाना चाहती है । नारी के प्रति पुरुष का अविश्वास भाव उसे सह्य नहीं । डा० सोमनाथ गुप्त लिखते हैं कि मिश्र जी के नाटकों में नारी की समस्या प्रधान है" --- संसार में अपना व्यक्तित्व बनाने के लिए क्या अधिकार मिलना चाहिए और कैसे ? पुरुष का उसपर किस प्रकार अधिकार होना चाहिए और क्यों? मालती और किरणमयी की अवस्थाओं से उन्होंने इन पहलुओं पर प्रकाश डाला है --- भावुकता एक आवरण है,जिसे बुद्धि और विचारों द्वारा अलग कर देना चाहिए ।"[2] वास्तव में पुरुषों के पुरुषत्व से मुक्ति के लिए व्यग्र नारी की समस्या, सम-सामयिक समाज के लिए एक प्रमुख चिन्ता का विषय हो गई । नाटककार जमुनादास मेहरा की रमा समाज के बन्धन से अत्यन्त असन्तुष्ट है । नारी जीवन के बन्धनों का नाश हो जाए, ऐसा वह चाहती है--" --- स्त्रियों के लिए जो धर्म के कठिन बन्धन हैं, उन्हें जड़मूल से मिटा दो । स्त्रियों को भी पुरुषों के समान स्वतन्त्र और स्वार्थी बना दो । ---- ।"[3]

नारी की पराधीनता में रखकर समाज ने उस पर अनेक तरह के अन्याय किए । बलदेवप्रसाद मिश्र के नाटक "समाज-सेवक" में करुणाशंकर की कन्या राधा एक समाज-पीड़िता है,ठोकर खाने के बाद पूर्णरूप से चैतन्य होती है और सम्पूर्ण नारी समाज को स्वतन्त्र होने के लिए आवाज देती है--" ---- भारतीय नारियों,अपनी रक्षा के लिए[4] पुरुषों द्वारा उनके सतीत्व भंग की घटनाएं बहुत अधिक बढ़ा दीं । कराल नाटक में सत्यवती ने पिता कभी समर्थन नहीं किया । उसने विद्रोह

---

1 लक्ष्मीनारायण मिश्र : "सन्यासी", 1929ई०, प्र०सं०, पृ०८९, अंक२

2 डा० सोमनाथ गुप्त : "हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास", पृ०२१७, पृ०सं०१९५१

3 जमुनादास मेहरा : "जवानी की भूल", 1932ई०, प्र०सं०, पृ०४०, अंक२, दृश्य १

४. बलदेवप्रसाद मिश्र : समाजसेवक । 1933, पृ. 137, अंक ५ दृश्य २।

किया है --" ----- विजयसिंह मेरा पिता है तो क्या, स्त्री घातक है ---- उस अन्यायी के विरुद्ध आवाज उठाना और उसके अत्याचार को मिट्टी में मिलाना अपना धर्म[1] है ---- मैं भी सदियों से परतन्त्रता में जकड़ी हुई स्त्रियों में जागृति उत्पन्न करती हूं।"

नाटककार जयशंकर "प्रसाद" ने भी प्राचीनता की ओट में समस्त समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनकी ध्रुवस्वामिनी भी नारी की वह आवाज़ है, जिसके अन्दर कापुरुषत्व से मुक्त होने की बेचैनी व्याप्त है। डा० प्रेमलता अग्रवाल[2] लिखती है--" वह स्वशक्ति से परिचालित स्वतन्त्र व्यक्तित्व की नारी है ---।" "प्रसाद" ने नारी चेतना का ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व के माध्यम से पूर्ण समर्थन किया है। रामगुप्त का अनैतिक व्यवहार और उसका द्वेषयुक्त का पुरुषत्व ध्रुवस्वामिनी को विरोध करने के लिए बाध्य कर देता है। ध्रुवस्वामिनी सोचती है कि पराधीनता की एक परम्परागत नारी के नस-नस में,[3] चेतना में न जाने किस युग से घुस गई है, उन्हें समझ-बूझकर भी भूल करनी पड़ती[4] है। लेकिन पुरोहित द्वारा उसको स्वतन्त्र होने का पूरा अधिकार दिया जाता है। वह एक ऐसी नारी है, जो पति के प्रेम से वंचित है, प्रेमी तक पहुंचने में असमर्थ है और अन्तःपुर की दीवारों के अन्दर एक बन्दी की तरह निरीह जीवन व्यतीत करती है। फिर भी साम्राज्ञी पुकारी जाती है। अपनी इस स्थिति में वह दयनीय पात्र बनकर निष्क्रिय नहीं रहती है। वरन्, "परिस्थितियों ने उसके चरित्र का निर्माण किया[5] है और उसने उन परिस्थितियों पर अधिकार प्राप्त कर उन्हें अपने अनुकूल बनाया है।" इस प्रकार नारी और समाज के संघर्ष की तह में छिपी शाश्वत समस्याएं नाटककार ने बड़ी सफलता के साथ चित्रित की हैं।

भारतीय नारी[6] के समान पाश्चात्य नारी भी पहले पराधीन एवं अधिकारहीन थी, लेकिन जानस्टुअर्ट मिल जैसे विचारकों के नेतृत्व में आवाज उठाने पर

---

१ चन्द्रशेखर पाण्डेय : "करालचक्र", १९३३ई०, पृ०६-७, अंक१, दृश्य१

२ डा० प्रेमलता अग्रवाल: "हिन्दी नाटकों में नायिका की परिकल्पना", पृ०१९९, १९६९ई० प्रथम संस्करण।

३ जयशंकर "प्रसाद" : "ध्रुवस्वामिनी", १९३३ई०, प्र०सं०, पृ०५५ अंक३

४ वही, पृ०६३, अंक३ ...

बहुत कुछ सफलता भी उसे प्राप्त हुई थी । इसी प्रकार आज की नारी भी अपने स्वत्व को पाने के लिए व्यग्र है । आज की नारी एक नया समाज निर्माण करने को प्रोत्साहित है । "राजयोग" नाटक में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने आधुनिक सभ्य सुशिक्षित तथा फारवर्ड समाज की समस्या उठायी है, जहां वैभव और ऐश्वर्य तो है, किन्तु मानसिक संकीर्णता के कारण सम्पूर्ण जीवन कलहमय हो जाता है । चम्पा पढ़ी-लिखी नारी है । स्वाभिमानिनी है, वह पुरुष से दबना नहीं चाहती है । वह शत्रुसूदन को नारी-विद्रोह की सूचना देती है, " --- सैकड़ों हजारों वर्षों के बाद नारी की चीख अब कुछ सुनना चाहती है --- उसके अधिकार पर्वत फोड़कर नदी बाहर निकली है समतल भूमि में वह रोकी न जा सकेगी --- ।"[1] ठीक है स्त्री स्वतन्त्र हो रही है और होना भी चाहिए, लेकिन पुरुषत्व से कैसी स्वतन्त्रता । नाटककार की दृष्टि यही है कि प्रकृति कभी बदली नहीं जा सकती " --- नारी सुधार और नारी समस्या के नाम पर स्त्री पुरुष नहीं बनाई जा सकती --- ।"[2] नरेन्द्र द्वारा नाटककार उसे समझाता है कि समस्या तब तक नहीं सुलझ सकती जब तक कि स्त्री स्वयं अपना हृदय न बदल ले । आवेश त्याग कर परिस्थिति के साथ बुद्धि सम्मत समझौता करवाया है । वस्तुत: चम्पा भावुकता का अतिक्रमण नहीं कर पाई । भावुकता के कारण वह अपने प्रेमी नरेन्द्र को विस्मृत नहीं कर पाती है और यही कारण है कि सामाजिक नियमों में बंधी वह पति के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती । जिसे वह स्त्री की परतंत्रता बताती है और जिससे स्वतन्त्र होने के लिए आज का नारी व्यक्तित्व व्यग्र है । वस्तुत: भावुकता भावनाओं की चरम सीमा है । स्त्री एक बार किसी से प्रेम करके उससे वापस नहीं लौट सकती । यह उसके मन की विडम्बना कही जा सकती है । लेकिन दूसरा पहलू यह भी है कि यदि भावुकता पर अंकुश न रखा गया तो सामाजिक अनैतिकता व्याप्त होने का भय रहता है । समस्या अपने में जटिल है । भावुकता अपने मार्ग में सामाजिकता को जहां बाधक पाती है, वहीं उसका रोष प्रकट होता है । यही कारण है कि चम्पा नारी के व्यक्तित्व को समाज के इन नियमों से मुक्त करना चाहती है । यद्यपि अन्त में

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी ५-६)

५ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : "प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन", पृ०२००, २००७ई० तृ०सं०

६ जान स्टुअर्ट मिल : "स्त्रियों की पराधीनता", अनु०जगदीश्वरनाथ भट्ट, प्र०सं० १९१६ई०

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "राजयोग", १९३४ई०, प्र०सं०, पृ०७५, अंक२

२ वही, पृ०६२, अंक३

उसे बुद्धिसम्मत समझौता करना ही पड़ता है । इसी प्रकार एक अन्य नाटक 'सिन्दूर की होली' में भी यही समस्या व्याप्त है । यहाँ भी नाटककार भावुकतापूर्ण स्वतन्त्रता का पक्षपाती नहीं है । इस नाटक में चित्रित चन्द्रकला का व्यक्तित्व इसी कोटि का है । मनोरमा उसे समझाती है ---" ------ स्वतन्त्र स्त्रीत्व, आज दिन के नये विचार जो संसार को एकदम स्वर्ग बना देना चाहते हैं, उनमें से एक हैं, लेकिन इस नये स्वर्ग की कल्पना के मूल में कोई[1] आदर्श नहीं है, हाँ प्रवृत्तियों की घुड़दौड़ के लिए यह काफी मैदान दे देगा ।" नाटककार समाज के इर्द-गिर्द चलने में ही नारी व्यक्तित्व की उन्नति की बात करता है । लेकिन नाटक की नारी का अभिमान पूरी तरह सचेत है । चन्द्रकला स्पष्ट कह देती है कि वह अपनी व्यवस्था अपने-आप कर सकती है । वह अपने प्रेम के वैधव्य रूप को छोड़ने के लिए तैयार नहीं[2] । आज की नारी अपने स्थान पर दृढ़ है । उदयशंकर भट्ट की 'अम्बा' में नारी के व्यक्तिगत-स्वातन्त्र्य की समस्या का समावेश है । पुरुष से अपमानित होने पर अम्बा का नारीत्व पुरुष के अनाधिकार के प्रति विद्रोह कर उठता है । पुरुष के आंखों के इशारे पर नाचने वाली दीन[3] स्त्री की शक्ति ही क्या ? इस स्त्री जाति के अपमान से ही समूचे भारत का नाश होगा ? विद्रोहिणी अम्बा में आज की जागृत नारी का पूर्णतया आकलन किया गया है । यद्यपि नाटक का कथानक महाभारत काल का है, लेकिन नाटककार ने उसमें आज के मंत्रों द्वारा उसमें प्राण प्रतिष्ठा अवश्य की है । नाटक का केन्द्र पुरुष का अतिरिक्त अधिकार अर्थात् भीष्म और उसकी परिधि पीड़िता नारी है अम्बा । जिस भीष्म को पराजित करने वाला कोई न था वह एक नारी से पराजित हुआ तथा शरशय्या पर शयन करना पड़ा । मानो नाटककार नारी चेतना की सफलता का भविष्य चित्रित कर रहा हो । है भी अन्याय, एक बार तो भीष्म द्वारा हरण की गई और दूसरी बार शाल्व द्वारा भरे दरबार में तिरस्कृत होती है । अतः वह अपनी समस्त प्रताड़ना के प्रतिनिधि पुरुष भीष्म से इसका बदला लेती है । नारी का प्रतिशोध एक ब जन्म में शान्त नहीं होता, दूसरे जन्म में भी प्रज्ज्वलित रहता है । अम्बा का प्रतिशोध नारी जागरण की चरम सीमा का मनोवैज्ञानिक सत्य है ।

१लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'सिन्दूर की होली', १९३४ई०, प्र०सं०, अंक१, पृ०६१
२वही, पृ०८६, अंक ३
३उदयशंकर भट्ट : 'अम्बा', १९३५ई०, प्र०सं०, पृ०८१, अंक ३

आधुनिक युग में मानव का जीवन-क्रम बदलता जा रहा है। आधुनिक शिक्षित युवक-युवतियों के जीवन में प्रेम सम्बन्धी अनेक प्रकार की रोमान्टिक धारणाएं घर करने लगी हैं। अस्थायी कल्पना की रंगीनियां, जो वास्तविकता की कठोर भूमि से टकरा कर चूर-चूर हो जाती हैं, उनके आकर्षण का केन्द्र हैं। आधुनिक सभ्यता की चकाचौंध में सेठ गोविन्ददास की रुक्मिणी समस्त भारतीय मान्यताओं को हवा में उड़ा देती है। विदेश से लौटी हुई वह एक आधुनिका है, जो पाश्चात्य जीवन-दर्शन को ही आदर्श मानती है। वेश-भूषा, आचार-व्यवहार सब में वह पाश्चात्य नकल की स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाली नारी है। उसकी सभ्यता कुर्सी के अतिरिक्त और कहीं नहीं बैठ सकती है। क्लब जाना, शराब पीना उसकी दैनिक क्रियाएं हैं। नारी के ऊपर पड़ने वाले इस पाश्चात्य प्रभाव के लिए नाटककार चिन्तित है। वह नहीं समझ पाता कि हमारा नारी समाज स्वतन्त्र होने के माध्यम से जीवन को क्यों बर्बाद कर रहा है। नारी के वास्तविक स्वतन्त्र व्यक्तित्व को नाटककार ने मनोरमा के रूप में सामने रखा है। वह कहती है," उस अधिभौतिकवाद को सर्वस्व मान लेने से क्या लाभ जहां मनुष्यत्व ही समाप्त हो जाता है, हर बात की तौल सिक्कों के अनुमान पर होती है। ---- जिस पुरुष और स्त्री समाज के स्वातन्त्र्य कीव तुम इतनी प्रशंसा कर रही हो, उस स्वातन्त्र्य ने ऐसा भयानक रूप धारण किया है कि सच्चे गार्हस्थ्य सुख का भी वहां पता नहीं है।[1] "वह पूर्व को न तो पश्चिम ही बनाना चाहती है, न वैसा कि वह है, वैसा ही उसे रखना चाहती है।[2]" भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़ियों की दासता को समाप्त करना चाहती है। पर ---- जिस प्रकार की स्वतन्त्रता आजकल पश्चिमी ढंग से पढ़ी-लिखी कुछ भारतीय रमणियां[3] ले रही हैं, वैसी स्वतन्त्रता तो मैं भारतीय स्त्री -समाज के लिए हितकर नहीं समझती।" नाटककार नारी के जीवन को उसके क्रिया-कलापों को समन्वय लक्ष्य से प्रेरित करना चाहता है। मिश्र के एक अन्य नाटक 'आधीरात' में भी मायावती स्वतन्त्रता का उपयोग न कर सकी।

---

१ सेठ गोविन्ददास : 'प्रकाश', १९३५ई०, द्वि०सं०, पृ०१०१, अंक २ दृश्य ३

२ वही, पृ०६३, अंक १, दृश्य ८

३ वही, पृ०१०५, अंक२, दृश्य३

पाश्चात्य नारी की ऊपरी चमक-दमक में लोई हुई वह न तो अपने दाम्पत्य जीवन को ही बना सकी, न सामाजिक जीवन को ही बना सकी । लेकिन दो प्रेमियों का नाश उसके अन्दर अपने उस व्यक्तित्व के ही प्रति वितृष्णा उत्पन्न कर देता है । वह कहती है --" नए युग के इन नए प्रयोगों का परिणाम अच्छा नहीं होगा --- अपनी स्वतन्त्रता की धुन में नई सभ्यता और नई रोशनी की चमक-दमक में आज अनुभव हो रहा है , मैं अंधी हो गई थी । पुरुष और स्त्री का द्वन्द्व, समानता का अधिकार पश्चिम की हवा है । यह हवा यहां पहुंचकर हमारे दाम्पत्य ,हमारे सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी समस्या हो रही है ।"[1]

इसके विपरीत जहां भी नाटककार ने यह महसूस किया है कि सामाजिक अन्याय नारी पर अधिक है, वहीं पर उसने किसी और की अपेक्षा स्वयं नारी को सबल किया है । "देव कन्या" नाटक में मेनका एक ऐसी ही समाज-पीड़िता है । चन्द्रशेखर उसे प्रेरित करता है --"स्त्रियां जब तक अपने को पुरुषों के समान न समझेंगी ----- अनाचार और दुराचार का अन्त न होगा ।"[2] मेनका अपने साहस अपनी मानसिक सबलता से ही राजराघव को परास्त कर अपने को मुक्त करती है ।"[3] चन्द्र त्यागी "चर्खा" नाटक में नारी को आर्थिक स्वतन्त्रता दिलाना चाहते हैं, जिसके लिए नारी को कुछ उद्योग करना पड़ेगा । यह घर-घर चर्खे का प्रचार करते हैं--" --- घर का सब काम पूरा करके फुरसत के वक्त कातने से जो कुछ मिलता है,वही नफा है ---- हमारे देश की मां-बहिनों को एक पैसे की कमी जरूरत होती है तो मर्दों के आगे हाथ,फैलाना पड़ता है ।"[4] मिश्रबन्धु ने भी कन्याओं को स्वतन्त्रता दी है । विवाह पूर्व धर्मवर्धन एवं राजकुमारी को बातें करते देख धर्मबोध बुरा नहीं मानते,वरन् वह कहते हैं-- " ---- मैं बालक-बालिकाओं की पूर्ण स्वच्छन्दता का पक्षी हूं । यही

----

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "आधीरात",१९३६ई०,द्वि०सं०,पृ०३१-३२,अंक१

२ श्रीकृष्ण मिश्र :" देवकन्या",१९३६ई०,प्र०सं०,पृ०८०-८१,अंक३,दृश्य५

३ वही,पृ०८२, अंक३, दृश्य ५

४ चन्द्र त्यागी : "चर्खा नाटक",१९३७ई०, प्र०सं०,पृ०१६,अंक१,पर्दा६

विचार मात्र ईशान के हैं।[1]"

उदयशंकर भट्ट की कमला एक सहृदया नारी है, लेकिन पति देवनारायण के बन्धनों से एवं उनके शक्की स्वभाव से परेशान है। देवनारायण उस रूढ़िवादी वर्ग के प्रतीक है, जो नारी को मध्ययुगीन नैतिकताओं में ही बंधा देखना चाहता है। कमला सोचती है कि वह बहुत दबी, अब वह न दबेगी[2]। वह स्वतन्त्र होना चाहती है, लेकिन स्वतन्त्रता का अपरूप उसे भी पसन्द नहीं। वह प्रतिमा की प्रवृत्ति से घृणा करती है। वह सोचती है--" यह प्रतिमा बड़ी अजीब स्त्री है। मैं स्त्री की स्वतन्त्रता में विश्वास करती हूँ उसके इधर-उधर ताकने-झांकने में नहीं ---[3]।" सामाजिक रूढ़ियों मात्र से वह छुटकारा चाहती है। अन्यथा देवनारायण के व्यर्थ बन्धन, जिस प्रकार कमला को आत्मघात के लिए विवश कर देते हैं, उसी प्रकार अन्य भी होती रहेंगी। लेखिका पद्मारानी लिखती हैं--" समाज की प्रत्येक समस्या को अपने में समेट कर "कमला" एक ऐसा नाटक बन गया है, जो चीख-चीख कर कह रहा है कि समाज के उन्नायकों को यदि "कमला" को आत्महत्या से रोकना है तो उसके जीवित रहने योग्य वातावरण का निर्माण करना होगा ---[4]।" भगवतीप्रसाद वाजपेयी की "कामना" बलराज की पत्नी है। बलराज एक साधारण अध्यापक है। वह अपनी पत्नी की वैभव की भूख को तृप्त करने में असमर्थ है। बलराज उसे अधिक आकांक्षा रखने से रोकना चाहता है तो वह उसको अपने ऊपर बन्धन मानती है और तीखे स्वर में कहती है, --" ---- स्त्री तो जड़ पदार्थ है न। खुली हवा में घूमना-टहलना, सखियों का संसार बनाना, उनमें मिलना और उनके साथ कहीं अंदर आना-जाना घूमना और अपने लिए आवश्यक वस्त्राभूषणों की याचना करना स्त्री के लिए कभी न आवश्यक है, न आनन्ददायक। तुम यही न कहना चाहते हो[5]।" लेकिन इसमें

---

1 मिश्रबन्धु : "ईशानवर्मन", १९३७ई०, प्र०सं०, पृ०११७, अंक २, दृश्य ७

2 उदयशंकर भट्ट : "कमला", १९३९ई०, पृ०१६, अंक१, सीन १

3 वही, पृ०१९, अंक१ सीन१

4 पद्मरानी : "नाटक शिल्पाट और समाज", पृ०११८-११९, दिल्ली, १९६६ई०

5 भगवतीप्रसाद वाजपेयी : "कामना", १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०२३, अंक१, दृश्य५

कामना की पुरुष के प्रति ईर्ष्या बोल रही है। अपनी इस झूठी स्वतन्त्रता की चाह में वह अपने पत्नीत्व के दायरे को भूल जाती है। नाटककार के सामने आज की नारी की यह एक प्रमुख समस्या है। नाटककार ने बलराज के माध्यम से उसे समझाना चाहा है। अन्यथा नारी की यह छलनाएं परिवार को कभी सुखी न बना पायेंगी।

नाटककार उपेन्द्र नाथ अश्क ने आज की स्वतन्त्र नारी पर तीव्र व्यंग्य कसा है। उनकी व्यंग्यात्मक दृष्टि उनकी वास्तविकता को सामने ला खड़ा करती है। "स्वर्ग की झलक" नाटक में रघु पहले तो इन मौतियों की ऊपरी चमक-दमक के मोह में पड़ा रहता है, लेकिन[1] जब अपने मित्रों की पत्नियों के छलपूर्ण व्यवहार की सच्चाई से अभिज्ञ होता है, तब वह इनसे दूर भागता है और उसे कम पढ़ी-लिखी पत्नी ही ठीक लगती है। इस नाटक में उमा एक फैशनेबुल सोसाईटी में[2] जाने वाली लड़की है। जो गृहिणी तो नहीं, हां तितली अवश्य बनी रह सकती है।

लेखिका शारदा देवी ने "विवाह मण्डप" नाटक में नारी को स्वावलम्बी बनाने का संकल्प बनाया है। वे उन्हें उन्नत करना चाहती है --" ---- इससे स्त्रियों को स्वावलम्बी बनाया जायेगा[3] ---- दूसरी दु:खिनी बहिनों की सहायता देने योग्य भी बन सकेंगी ---- ।" माध्वाचार्य रावत ने भी नारी -दशा को शोचनीय देखकर नारी के स्वयं अपनी समस्याओं पर निर्णय लेने का अधिकार एवं स्वतन्त्रता प्रदान की है। सतीत्व भंग नारी का सबसे बड़ा उपहास है, अपमान है। लेकिन समाज देखकर भी मौन रह जाता है। श्यामा अपनी इज्जत के लिए थानेदार के पास जाती है तो रही-सही कसर भी पूरी हो जाती है। अत: नारी ने अपने विवाह-विषयक निर्णय स्वयं अपने हाथ में ले लिये हैं और स्वतन्त्रता एवं दृढ़ता व साहस के साथ वह जीवनक्षेत्र में उतर पड़ी है। श्यामा और सरोजा बिना किसी सामाजिक मोहर के सुरेश और अरविन्द के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय कर लेती हैं। श्यामा

---

१ उपेन्द्रनाथ अश्क : "स्वर्ग की झलक", १९३९ई०, प्र०सं०, पृ०५१, अंक३

२ वही, पृ०६६ अंक४।

३ शारदा देवी : "विवाह मण्डप", १९४१ई०, पृ०३४, अंक२, दृश्य २

कहती है -- " ---- भारत में क्या हो रहा है, प्राचीन काल में स्त्रियों को वर[1] चुनने का पूर्ण अधिकार था, उनको इस विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी --- ।"[2] नाटककार इन्हीं के मुंह से उनके विवाह की घोषणा कर समाज से स्पष्टविरोध प्रदर्शित करता है । नारी को स्वयं अपने विषय में कुछ करने की प्रेरणा देता है । यहीं नहीं, सरोजा के पिता द्वारा उसके कार्य क्षेत्र के लिए स्वीकृति दिलवा कर[3] नाटककार ने नारी के व्यक्तित्व को और सबल बनाया ।

स्वतन्त्रता की उपासिका नारी ने अपनी स्थिति को और भी नग्न बना लिया है । सेठ गोविन्ददास ने विमला के रूप में उस नारी का चित्रण किया है, जो सोशलिज्म की आड़ में नारी सुलभ सभी मर्यादाओं को तोड़ देती है । कात्यायनी के माध्यम से नाटककार नारी की इस स्थिति पर झुंझला जाता है-- " आह ! उस विमला ने सारी नारी जाति की नाक कटवाई और फिर तुर्रा यह कि अभी भी अपने को बिल कहती है ---- पढ़ा-लिखा महिला-समाज रसातल को पहुंच गया ।"[4] विवाह के समस्त भोगों को बिना विवाह किए ही भोगना समाज में व्यभिचार को फैलाना है । नाटककार धर्मध्वज के माध्यम से इसे स्वाभाविक स्थिति में लाया है[5] । नारी की स्वतन्त्रता का यह दुरुपयोग है । स्वतन्त्रता की उपासिका नारी मातृत्व से ही दूर भागने लगी है । क्या नारी का अपने नारीत्व से दूर भागने पर उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का कोई अस्तित्व शेष रह जाता है[6] । पृथ्वीनाथ शर्मा के 'साध' नाटक की कुमुद और मुकुला इन्हीं विचारों से प्रेरित है । ये दोनों विवाह और सन्तान को अपनी स्वतन्त्रता में बाधक मानती है । कुमुद किसी प्रकार विवाह तो कर लेती है, लेकिन मातृत्व से दूर भागती है । लेकिन नाटककार ने उसको मां को एक ऐसे बिन्दु पर खड़ा किया है,जहां से उन्होंने प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों को

---

१ माध्वाचार्य रावत : 'सरोजा का सौभाग्य',१९४२ई०,पृ०६७,दृश्य २४

२ वही,पृ०६८,दृश्य २४

३ वही, पृ०१७२, दृश्य २७

४ सेठ गोविन्ददास : 'त्याग या ग्रहण',१९४३,पृ०४३-४४,अंक३

५ वही,पृ०१२७,अंक५

६पृथ्वीनाथ शर्मा :'साध',१९४४ई०,पृ०११,अंक१,दृश्य २

देता है और कुमुद को समका सकी हैं । संसार की यथार्थता से वह प्रयत्न करने पर भी दूर नहीं भाग सकती । अजीत मोहन को सामने रखकर उसके अन्दर लालसा का बीज बोता है । अपने व स्त्रीत्व को भुलाकर स्वतन्त्रता की आड़ में, धोखे में रहना, यह आज की नारी की विडम्बना है । उसके भ्रम को नाटककार ने शर्मा जी के आदर्शवाद द्वारा दूर किया है[1] । दीनानाथ व्यास ने अपने नाटक "धर्माचार्य" में नारी को मर्यादा युक्त स्वच्छन्दता प्रदान की है । जीवनगुप्त अपनी बेटी सुनयना को शास्त्रार्थ के लिए पूरी स्वतन्त्रता देते हैं--" तुम बेटी इसके लिए स्वतन्त्र हो, विश्वास रखो मैं व इसके लिए बुरा न मानूंगा । मैं तुम्हारे व्यक्तित्व को पराधीन करना नहीं चाहता ---[2] ।" सेठ गोविन्ददास की द्रौपदी भी नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए मांग करती है । युधिष्ठिर द्वारा अपने को दांव पर लगा देने से वह अत्यन्त आहत सी हो जाती है । स्त्री पति की सम्पत्ति है, तो क्या पशु की तरह उससे व्यवहार किया जायगा ? --" मैं नारी को अबला नहीं मानती । अपने बल ----- पूर्ण बल से बोलती हूं । प्रचलित धर्म के अनुसार भी मैं दासी नहीं हुई हूं । मैं स्वतन्त्र हूं ।पूर्णरूप से स्वतन्त्र ----[3] । नाटककारों ने वस्तुत: जीवन में स्त्री-पुरुष दोनों का समानाधिकार माना है । रामानन्द सहाय प्रेमविधा के "आर्याभिनय" में इसी की चर्चा है । यदि दोनों मिलकर समान स्तर पर सहयोग दें तो आर्थिक तथा वैयक्तिक दोनों ही दृष्टि से, स्त्री व पुरुष युगल के लिए हितकारी सिद्ध होगा । मोहन अपनी पत्नी सुशीला से इसी तथ्य को बताता है[4] ।

वृन्दावनलाल वर्मा के "बांस की फांस" नाटक में स्त्री-स्वतन्त्रता को प्राथमिकता दी गई है । गोकुल अपने सिद्धान्तों में सर्वप्रथम इसी को स्थान देता है ।" ---- स्त्रियों की स्वाधीनता और समस्त अधिकार अपना पहला सिद्धान्त है[5] ।" प्रेमचन्द के "प्रेम की वेदी" नाटक में जैनी स्त्री की स्वतन्त्रता की

---

१ विनयकुमार : "हिन्दी के समस्या नाटक",पृ०४७६

२ दीनानाथ व्यास : "धर्माचार्य",१९५४ई०,प्र०सं०,पृ०२०,अंक १,दृश्य ३

३ सेठ गोविन्ददास : "कर्ण", १९५६ई०, प्र०सं०पृ०३६, अंक१,दृश्य ३

४ रामानन्द सहाय प्रेमविधा : "आर्याभिनय",१९५६ई०,प्र०सं०,पृ०३६,अंक३

५ वृन्दावनलाल वर्मा : "बांसकी फांस",१९५७ई०, प्र०सं०,पृ०३ अंक१,दृश्य १

आवाज उठाती है । वह समाज के बन्धनों में बंधना नहीं चाहती है । समाज को नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व में बाधक मानती है । वह सामाजिक रीति से किये गए विवाह को बन्धन मानती है, जो कभी खुलकर नहीं हो सकता है । वह स्पष्ट योगराज से कहती है -- "सुख का मूल स्वच्छन्दता है, बन्धन नहीं[1]।" इसीलिए वह योगराज से विवाह नहीं करती है । मात्र आत्मिक ऐक्य को ही महत्ता देती है । नाटककार ने कहीं जैनी का खण्डन नहीं किया है । सम्भवत: प्रेमचन्द समसामयिक सामाजिक रूढ़ियों के प्रति अत्यन्त वितृष्णित हो उठे थे और इन बन्धनों को दूर करना आवश्यक समझते थे ।

वृन्दावनलाल वर्मा की निर्मला आर्थिक स्वतन्त्रता चाहती है । विवाहोपरान्त वह पति के सम्मुख अपनी इस इच्छा को रखती है" --- स्त्री की दुर्दशा का कारण उसकी आर्थिक परतन्त्रता है । जहाँ उसको आर्थिक स्वावलम्बन मिला व नहीं, वह स्वाधीन हुई[2]।" अनेक तर्कों के बाद वीरेन्द्र उसे नौकरी करने की अनुमति देता है । निर्मला स्वतन्त्र होती नारी की प्रतीक है । वर्मा जी ने अपने नारी पात्र को मर्यादा के भीतर ही पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की है ।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने भी नारी की स्वतन्त्र होती प्रवृत्ति को पहचाना है । 'प्रभा' नाटक की प्रमुख नारी पात्र है जो चाहती है कि नारी घर की चहारदीवारी से बाहर निकल अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाए । वह पुरुष पर ही क्यों निर्भर हो रहे--" पुरुष स्वार्थी है भैया । वह स्त्री को दुर्बल रखना चाहता है कि नारी में अपने पैरों[3] पर खड़े होने का बल ही न आवे । नारी उसके हाथ का खिलौना क्यों रहे ? -क्यों नारी का स्वतन्त्र अस्तित्व उसका पहला ध्येय है । वह कस्तूरी से कहती है" ---- मैं नहीं चाहती कि स्त्री एक कोमल लतिका बनकर पुरुष से लिपटी रहे । स्वयं निर्बल रहे और पुरुष को भी बोझिल बनाए । उसका स्वतन्त्र अस्तित्व

---

१ प्रेमचन्द : 'प्रेम की वेदी', १९५७ई०, च०सं०, पृ०३६, दृश्य ६

२ वृन्दावनलाल वर्मा : 'पीले हाथ', १९५८ई०, प्र०सं०, पृ०३२, दृश्य ७

३ हरिकृष्ण 'प्रेमी' : 'मित्र', १९५८ई० द्वि० सं०, पृ०२८, दृश्य अंक १

होना चाहिए।[1]" लाजवन्ती भी नारी की वीर एवं स्वतन्त्र प्रतिमा है। वह नारी को दुर्बल नहीं मानती, उसकी जौहर व्रत में आस्था नहीं है, वरन् नारी जीवन को साहस के साथ उचित ढंग से जीना चाहती है।[2] आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने "राजसिंह" नाटक में नारी को अधिकार दिया है। पत्नी रूप में नारी को पूरा अधिकार है कि यदि पति द्वारा य किये जाने वाले किसी कार्य से इज्जत में फर्क आता हो तो पत्नी पति को मना कर सकती है। क्योंकि वह अर्द्धांगिनी है, उसे इस विषय में पूरी स्वतन्त्रता है। राणा राजसिंह जब रत्नसिंह के पिता से उनकी पुश्तैनी सलुम्बरा की जमीन छीन कर केसरी सिंह को दे देते हैं, तो रानी उन्हें अपने पत्नी के अधिकार से मना करती हैं।[3]

उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटक "अलग-अलग रास्ते" में नारी की पराधीनता ने उसे बहुत अपमानजनक स्थिति में पहुंचा दिया है। समाज के एक भागने नारी को सदैव धन के सम्मुख हेय दृष्टि से देखा है। इसीलिए नारी का यह अपमानित वर्ग स्वतन्त्रता चाहता है। रानी -ताराचन्द की बेटी ऐसे ही वर्ग की नारी है। उसमें नारी का आत्मसंघर्ष व्याप्त है कि पारिवारिक मिथ्या प्रतिष्ठा को सामाजिक प्रतिष्ठा में कैसे बदले ? पुराने संस्कार उसे पैर पकड़ कर पीछे खींचते हैं, नई सामाजिक चेतना उसे अपनी अपनी ओर आकर्षित करती हैं। रानी में आज की नारी बोल रही है। वह आज की बनती हुई नारी है। जिसका जीवन आज की नारी जाति की सामाजिक समस्या का घोर सत्य है। वह विद्रोह के पथ पर चलने के लिए तैयार है। लालची और लोभी पति के साथ पिता द्वारा मजबूर किए जाने पर भी वह जाने से इन्कार कर देतीहै। वह उससे स्पष्ट कह देती हैं" --- आप जाइए --- पिता जी से मोटर लीजिए मुझे इस मकान मोटर की जरूरत नहीं।[4]" नाटककार समाज की यथार्थ परिस्थितियों का विश्लेषण करके सतत् वैयक्तिक विकास की पृष्ठभूमि में नारी-समस्या का निदान ढूढ़ता है। पूरन उसके वकील पति से कहता है ," --- लेकिन

---

१. हरिकृष्ण 'प्रेमी', पृ०६२, अंक२, दृश्य २

२ वही, पृ० ६४, अंक३, दृश्य ५

३ आचार्य चतुरसेन शास्त्री : "राजसिंह", १६५६ई०, प्र०सं०? पृ०२३, अंक१, दृश्य६

४ उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : "अलग-अलग रास्ते , १६५४ई०, प्र०सं०, पृ०६०, अंक२ ।

वकील साहब, आज हिन्दू नारी बदल रही है, हिन्दू मुसलमान क्या, भारत की नारी-मात्र बदल रही है, उसके सपने बदल रहे हैं[1], आप आज की नारी के सपने तो क्या उसकी भावनाओं को भी नहीं समझते -- जहां रानी में विद्रोह है वहां राज में परिस्थिति के प्रति, आत्मसमर्पण है। पति द्वारा दूसरा विवाह कर लेने पर भी वह उसको "देवता" मानती रहती है और उसी घर में रहने के लिए तैयार है। यद्यपि नाटककार अश्क ऐसे विद्रोह के समर्थक नहीं है, जो घर को ही तबाह कर दे, परन्तु उन्होंने ऐसी रूढ़ियों को भी मानने से इन्कार कर दिया है, जो घर को तबाह कर रही हों। रानी के रूप में उनकी इच्छा चित्रित है। विरोध का यह स्तर अपनी जगह सम्भवत: सटीक ही है। इसी प्रकार उनके एक अन्य नाटक "उड़ान" में भी माया विद्रोहिणी है, समाज के इन तीन रूपों से शंकर, रमेश, और मदन। तीनों के बीच वह अपनी यथार्थ स्थिति नहीं पा पाती। पुरुष की आदिम वासना, उसकी दैविक उपासना, एवं नारी को सम्पत्ति समझने वाली तीनों दृष्टिकोणों में वह अपना वास्तविक स्थान नहीं पा पाती है। शंकर उसे अपनी क्रूर वासनात्मक दृष्टि से ग्रसित करना चाहता है, तो रमेश उसका पुजारी बनकर आकाश में ले उड़ना चाहता है, और मदन अविश्वासी हृदय, उसे मात्र अपनी सम्पत्ति समझता है। ईर्ष्या उसे सन्देह में डालकर घृणा का पात्र बना देती है। गहरे खड्डों और ऊंचे शिखरों में वह ऊब गई है। उसे समतल धरती चाहिए। लेकिन तीनों अपनी विद्रूपता की चरम सीमा पर खड़े हो जाते हैं, तब उसका नारीत्व सहसा अपने अधिकार के लिए तड़प उठता है। वह कहती है--" --- वह असहाय अबला स्त्री मैं नहीं, जिसे मदन चाहता है और जो हर समय पुरुष के सहारे की आशा बांधे, दासी की तरह खड़ी रहती है। वह बीमार हिरनी भी मैं नहीं, जिसे तुम लोग गोदमें भरकर मनमानी करना चाहते हो I --- मैं देवी भी नहीं, जो केवल अपने आसन पर बैठी रहे। तुम एक दासी, खिलौना या देवी चाहते हो, संगिनी की तुममें से किसी को भी जरूरत नहीं।[2] "संगिनी! हां माया जैसी नारियां मात्र सहचरी बनना चाहती हैं। उनको अपना स्वत्व चाहिए। पुरुष से

---

१ उपेन्द्रनाथ अश्क : "अलग-अलग रास्ते", १९५४ ई०, प्र०सं०, पृ० ७७ और

२ उपेन्द्रनाथ अश्क : "उड़ान", १९५५, द्वि०सं०, पृ०१५६, दृश्य४, रचनाकाल १९४६

हमेशा अपनी बर्बरता दिखाई है । पर अब नारी वर्ग अपने अधिकारों के प्रति सजग है । वह विद्रोहिणी बनेगी, पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने के लिए । गोपाल कृष्ण कौल लिखते हैं--" अलग-अलग रास्ते की ' रानी और 'उड़ान ' की माया दो ऐसे पात्र हैं,जो न केवल पुरानी रूढ़ियों से विद्रोह करती हैं, वरन् उनकी दीवारों को तोड़ कर निकलने की भी शक्ति रखती हैं । इन्हीं पात्रों में अश्क भविष्य की नारी की झलक देते हैं ।"[1] वास्तव में अश्क की नारी अपने वास्तविकस्थान को पाने के लिए समस्त झाड़-झंकाड़ों को निकाल फेंक कर अपना मार्ग बनाने का साहस रखती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्य कालके नाटककारों ने नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को पूरी तरह चित्रित किया है । उन्होंने नारी समाज को रूढ़ि-बन्धनों से मुक्त करना चाहा है, उसे जीवन में उसका वास्तविक स्थान दिलाना चाहा है । पाश्चात्य नारी की स्वतन्त्रता का किसी भी नाटककार ने समर्थन नहीं किया है । नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ही पुरुष को जीवन में समान सहयोग दे सकेगी, जिससे जीवन सरल होगा ।

---

१ गोपालकृष्ण कौल : 'नाटककार अश्क', पृ०९९, प्र०सं०, १९५४ई० ।

अध्याय --१२

नारी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

अध्ययन का प्रिय विषय मानव स्वयं मानव के लिए ही एक रहस्य है । मानव-मन का अध्ययन एक आकर्षण का विषय है । मन की समस्त आंतरिक चेतनाओं को प्रकाश में लाने के लिए मनोविज्ञान का उदय हुआ । भारतीय दर्शन में जो मन का विश्लेषण हुआ है, वह आज के विश्लेषण से कहीं अधिक गहन था । वह दर्शन का विषय था । हमारे यहां मन को " ब्रह्म" ही माना गया है[१] । लेकिन आज मनोवैज्ञानिक, मनोविज्ञान में मानसिक दशाओं का सीमित अध्ययन करते हैं । वे मन की चेतन और अचेतन दो अवस्थाएं मानते हैं । चेतन मन के नीचे अचेतन मन का भी अस्तित्व है । हमारी दमित इच्छाएं इसमें पड़ी रहती हैं । प्रमुख मनोवैज्ञानिक फ्रायड[२], एडलर[३] एवं युंग[४] ऐसा ही मानते हैं । यद्यपि मूल प्रेरणा के विषय में इनका भिन्न-भिन्न मत है । इनके विस्तार में न जाकर हम अपने मूल विषय पर आएं तो अधिक उचित होगा । ऐसा विदित होता है कि जिस अचेतन मन का उल्लेख मनोवैज्ञानिकों ने किया है, उस अचेतन मन में नारी के ईर्ष्या आदि भाव पड़े रहते हैं, जो कि अपने अनुसार अवसर प्राप्त

---

१ "तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः"

--"मुण्डकोपनिषद्" २।२।२।

२ Sigm. Freud. The Ego and the ID. (Translated by Joan Riviere 1947, 4rth Edition. Hogarth Press, Londan.

३ AdlerAlfred. The Practice and Theory of Individual Psychology.

४ Dr. C.G. Jung. Psychology of the Unconscious 5 Vth, 1946. Londan.

अध्याय -- १२ :

नारी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

होने पर प्रकट हो जाते हैं। यही कारण है कि नारी की मानसिक स्थिति अपने में काफी विडम्बनापूर्ण बनी रहती है। वह किस समय किस रूप को धारण कर लेगी, यह नहीं कहा जा सकता। उसकी कोमलता एवं सरलता उसके प्राकृत गुण हैं, लेकिन उसकी कठोरता भी उसके अन्दर कहीं-न-कहीं विद्यमान रहती है। जहाँ कहीं उसकी कोमलता को ठेस लगती है, उसके ईर्ष्या, द्वेष आदि भाव सजग हो जाते हैं। कोमलता एवं कठोरता नारी-प्रकृति के दो पहलू हैं। यदि ध्यान देकर देखा जाय तो स्पष्ट विदित होता है कि नारी का सम्पूर्ण जीवन प्रेम एवं इन दोनों भावनाओं से प्रेरित रहता है। नारी की इस द्विधात्मक मानसिक स्थिति का चित्रण हमारे आलोच्यकाल के नाटककारों ने बड़ी कुशलता से किया है। ऐसा करते हुए वे अपनी यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। वे यथार्थ के बीच में से आदर्श खोजने की कोशिश करते हैं। वस्तुतः मानव में जहाँ अनेक गुण हैं, वहीं उसमें कमजोरियाँ भी व्याप्त हैं। यही कारण है कि नारी में भी विरोधी भावों का प्राबल्य रहता है।

नाटककार केशवराम भट्ट ने नारी मन:स्थिति को पहचाना है। हलीमा कहती है --" ---- औरतें मुहब्बत करना जानती हैं, बल्कि मुहब्बत के पीछे अपना सर्वस्व छोड़ दे सकती हैं। मगर जिस्का बिगड़ी तो अल्लाह की पनाह, ऐसी बिगड़ती हैं, ऐसी बिगड़ती हैं कि अगर मलकुलमौत हो तो वह भी एक बार डरा जाय ---।"[1] नारी के अन्दर स्वभावगत दोनों पक्ष प्रबल हैं।

नाटककार पा० बेचनशर्मा 'उग्र' के 'महात्मा ईसा' में भी दो विरोधी नारी-पात्रों का बहुत ही सटीक चित्रण हुआ है। जहाँ एक ओर शान्ति का चरित्र है, वहीं हैरोदिया का चरित्र भी चित्रित है। शान्ति में प्यार, त्याग एवं सेवा-भाव का उन्मेष है तो हैरोदिया में ईर्ष्या, वासना नृत्य करती है। उसका अहं चरम सीमा पर है। हैरोद की यह रूपगर्विता विधवा भ्रातृ-पत्नी अपनी इच्छानुसार सबको अपनी वासना-तुष्टि का कारण बनाती फिरती है। उसकी इच्छा पर ही हैरोद धर्मपिता योहन की हत्या करवाकर उसे सन्तुष्ट करता है।[2] इस रूप में नारी

1. केशव राम भट्ट : सज्जाद सुम्बुल, १९०४ ई०, द्वि.अं., पृ० ६६, प्रवेश २

2. पा० बेचन शर्मा 'उग्र' : "महात्मा ईसा", १९२२ ई०, प्र०सं०, पृ०५१, अंक २, दृश्य ३

कितनी निर्मम है लेकिन उसका अन्त भी नाटककार ने वैसा ही दिखाया है, डाकू बरव्धा द्वारा उसकी निर्मम हत्या हो जाती है। ईरोदिया के कारण ही राज्य भर में अशान्ति छा जाती है। इसी प्रकार जयशंकर 'प्रसाद' के 'अजातशत्रु' नाटक में छलना व मागन्धी का चरित्र भी प्रतिशोध से भरा है। मागन्धी गौतम द्वारा अपने रूप के अपमान को नहीं सह पाती। उसका ईर्ष्यालु स्वभाव पद्मावती एवं गौतम दोनों से एक साथ बदला लेता है।[1] लेकिन मागन्धी का अन्त भी आत्महत्या द्वारा हो जाती है। नाटककार इस प्रवृत्ति को एकदम समाप्त कर देना ही उचित समझता है। उधर छलना अत्यन्त महत्वाकांक्षी लेकिन नारी है उसके अन्दर राजमाता होने की आकांक्षा हमेशा तिरती रहती है। इसी वेग में वह पति बिम्बसार सपत्नी वासवी आदि सभी को छोड़ती आगे बढ़ने का प्रयत्न करती है।[2] ऐसी नारियां किसी के प्रभाव को नहीं सह सकतीं। लेकिन नाटककार ने नाटक के अन्त में छलना का हृदय-परिवर्तन कर नारी की स्वाभाविक स्थिति[3] में खड़ा[4] कर दिया है। वह नारी जाति के लिए करुणा का मूल मन्त्र वासवी एवं मल्लिका नारी-पात्रों के माध्यम से उपस्थित करता है। यद्यपि वासवी के अन्दर भी संघर्ष चलता रहता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के मत में भी जिस प्रकार पाश्चात्य नाटककारों के चित्रांकन के प्रवाह में व्यक्ति वैचित्र्य एवं आन्तरिक द्वन्द्व का प्रयोग अत्यन्त सफल बन पड़ा है, वह अजातशत्रु के बिम्बसार और वासवी में भी अद्भुत शैली में है।[5] वासवी में अन्तर्द्वन्द्व होते हुए भी छलना की हीन कुण्ठा व्याप्त नहीं है। द्वन्द्वात्मक परिस्थिति के कारण वासवी के मन में हलचल व्याप्त रहती है, लेकिन वह अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रखती है। वासवी का प्रेम, पति जीवन को स्निग्ध किए रहता है। छलना के लिए मार्ग-निर्देशन का कार्य करता है, उसकी हीन भावना, वासवी की कोमलता में विलीन हो जाती है। मल्लिका पाशवृत्ति वाले पुरुषों को अपनी सरलता एवं मधुरता से विजित करती है।

---

१ जयशंकर 'प्रसाद' : 'अजातशत्रु', १९२२ई०, प्र०सं०, पृ०७४, अंक१, दृश्य ६

२ वही, पृ० १०७, अंक२, दृश्य ६

३ वही, पृ०१३५, अंक३, दृश्य १

४ वही, पृ०११५, अंक२, दृश्य ७

५ डा० जगन्नाथप्रसादशर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', पृ०६, द्वि०सं०२००६वि

नाटककार चन्द्रराज भण्डारी की प्रमिला भी अत्यन्त साध्वी नारी है। वह अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में बलि लेना और बलि देना दोनों जानती है। राजा मुगेन्द्र ने उसे पुत्रीवत् पाला था, लेकिन बड़ी होने पर वह राजकुमार जितेन्द्र से विवाह की इच्छा प्रकट करती है, लेकिन राजा उसकी इस कल्पना पर केवल हंस देता है, बस तभी से वह पूरे परिवार की शत्रु बन जाती है। उसके स्वगत में ही उसका मनोवैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है --" ---- तू देखेगा कि प्रमिला केवल कोमल हृदय नारी ही नहीं है, वह एक प्रतिहिंसा की प्रतिमूर्ति है। दारुण पिशाची है ---- ।"[1] अपनी इच्छा का अपमान वह न सह सकी। वह अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिए एकदम अन्ध भाव से लग जाती है। ऐसी नारी के कार्य में जो भी बाधक होता है, वही शत्रु बन जाता है। इसीलिए वह अशोक के भी विरुद्ध हो जाती है। नारी महत्वाकांक्षा के द्वार पर खड़ी स्वयं ही अपने लिए एक पहेली बन जाती है। --" मेरा जीवन भी एक पहेलीमय है। महत्वाकांक्षा के च क्कर में पड़कर एक भयंकर ज्वाला का सूत्रपात कर दिया है। मैं स्वयं नहीं जानती कि मैं इस ज्वाला में स्वयं जलना चाहती हूं या दूसरों को जलाना चाहती हूं।"[2] प्रमिला कहीं हारना नहीं जानती। ऐसी स्त्रियां नारी के नैसर्गिक सौन्दर्य को भूल जाती हैं। उनके लिए संसार में सम्बन्धों का कोई महत्व नहीं है। वह भिक्षु से कहती है--" --- भिक्षु ! स्मरण रहे प्रमिला पत्नीत्व की भिक्षा नहीं चाहती, वह पतित्व का दान करती है ---- ।"[3] नारी की दृढ़ता अपूर्व है, लेकिन ऐसी नारी का अन्त भी बड़ा मनोरंजकपूर्ण होता है। प्रमिला को जब सफलता सामने न दिखाई दी तो वह असफलताओं के बीच जीना भी नहीं चाहती। "असफलता ---- जहां जाती हूं, वहां असफलता --- विधाता तुमने मुझे स्वर्ग से गिराया है तो नरक में जाऊंगी ---- प्रमिला इस प्रकार लौटकर नैराश्य में जाना पसन्द नहीं करती। या तो वह अपनी प्रतिहिंसा की ज्वाला में तमाम संसार को भस्म कर डालेगी, या स्वयं जलकर राख हो जायेगी ---- ।"[4] वह

---

१ चन्द्रराज भण्डारी : 'सम्राट अशोक', १६२३ई०, प्र०सं०, पृ०२८, अंक१, दृश्य २

२ वही, पृ०८६, अंक२, दृश्य ४

३ वही, पृ०१३५, अंक३, दृश्य ५

४ वही, पृ०१४२, अंक४, दृश्य २

आत्महत्या कर लेती है। मरते समय मृगेन्द्र को क्षमा भी मार जाती है।[1] न किसी को क्षमा किया, न किसी की क्षमा चाही। अपनी हठ पर नारी-मन दृढ़ है। वह टूट सकती है, लेकिन झुक नहीं सकती। प्रमिला की विरोधी पात्र प्रणयिनी है। पिता एवं भाई पर मुसीबत देख कर वह स्वयं राजनीति में कूद पड़ती है। मार्ग में दूसरों को, सहायता देना उसका धर्म है। गोविन्दवल्लभ पन्त के "वरमाला" नाटक की राजकुमारी वैशालिनी, "नारद की वीणा" नाटक की कौमुदी के ही समान मन:स्थिति वाली नारी है। जब अवीक्षित उससे प्रेम की याचना करता है, तब तो वह उससे घृणा करती है और जब अवीक्षित दूर भागता है, तब वह उसके पीछे-पीछे जाती है। नारी मन की यह विडम्बना है। वैशालिनी अंत में ठीक ही सोचती है कि रमणी बनकर फिर गति नहीं बदल सकती वह अपने मनोभावों को दासी है।[2] इसीलिए पुरुष स्त्री के मनोवैज्ञानिक उतार-चढ़ाव को समझ नहीं पाता।

जयशंकर "प्रसाद" के "जनमेजय का नाग यज्ञ" में मनसा का चरित्र अत्यन्त आकर्षक है। नारी-हृदय के आग एवं पानी दोनों उसके अन्दर मौजूद हैं। नाग जाति को आर्य जाति के विरुद्ध भड़काने में उसका प्रमुख हाथ रहता है। उसी के कारण इतना बड़ा विप्लव होता है। युद्ध की भयानकता, मनसा की भयानकता को सामने कर देती है। स्वयं मनसा एकदम ग्लानि से भर जाती है। मणिमाला जब उससे कहती है कि "तुम त्रिशूल लिये ---- नृत्य करो। संसार भर की रमणीयता और कोमलता वीभत्स क्रन्दन करे और तुम्हारे रमणी सुलभ मातृभाव की धज्जियां उड़ जायं ---।"[3] तब मनसा क्षोभ से भर कर कहती है, "बस बेटी ---- मेरी भूल थी ---- यदि स्त्रियां अपने इंगित की आहुति न दें तो विश्व में क्रूरता की अग्नि प्रज्वलित ही नहीं हो सकती ---।"[4] वास्तव में नारी में वह शक्ति निहित है जो

---

1 चन्द्रराज भण्डारी : "सम्राट अशोक", १९२३ई०, प्र०सं०, पृ०१९५ अंक४, दृश्य ६।
2 गोविन्दवल्लभ पंत : "वरमाला", १९२५ई०, पृ०४१, अंक १, दृश्य४
3 जयशंकर प्रसाद : "जनमेजय का नाग यज्ञ", १९२६ई०, पृ०७८, अंक३, दृश्य ३
4 वही, पृ०७८, अंक ३, दृश्य ३

मानव-शक्ति का वास्तविक संचालन करती है । जिस सेवा तत्परता के साथ वह घायलों की सेवा करती है, वह उसकी मनोवृत्ति के परिवर्तन का परिणाम है । वह अपने भाई वासुकि को शेष लड़ाई के लिए रोकती है[1] । नारी यदि क्रूरता को छोड़ दे, तो वह विश्व मैत्री की प्रतिष्ठा कर सकती है । नारी की उदारता एवं त्याग अपने सम्पूर्ण रूप में जयशंकर 'प्रसाद' की "देवसेना" में मिलता है । नाटककार देवसेना का चित्रण कोमल तूलिका से कर नारी जाति के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहता है । देवसेना ने कभी किसी का बुरा न चाहा । यहांतक कि विजया के प्रति भी उसके अन्दर कभी द्वेष नहीं उत्पन्न हुआ । उसकी भावनाओं ने सदैव देश को उन्नत देखना चाहा[2] और देश की उन्नति के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हो । दूसरी ओर विजया, उसने हमेशा आकाश म में उड़ना चाहा, पृथ्वी से दूर, यथार्थ से दूर रह कर । देवसेना की उन्नति वह न देख सकी । प्रेम में हारी हुई नारी ने भटार्क एवं अनन्त देवी का साथ दिया । देवसेना का अन्त कर देना चाहा, स्कन्द को विपथगामी बनाना चाहा । 'प्रसाद' ने विजया का चित्रण अत्यन्त यथार्थ की तूलिका से कर नारी की चंचलता को चित्रित किया है । यहां[3] भी विजया पतन की चरम सीमा पर पहुंच आत्महत्या कर अपना अन्त कर लेती है ।नारी की प्रतिहिंसा कभी सफल नहीं हुई ,उसका अन्त सदैव दु:खदायी होता है । नारी का मन ब बीच का मार्ग नहीं जानता । यदि नारी वासना से युक्त होने पर भयंकर हो जाती है,तो कभी कर्तव्य के सामने वह इस विषय में एकदम निश्चल हो जाती है । 'उत्सर्ग' नाटक में ललिता,भैरवसिंह को बहुत ज्यादा चाहती है, लेकिन युद्ध दौरान[4] में कर्तव्यके समक्ष भैरव सिंह की भावुकता को एकदम घृणा पूर्वक धिक्कार देती है । 'अंजना' नाटक में भी नारी अपने प्रेम का अपमान न सह सकी है । वस्तुत: ऐसा विदित होता है कि नारी के लिए विश्व में प्रेम ही मर्यादा की चीज है । नारी की इज्जत और प्रेम दोनों एक ही चीजें हैं । पवन द्वारा सुखदा

---

१ जयशंकर प्रसाद : 'जनमेजय का नाग यज्ञ',१९२६ई०, पृ०८८-८९,अंक३, दृश्य ?

२ जयशंकर प्रसाद : 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य',१९२८,प्र०सं०,पृ०१३६,अंक५

३ वही,पृ० १४४, अंक ५

४ चतुरसेन शास्त्री : 'उत्सर्ग',१९२९ई०,प्र०सं० ,पृ०३१,अंक३,दृश्य २

के प्रेम का तिरस्कार एक बहुत बड़े विद्रोह का कारण बनता है । सुलक्षा ने जिसके लिए माता-पिता को नहीं छोड़ दिया, वही प्रेम का मतवाला, पवन का निर्णय सुन, क्रोध की मूर्ति बन जाता है । उसका प्रेम निराश होकर प्रतिहिंसात्मक हो उठता है । वह अंजना व पवन को तोड़ने के लिए जी-जान से लग जाती है । वह अंजना को बदनाम कर दर-दर की ठोकरें खाने के लिए विवश कर देती है । लेकिन उसे जब पवन के देवत्व से साक्षात्कार होता है, तब उसे अपनी भूल पता चलती है और पवन को कैद से छुड़ाकर स्वयं खतरा मोल ले लेती है । पवन कहता है-- "तुम अद्भुत स्त्री हो । प्रतीकार के लिए अपनी सारी जवानी भेंट कर देना असाधारण घटना है । परन्तु आँखें खुलने पर उसका प्रायश्चित करने के लिए अपने प्राण तक निछावर करने के लिए उद्यत हो जाना, उससे भी अधिक असाधारण घटना है ---"[1] । लेकिन ऐसी स्त्रियों का अन्त आत्मघात में ही होता है । उधर अंजना सब जानने के बाद भी सुलक्षा के प्रति किसी भी प्रकार का कुविचार मन में नहीं लाती है । वह नारी-मन की व्यथा को समझती है, अतः अपनी परिस्थितियों का अत्यन्त धैर्यपूर्वक सामना करती है । जमुनादास मेहरा की हीरा भी गोपाल के प्रेम में अपने घर का त्याग कर देती है । लेकिन जब गोपाल उसके प्रेम को ठुकराकर, नारीत्व को पूर्ण नहीं करता, तो वह एकदम सर्पिणी के समान क्रुद्ध हो[2] उठती है । नारी की कोमलता उसकी ईर्ष्याग्नि में समूल नष्ट हो जाती है ।

गोविन्दवल्लभ पन्त के `राजमुकुट` नाटक में नारी पात्रों में शीतलसेनी है और पन्नाधाय दो प्रमुख चरित्र हैं । मस्तिष्क दोनों का बड़ी ही तीव्र गति से चलता है । पर दोनों की राह अलग-अलग है । पन्नाधाय जहां एक ओर राष्ट्र पर अपना सब कुछ उत्सर्ग कर देने वाली कर्मठ,कोमलमना नारी है, वहां शीतलसेनी विनाश की ओर प्रेरित है । विक्रम द्वारा अपने जन्म को दुत्कारने पर उसके अन्दर प्रतिशोध की भावना प्रबल हो उठती है । नारी और सब सह सकती है, लेकिन अपने

---

१ सुदर्शन : `अंजना`,१९३०ई०, द्वि०सं०,पृ०१५०,अंक४, दृश्य ६

२ जमुनादास मेहरा : `पाखिली पुत्र`,१९३२ई०,प्र०सं०,पृ०२४,अंक१, दृश्य५

नारीत्व का अपमान नहीं सह सकती है । फिर उस अवस्था में क्रोध में उन्मत्त वह उचित-अनुचित का ख्याल नहीं कर पाती । शीतलसेनी की राजमाता बनने की चिनगारी सम्पूर्ण मेवाड़ में अग्नि फैला देती है । बनवीर और विक्रम के बीच दीवार खड़ी कर देती है । विक्रम को मौत के घाट उतरवाकर गद्दी स्वयं हस्तगत कर लेती है । उदयसिंह को भी मरवाती है, लेकिन जब उसे पता चलता है कि वीरांगना पन्ना उसे अपने पुत्र से ही उदय की जगह धोखा दे गई तो क्रोध से उन्मत्त हो वह दुस्साहसी नारी स्वयं उस नगरी में पहुंच कर उदय को मारने का असफल प्रयत्न करती है । वह अपनी आकांक्षा के इशारे पर नाच रही है--
"---- मुझे यह कौन नचा रही है? मेरे मनोराज में रहने वाली आकांक्षा ---- तुझे मेवाड़ का राजमुकुट दिया, दिल्ली का सिंहासन भी दूंगी ।"[1] शीतलसेनी का भी अन्त मृत्यु में होता है । डा० नगेन्द्र लिखते हैं कि शीतलसेनी की मृत्यु तो एकदम अस्वाभाविक हो गई है ।[2] मृत्यु के तरीके में अस्वाभाविकता हो सकती है, लेकिन शीतलसेनी की मृत्यु में अस्वाभाविकता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जो नारी महत्वाकांक्षिणी होती है, वह अपनी उस आकांक्षा की असफलता को कभी भी सहन नहीं कर सकती, मानसिक स्थिति ऐसे स्तर पर पहुंच जाती है, जहां से वह अपनी वापिसी नहीं सह सकती व और यदि उसे अपनी हार देखनी ही पड़ेगी तो वह अपना अन्त कर लेना ही उचित समझती है । ऐसी स्थिति में प्राय: नारियां आत्मघात कर लेती हैं, पर नाटककार ने सम्भवत: आत्मघात कराना उचित नहीं समझा और उसे एक बूढ़ा से दवा पिलाकर अन्त कर दिया है ।

नारी एक ही समय में प्रेम और घृणा दोनों कर सकती है । उदयशंकर भट्ट की 'अम्बा' शाल्वपति की ओर आकर्षित होती है, लेकिन शीघ्र

---

१ गोविन्दवल्लभ पंत : 'राजमुकुट', १९३५ई०, प्र०सं०, पृ०५, अंक२, दृश्य२
२ डा० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी नाटक', प्र०सं०, १९९९ सं०, पृ०३९

ही उसकी वासनात्मक चेष्टा देख घृणा से मुंह मोड़ लेती है । उसका कहना है कि मनुष्य स्वार्थ से ही प्रेम करता है और वासना की पूजा करता है । उसके इस व्यवहार से स्वयं शाल्व चकित रह जाते हैं --" संसार में स्त्री भी एक विचित्र वस्तु है, इसकी आंख की दाईं ओर स्नेह की नद बह रही है, दूसरी ओर घृणा, भय और तिरस्कार की तहें जमी हुई हैं ----[1]। लेकिन अम्बा की गम्भीरता व विचारशीलता भी अपने नारीत्व के अपमान को नहीं सह सकती । भीष्म से बदला लेने के लिए वह तपस्या में संलग्न हो जाती है ।[2] उसको मृत्यु तक की परवाह नहीं । असफलता से मृत्यु हजार गुने दर्जे अच्छी है । जब-जब नारी के अन्दर वैभव के लिए ज्वार उठा, तब-तब वह अपनी नारी सुलभ कोमलता को छोड़कर उग्र रूप धारण करती है । 'प्रतिशोध' में चम्पतराय की उन्नति को न देख सकने वाली हीरादेवी उसके जीवन के पीछे ही पड़ जाती है । चम्पतराय के सामने वह तुच्छ नहीं होना चाहती । उसके इस भयानक मन्तव्य को जानकर शुभकरण भी अचानक कांप उठता है, '--- नारी होकर तुम किस नीचता के कलंक में पतित होने जा रही हो ? पुरुष इतना नीच हो जाता है, किन्तु नारी ----[3]।' नारी हृदय की ईर्ष्या ही कुछ ऐसी है । उसका बहाव इतना तेज होता है कि वह सबको अपने साथ बहा ले जाती है । हीरादेवी, चम्पतराय और लालकुंवरि के प्राण ले लेना चाहती है । वह अन्तिम क्षण तक बुन्देलखण्ड की किस्मत लिखती रहना चाहती है[4]। लेकिन इस प्रवृत्ति का अन्त भी नाटककार खूब दिखाता है । जब चारों तरफ से वह घिर जाती है तो उसका मानसिक आघात ही उसके प्राण ले लेता है । यह सच है कि नारी की कठोरता कभी सफल नहीं हो पायी, कोमलता सदैव जयी रही है । मरकर भी वही विजयी हुई है । लाल कुंवरि अपनी सरलता, सेवापरायणता के बल पर मरणोपरान्त भी आदृत हुई, जब कि हीरादेवी की मृत्यु

---

१ उदयशंकर भट्ट : 'अम्बा', १९३५ई०, प्र०सं०, पृ०३५, अंक१, दृश्य ४

२ वही, पृ०१०५, अंक३, दृश्य ६

३ हरिकृष्ण प्रेमी : 'प्रतिशोध', १९३७ई०, प्र०सं०, पृ०१९, अंक१, दृश्य ३

४ वही, पृ०८२, अंक२, दृश्य ६

कोई भी प्रभाव न जमा सकती । `अश्क` के `जयपराजय` नाटक में भी नारी के विविध रूपों का चित्रण हुआ है । `जयपराजय में रावल चुड़ावत की दूसरी रानी तारा ऐसी ही मन:स्थिति की है । रणमल से बदला लेने के लिए वह पुत्री हंसा का विवाह वृद्ध लक्षसिंह से ही कर देती है, लेकिन रणमल की सफलता[1] सुनकर वह गौरव अपमान से बचने के लिए स्वयं ही बच्चे की हत्या कर देती है और अपना भी हीरे की कनी चाटकर मर जाती है । महत्वाकांक्षा रखने वाली स्त्रियों में मृत्यु को वरण करने की भी गजब की शक्ति आ जाती है ।

जयशंकर `प्रसाद` की कामना नारी के सहज स्खलन का प्रतिबिम्ब है । फूलों के द्वीप की कामना विलास द्वारा दिखाए गए सोने के रंग एवं मदिरा में बह जाती है । वह महत्वाकांक्षिणी नारी स्त्री सुलभ स्वभाव को भूल जाती है । विलास की भावनाओं की गहराई तक नहीं पहुंच पाती है । वह रानी बन जाती है । `मदिरा से ढुलकती हुई , वैभव के बोझ[2] से दबी हुई महत्वाकांक्षा की तृष्णा से प्यासी अभिमान की मिट्टी की मूर्ति -- लेकिन जब उसे यथार्थ स्थिति का ज्ञान होता है, वह पुन: अपने सहज नारीत्व को प्राप्त कर लेती है । स्त्री स्वभाव में आकर्षण अधिक होता है, इसीलिए वह झूठे प्रपंचों में जल्दी उलझ जाती है । कामना भी तो नारी है,लेकिन नाटककार पश्चाताप द्वारा उसे पुन: सही मार्ग पर ले आता है-- `यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार है तो मैं व्यर्थ रानी बनना नहीं[3] चाहती ---- यह लो, इस पाप-चिह्न का बोझ अब मैं नहीं वहन कर सकती ---- ।` प्रमदा[4] के माध्यम से `प्रसाद` जी ने नारी की बढ़ती हुई अधिकार-भावना पर व्यंग्य किया । कामना के द्वारा सन्तोष वृत्ति का ही समर्थन किया है । `प्रसाद` जी ने नारी मन की सहज कमजोरियों को बड़ी सफलता के साथ पकड़ा है, लेकिन फिर उसे सही मार्ग में ला खड़ा किया है ।

---

१ उपेन्द्रनाथ अश्क : `जयपराजय`,१९३७ई०, प्र०सं०, पृ०१६८,अंक४, दृश्य ७

२ जयशंकर `प्रसाद` : `कामना`, १९३७ई०, पृ०७५, अंक २, दृश्य ४

३ वही, पृ०९१, अंक ३, दृश्य ८

४ वही, पृ०६४, अंक३, दृश्य १

मृदु जी की अम्बा की तरह नाटककार श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग के 'भीष्म-प्रतिज्ञा' नाटक में भी नारी के प्रतिशोध मय स्वरूप का चित्रण है । उसमें अम्बा विचारशील होते हुए भी अपने अपमान का बदला लेने के लिए उग्रता से प्रयत्नशील होती है-- यही नारी के कठोर स्वरूप का रूप है[1] ।

जहां नारी में त्याग, उत्सर्ग बहुत ज्यादा पाया जाता है, वहां उसके अन्दर कहीं न कहीं वैभव के प्रति तीव्र तृष्णा भी विद्यमान रहती है । नाटककार पा० बेचन शर्मा उग्र के 'चुम्बन' नाटक में गरीब मल्ल की पत्नी मैना अपनी स्थिति में कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो पाती । वैभव व सुख के लिए अपने गरीब, ईमानदार एवं मेहनती पति को छोड़कर जमींदार दौलतराम के साथ भाग जाती है[2] । दौलत के नशे में पुत्र विपत को भी दुत्कार देती है । लेकिन भौतिक सुख के पीछे भागने वाली वह मैना, वास्तविक सुख को प्राप्त नहीं कर पाती । जब अपने तिरस्कृत जीवन के अन्त में इसका महत्व समझती है, तब अपनी मनोवृत्तियों को धिक्कारती है--'सुख ! कहां गया वह सुख जिसके लिए मैंने अपने ईमानदार मर्द को छोड़ दिया --- मैं औरत नहीं, मैं मां नहीं । मेरा कोई नहीं ।[3] मैं किसी की भी नहीं । आह ! धिक्कार है, ऐसे कठोर गर्हित जीवन पर ---- ।' वैभव की आकांक्षा ने उसको एवं उसके परिवार को, एकदम बर्बाद कर दिया । नारी की कोमलता एवं कठोरता का स्वरूप 'हत्या के बाद' नाटक में भी मिलता है । शीला अपने प्रति आदित्य के प्रेम को जिस दृढ़ता के साथ आहत करती है, आदित्य एकदम संभ्रम सा रह जाता है, सोचता है--'सुन्दरता और कठोरता का कितना अद्भुत मेल है ? कहीं भय नहीं, कहीं संकोच नहीं । उसके लिए विश्वास का दूसरा नाम कर्म है - -[4] ।' शीला अपने लक्ष्य में कठोर है । चाहे उसको कैसी ही परिस्थिति का सामना क्यों न करना पड़े, वह ज़रा भी विचलित नहीं होती है । नारी होने के कारण उसमें दृढ़ता देखकर ही आदित्य एकदम चकित रह जाता है ।

---

१ श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग : 'भीष्म प्रतिज्ञा', १९३७ई०,पृ०८०

२ पा०बेचन शर्मा 'उग्र' : 'चुम्बन', १९३७ई०, पृ०९७

३ वही,पृ०२०२

४ विष्णु : 'हत्या के बाद';'हंस', मई १९३९ई०,पृ०३९,दृश्य ३

नारी के स्वभाव में पुरुष की तुलना में मानवता अधिक होती है। और मानवता तो हमेशा त्याग चाहती है। जो नारी जीवन का एक प्रमुख पक्ष है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं[1]। पृथ्वीनाथ शर्मा के 'अपराधी' नाटक में रेणु शिक्षिता है, लेकिन फिर भी उसमें त्याग की भावना अधिक है। वह दूसरों को सुख देने के लिए अपने प्यार को भी छोड़ सकती है। अशोक को प्यार करके भी लीला के लिए अपने प्यार को भूलती रहती है, उसके त्याग में ही सुख मिलता है। कभी-कभी सन्तोष एवं आनन्द, सुख देने में ही प्राप्त होता है। इसी नाटक की 'आया' है तो क्षुद्र सामाजिक प्राणी, लेकिन मन विशाल है। भावना की शुद्धता उसे बलिदान की ओर प्रेरित करती है। अशोक की कहानी से द्रवीभूत होकर वह अपने पति की चोरी कबूल करने के लिए प्रेरित करती है[2]। उदयशंकर भट्ट की कमला का हृदय और भी विशाल है। युगीन विचारों से प्रेरित इस नारी में त्याग की भावना प्रबल है। सामाजिक विधान को समझते हुए वह उसी उमा की अवैध सन्तान को आश्रय प्रदान करती है। समाज के ही पाप को उसी के सामने पुण्य रूप में प्रस्तुत करने का संकल्प ले लेती है[3]। देवनारायण और माधवी इसपर लांछन भी लगाते हैं, लेकिन वह नारी, सत्य को नहीं कह पाती। माधवी भी नारी है, लेकिन नारी जैसी सहृदयता कहां है, उसमें? स्वयं लेखक ने पात्रवस्तु की भूमिका में माधवी को चीनी से लिपटी कुनैन की तरह मीठी अपने को छिपाकर चलने वाली कहा है[4]।

लोकनाथ द्विवेदी ने 'वीरज्योति' नाटक में नारी की उग्रता को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा है। हीरा देवी की ईर्ष्याग्नि वीर पुरुष चम्पतराय का जीवन ही समाप्त कर देना चाहती है। लेकिन चम्पतराय की पत्नी सारंधा भी एक बार बदले की भावना से प्रेरित होती है, लेकिन फिर सम्हल जाती है--' नारी होकर उसने नारी-सा हृदय नहीं पाया। हाय! हीरादेवी, तुम नारी होकर

---

१ "... Though in the vital department of humanity woman still occupies the throne given to her by Nature..." - by Rabindra Nath Tagore. Personality, P. 170 4rth edition 1945.

२ पृथ्वीनाथ शर्मा : 'अपराधी', १९३९ई०, पृ०८६अंक ३,दृश्य१

३ उदयशंकर भट्ट : 'कमला', १९३९ई०, प्र०सं०,पृ०९९,अंक१,सीन १

४ वही, पात्रवस्तु से

एक वीर और परोपकारी पुरुष के प्राण नाश करने को प्रस्तुत हो गई । मैं हीरादेवी से अधिक शक्ति रखती हूं --- परन्तु नहीं --- वे नारियां, नारियां नहीं, जिनमें क्षमा नहीं --- ।[1] सारंधा और हीरादेवी नारी-मन के दो वास्तविक रूप हैं । जहां एक ओर नारी अभावों के बीच में रहती हुई भी सन्तुष्ट रहती है,वहीं नारी का एक दूसरा रूप भी है,जो निरन्तर वैभव की आकांक्षा करता रहता है । भगवतीप्रसाद बाजपेयी की "छलना" में कामना वैसी ही नारी है । पति के साधारण परिवार में वह तृप्त नहीं हो पाती, उसे अधिक धन कमाने के लिए बम्बई जाने को विवश कर देती है ।[2] गोविंद वल्लभ पंत की मागंधिनी द्वेष से ज्वलित,ईर्ष्या से उत्तेजित एवं घृणा से जर्जर है । उसका प्रतिशोध गौतम पर दृष्टि रखता है,क्योंकि गौतम ने उसके रूप की अवहेलना जो की थी अपने अपमान का बदला लेने के लिए उसका नारीत्व अपने अस्तित्व को ही भूल जाता है[3] वह उसके साथ-साथ पद्मावती-सपत्नी को भी निशाना बनाती है । लेकिन मागंधिनी का द्वेष स्वयं में जलकर राख हो जाता है । सम्भवतः नारी के अन्दर काम-पिपासा कम अत्यन्त तीव्र होती है, जो तृप्त न होने पर भयंकर रूप धारण कर लेती है ।

नारी की कठोरता एवं कोमलता दोनों का उदाहरण कैलाशनाथ भटनागर की चिंता में अच्छा चित्रित हुआ है । श्री वत्स वत्स एक ही क्षण पहले चिंता की दृढ़ता,कष्ट के प्रति बेपरवाही तथा दूसरे ही क्षण कांटा गड़ने से चिल्ला उठने को नहीं समझ पाते । अभी जो इतनी दृढ़ता से अपने सबलत्व का परिचय दे रही थी,वही ज़रा-सी तकलीफ से भयभीत भी हो गई --. कुछ समझ में नहीं आता । कहीं तो स्त्री ज़रा-सी बात पर डर कर चीख उठती है और कहीं रौद्र रूप धारण कर संसार को भयभीत कर देती है ।[4] कंचनलता सब्बरवाल का आदित्य भी नारी के भिन्न-भिन्न रूपों के सम्पर्क में आता है । बहन का स्नेह एक ओर उसे प्रभावित करता है ,तो

---

१ लोकनाथ द्विवेदी : "वीरज्योति",१६३६ई०,पृ० १२६-१३०,अंक३,गर्भांक ४

२ भगवतीप्रसाद बाजपेयी : "छलना",१६३६ई०,प्र०सं०,पृ०३४,अंक १,दृश्य ५

३ गोविन्दवल्लभ पंत : "अन्त:पुर का छिद्र",१६४०ई०,पृ०२१-२२,अंक१दृश्य २

४ कैलाशनाथ भटनागर : "श्रीवत्स, १६५१ई०,प्र०सं०,पृ०४५,अंक२, दृश्य ४

दूसरी और कोण की प्रणय प्रतिमा भी उसपर अपना प्रभाव छोड़ती है--"नारी के भिन्न-भिन्न रूप समझने की शक्ति किसमें है? एक दृढ़ता, तेज और वात्सल्य का विचित्र सम्मिश्रण है, तो दूसरी और मूर्तिमती वीरता, शक्ति और प्रणय की प्रतिमा है। इच्छा होती है कि युग-युग तक इन्हीं स्नेह-मूर्तियों की छत्र छाया में --- रहूं ---।"[1] सेठ गोविन्ददास ने भी नारी-मन को परखने की चेष्टा की है। लेकिन "हिंसा या अहिंसा" में सौदामिनी और अलकनन्दा क्रमिक भावों से प्रेरित हैं। सौदामिनी वैभव को स्थिर रखने के लिए संत-पुत्र दीनदयाल में क्रूर भावों का समावेश कर देती है, लेकिन अलकनन्दा उसके इस प्रयत्न से सहमत नहीं। यदि स्त्री स्त्रैण नहीं तो वह घोर अनर्थ कर देती है। सच्ची स्त्री कोमल होते हुए भी केवल कोमल नहीं होती, उसमें आशा, विश्वास, और त्याग की ताकत रहती है, इसी के द्वारा वह अपने आस-पास के जगत में स्वर्गीय रचना करने की क्षमता रखती है।[2]

नारी के अन्दर प्रेम और त्याग विश्व में जीवन को सरल करते हैं। पुरुष की अपेक्षा नारी का हृदय अधिक दयामय एवं प्रेममय होता है। स्व०रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसी बात का समर्थन करते हैं।[3] श्री जागेश्वर प्रसाद ने रामकथा के अन्तर्गत सीता द्वारा भी नारी के दोनों प्रमुख रूपों को कहलवाया है। सीता रावण से कहती है--" ----- जानता नहीं ? नारी के भीतर त्रैलोक्य समाहित है। नारी यदि कुसुम सी कोमल है तो कुलिश सी कठोर भी --- नारी तब तक नारी है, जब तक उसमें मर्यादा का व्यवहार है। इसके बाहर वह प्रलय है, विध्वंस है। सीमा के भीतर नारी मानवी है और सीमा के बाहर दानवी ---।"[4] सीता की सुकुमारता तो प्रसिद्ध है, लेकिन समयानुसार उस सुकुमारी सती को भी अपना शक्तिमय कठोर रूप दिखाना पड़ा। ठीक ही कहा है

---

१ कंकालता सब्बरवाल :"आदित्यसेन गुप्त", १९५२ई०, प्र०सं०, पृ०११६, अंक५, दृश्य५
२ सेठ गोविन्ददास :"हिंसा या अहिंसा", १९५२ई०, प्र०सं०, पृ०६१, अंक३।

३ " Woman is endowed with the Passive qualities of chastity, modesty, devotion & Power of self -sacrifice, in a greater measure than man is. It is thes Passive quality in nature which turns its monster forces into perfect creations of beauty.." by Rabindra Nath Tagore. Personality. P. 173

4rth Edition. 1948.

४ श्री जागेश्वरप्रसाद : "अभिषेक", १९५६ई०, पृ०२१-२२, अंक१दृश्य ५

कि नारी मानवी एवं दानवी दोनों है । लक्ष्मीनारायण मिश्र ने पौराणिक कथानक में भी नारी की मूलभूत प्रवृत्ति का समर्थन किया है । चन्द्रभागा के प्रेम को मेनका की पूर्ण सहानुभूति प्राप्त है । जब वर कहता है कि यह स्थिति राजमहिषी के योग्य तो नहीं है, तो मेनका कहती है--" राजमहिषी होकर भी नारी, नारी है आचार्य । मन की वही निर्बलता,बुद्धि का वही अभाव... । उसको गौरव की आड़ में छिपाया नहीं जा सकता ।"[1]

नारी की एक स्वाभाविक मानसिक दुर्बलता यह भी रहती है कि वह दिखावा ज्यादा करती है । वृन्दावनलाल वर्मा की माया व कामिनी का मनोवैज्ञानिक उतार-चढ़ाव कुछ ऐसा ही है । कामिनी विवाह को कला की प्रगति में बाधक मानती है, लेकिन वह केवल ऊपरी दिखावा रहता है । अभिमान को तिरस्कार में प्रदर्शित करती है । स्वर्ण के लिये बराबर यही दिखाती रहती है कि उसे उसकी चाह नहीं है । स्वर्ण की रसायन क्रिया को कला की प्रगति के लिए सीखती है, लेकिन वस्तुत: स्वर्ण उसकी स्वाभाविक कमजोरी है । सिद्ध द्वारा स्वर्ण ले भागने पर दोनों की शोचनीय अवस्था उनकी आन्तरिकता को प्रकट करती है ।[2] व्यास मे०रा० का "बहन का बदला" नाटक भी नारी के स्वभाव पर किंचित् प्रभाव डालता है । नवीना बहन रेखा की दुर्दशा देखकर अत्यन्त क्षुब्ध हो जाती है । पुरुष जाति के प्रति उसके मन में एकदम वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है । लेकिन सुधीर उसे लता का उदाहरण बता कर नारी की वास्तविकता को सामने रखना चाहता है । लता ने सिर्फ पिता एवं वैभव के घराने की इज्जत बचाने के लिए अपने को होम कर दिया । वरना कुमार जैसे लड़के को वह कभी न छोड़ती । लेकिन त्याग ही नारी का रूप है । सुधीर नवीना से कहता है--" मैं वहां से सीख कर आया हूं, नारी जीवन ही त्यागमय है --- ।"[3] श्री हरिकृष्ण प्रेमी की नारी के मनोवैज्ञानिक रूपों से परिचित हैं । रत्नसिंह अपनी

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : "नारद की वीणा", १९४६ई०,प्र०सं०,पृ०७९,अंक २

२ वृन्दावनलाल वर्मा : "फूलों की बोली", १९४७ई०, प्र०सं०,पृ०४८-४९,अंक १ दृश्य ३ ।

३ व्यास मे०रा० : "बहन का बदला", १९५७ई०, पृ०१९, अंक १

भाभी से कहता है कि नारी केअनेक रूप हैं। उसके रूपों को कौन समझ सकता है। 'वह कल्याणकारी अन्नपूर्णा भी है, लक्ष्मी भी है,सरस्वती भी है, तो महाकाली, भैरवी,भयंकर भी है। --- उसकी कोमलता की ओट में दृढ़ता छिपी है और दृढ़ता के अन्तराल में कोमलता।"[1] नारी ने सदैव उसी पुरुष की चाह की है, जो अभिमानी हो, स्त्री का अनुगता न हो। 'दशाश्वमेध' नाटक की कौमदी की मानसिक चाह ऐसी ही है। नारी भले मानिनी है,इसमें कोई सन्देह नहीं, लेकिन उसने भी सदैव कठोर पुरुषत्व को ही चाहा है। यह नारी-मन का एक सत्य है। कौमुदी अंगारक को नहीं,नागराज वीरसेन को वरण करना चाहती है,क्योंकि उसमें संयम एवं कठोरता है। वह कहती है, --" मुझे वह पुरुष चाहिए --- जिसकी परछाईं मैं बनूं, पर जो पुरुष मेरी परछाईं बन गया, संयम और धैर्य का बांध जिसका टूट गया --- वह मेरा पति बनेगा ? --- जो मुझे जीतकर विवश कर देगा --- उसके कण्ठ की माला मेरी बाहें बनेंगी।"[2] पुरुष की निस्पृहता स्त्री के लिए आकर्षण का विषय है। 'स्वप्नभंग' की जहांनारा एवं रौशनआरा एक ही पिता की सन्तान। लेकिन दोनों विरोधी स्वभाव की है। जहांनारा अत्यन्त कोमल प्रकृति की है, वहां रौशनआरा उन्नति के अन्तिम शिखर तक पहुंचने के लिए सबको मिटा देना चाहती है। वह अपनी ईर्ष्या की आंधी में स्वयं ही उड़ती रहती है, पता नहीं कि किधर जाना चाहिए ? वह स्वयं सोचती है--" ईर्ष्या की आंधी में उड़कर मैं कहां आ गई हूं। मैं नारी हूं। नारी का अस्तित्व प्रेम करने के लिए है, संसार को स्नेह के निर्मल झरने में स्नान कराने के लिए है। मैं अपना स्वाभाविक धर्म छोड़कर हिंसा का भयानक खेल खेलने चली हूं।"[3] उस नारी के हृदय में बहन जहांनारा ,भाई दारा, पिता शाहजहां आदि के लिए किसी प्रकार का प्रेम भाव नहीं उत्पन्न होता है। शाहजहां जहांनारा बेटी से जिस मोहब्बत को प्राप्त करता है, वह रौशनआरा से नहीं प्राप्त कर पाता है। वह कहता है, --" ---- नारी तुम फूल से अधिक

---

१ हरिकृष्ण प्रेमी : 'मित्र',१९४८ई०,द्वि०सं०,पृ०१७,अंक १,दृश्य ५

२ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'दशाश्वमेध', प्र०सं०, पृ०२३, अंक१

३ हरिकृष्ण प्रेमी : 'स्वप्नभंग',१९४९ई०,द्वि०सं०,पृ०३२ अंक१

कोमल और पाषाण से अधिक कठोर हो ---[१]।" यही वास्तविकता है, फूल भी प्रकृति का अंश है और पत्थर भी प्रकृति का अंश है, लेकिन एक कोमल है,दूसरा कठोर, एक ही प्रकृति के दो रूप। चतुरसेन शास्त्री के "अजीतसिंह" नाटक में रजिया ने कर्तव्य के सम्मुख प्रेम को महत्त्व नहीं दिया है। अजीत सिंह उसके प्रेम में पागल होकर जब उस तक पहुंचता है तो वह धिक्कारती है, उसे फर्ज अदा करने को कहती है,तब अजीतसिंह सोचते हैं,कि स्त्री के भावों को, उसके मनोवेगों को समझना कठिन है।"जब यह प्रेम और भावुकता में डूबकर कोमलता के भावों की सृष्टि करती है तब --- भावनाओं के फूल खिलते हैं --- परन्तु जब वह हठ पकड़ती है, तब वज्र की भांति अचल और कठोर हो जाती है, उस समय पौरुष उसके निकट --- विफल हो जाता है ---[२]।" यही तो नारी-स्वभाव की विशेषता है। नारी का मानसिक सुख,समर्पण में निहित है। वह किसी को अपना सब कुछ समर्पित करने के लिए व्यग्र रहती है। यह नारी की नैसर्गिक इच्छा है। सेठ गोविन्ददास के "सुख किसमें" नाटक में प्रेमपूर्णा अपने पति से यही कहती है कि जिन बातों से उसे सुख मिलता है, उसी से प्रेमपूर्णा भी सुखी रहती है[३]। लेकिन सृष्टिनाथ उसके इस समर्पण के सुख को देर से समझ पाता है,इसलिए उतने अन्तराल में यह असन्तोषी व्यक्ति बाहर घूमा-घूमा फिरता है। नारी की भावना इसी रूपमें अत्यन्त कोमल है।

नारी के हृदय का स्नेह ही उसका सबसे बड़ा बन्धन है।जब नारी-स्नेह से आप्लावित रहती है, वह अपना सब कुछ उत्सर्ग कर देती है, यही स्नेह की डोर उसे कठोर से कठोर पथ से विचलित नहीं होने देती है। हरिकृष्ण प्रेमी अपने नाटक "विषपान" में यही दिखाते हैं--" महारानी अपनी पुत्री से कहती है--" बेटी नारी के हृदय का स्नेह, उसका सबसे बड़ा बन्धन है।इसने स्नेह की जंजीरों से अपने-आपको सब तरफ से जकड़ रखा है। यह बन्धन ही उसका सबसे बड़ा सुख है[४]।"

---

१ हरिकृष्ण प्रेमी : "स्वप्नभंग",पृ०६६,अंक ३,दृश्य २

२ चतुरसेन शास्त्री : "अजीत सिंह",१६५४ई०,प्र०सं०,पृ०१३०,अंक४, दृश्य ३

३ सेठ गोविन्ददास : "सुख किसमें",१६५४ई०, पृ०६२, अंक ३ दृश्य२

४ हरिकृष्ण प्रेमी : "विषपान",१६५१ई०,प्र०सं०,पृ०५,अंक १दृश्य१

नारी का मनोवैज्ञानिक उतार-चढ़ाव काफी रोचक है । नारी अपने मूल रूप में सृष्टि का एक अत्यन्त कोमल तत्व है--इसमें सन्देह नहीं । लेकिन नारी के अन्दर कहीं-न-कहीं ईर्ष्या भी निहित रहती है, जो वैसे तो सुप्तावस्था में रहती है,लेकिन यदि उसका कहीं भी अपमान होता है,तो फिर वह अत्यंत उग्र रूप धारण कर लेती है । उसकी कठोरता, प्रस्तर से भी कठोर हो जाती है । कठोरता में एक अपूर्व दृढ़ता रहती है,जो मरण की भी परवाह नहीं करती ।अपमानित जीवन उसे सह्य नहीं है । वह मान का जीवन ही जीती है । मान के जीवन में, फिर वह अपना सब कुछ अर्पण कर देने में ही सुख का अनुभव करती है । प्रेम, उसके जीवन का कोमल से कोमल, तथा कठोर से कठोर पक्ष है । इर्षा में तो उसके जीवन की सार्थकता निहित है । आलोच्यकाल के नाटककारों ने नारी के मनोभावों का सफलता के साथ चित्रण किया है ।

उपसंहार

नर और नारी जीवन के दो प्रमुख आधार-स्तम्भ हैं । इसीलिए जीवन का कोई भी अंग नर या नारी से विहीन कभी हो ही नहीं सकता। साहित्य की भी सृष्टि इन्हीं के इर्द-गिर्द होती है । हमने पिछले अध्यायों में देखा कि नाटककारों ने सम-सामयिक नारी-समस्याओं को उठाया और उनका समाधान भी प्रस्तुत किया । नाटककारों की सम्पूर्ण सहानुभूति नारी जीवन से रही है । मध्ययुग में नारी की अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई थी । उसका कोई सामाजिक अस्तित्व नहीं रह गया था । वह व्यक्ति से मात्र वस्तु भर ही रह गई थी । जब तक समाज में व्यक्तिगत महत्व रहता है, तब तक तो उसे अपना वास्तविक सम्मान प्राप्त होता है, लेकिन जहां वस्तु का कोई विशेष महत्व नहीं रहता, केवल उसके निर्जीव आकार का महत्त्व रहता है, वहां किसी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान नहीं रहता । मध्ययुग में नारी, मात्र भोग की वस्तु बन गई थी ।उसके लिए किसी भी प्रकार के विकास की आवश्यकता को समाज ने महसूस नहीं किया । नारी की अशिक्षा और वैवाहिक कुण्ठाओं सभी ने नारी की आत्मा को सम्पूर्ण रूप से कुचल दिया था । आलोच्यकाल के लगभग सभी नाटककारों ने किसी-न-किसी समस्या को अवश्य चित्रित किया है, और समाज को भी सचेत करने की कोशिश की है । उन्होंने स्वयं नारी को अपनी ही समस्याओं को स्वयं दूर करने के लिए शक्ति प्रदान की । फलत: पुनर्जागरण की लहर के साथ ही नारी ने जागृत हो स्वयं अनेक संगठन कायम किए और अपने उच्च मनोबल के साथ जीवन-संग्राम में कूद पड़ी ।

आलोच्यकाल के नाटककारों ने सुधार के नाम पर आदर्श का परित्याग नहीं किया । उन्होंने प्र अपने प्राचीन भारतीय नारी-आदर्श के परिप्रेक्ष्य में ही सम-सामयिक नारी को देखना चाहा । एक तरफ तो उन्होंने मध्ययुगीन

रूढ़ियों का परित्याग किया तो दूसरी ओर उन्होंने तेजी से पढ़ने वाले पाश्चात्य प्रभाव का भी विरोध किया । वस्तुत: तथ्य तो यह है कि पाश्चात्य नारी-जीवन का हमारे भारतीय नारी जीवन से कदापि मेल नहीं हो सकता । हमारे वैदिक युग में भी नारी स्वतन्त्र अवश्य थी, लेकिन उसकी स्वतन्त्रता भारतीय मर्यादा से युक्त थी ।

१९ वीं शताब्दी नाटक के उद्भव का काल तो था ही, इसीलिए नाटक-साहित्य अपने अवयवों का पूर्ण विकास नहीं कर पाया था । सीधे-सादे अधिकतर पौराणिक सन्दर्भ ही नाटक के विषय रहते थे । उसके बाद २० वीं शताब्दी के आरम्भकाल में तथा १९४७ई० तक हम देखते हैं कि नाटककारों के नारी के विषय में कुछ विशेष दृष्टिकोण रहे हैं । एक तो कुछ नाटककारों ने पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानकों एवं चरित्रों के माध्यम से नारी समाज के सम्मुख एक व्यवस्थित जीवनयापन प्रणाली प्रस्तुत की एवं साथ ही प्रेरणा भी प्रदान की है । पौराणिक कथा-सन्दर्भों में द्रौपदी, दमयन्ती, पार्वती, सावित्री आदि विशेष चरित्र रहे हैं-- यथा नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र[1], कन्हैयालाल[2], राधेश्याम[3] कथावाचक, बलदेवप्रसाद खरे[4], जमुनादास मेहरा[5], कन्हैयालाल भरतपुर[6], रामशरण[7],

---

१ सत्य हरिश्चन्द्र -- १८७५
सती प्रताप -- १८८३
२ अंजना सुन्दरी -- १९०६
३ श्रवणकुमार -- १९१६
परमभक्त प्रह्लाद -- १९२५
सती पार्वती -- १९३६
४ सत्यनारायण -- १९२२
राजाशिवि -- १९२३
५ सतीचिन्ता -- १९२०
देवयानी -- १९२२
६ शील सावित्री -- १९२३
७ सती सीता -- १९२५

उमाशंकर मेहता[1], कृष्णकुमार मुखोपाध्याय[2], कैलाशनाथ भटनागर[3], गौरीशंकर मिश्र[4] प्रभृति ने अपने- अपने नाटकों में चित्रित किया है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पौराणिक आदर्शानुसार शैव्या, सावित्री में एकनिष्ठ प्रेम एवं सतीत्व का आदर्श स्थापित किया है । पति के प्रति नारी का दृढ़ एवं स्वस्थ प्रेम-नारी जीवन को एक नई गति देता है । पौराणिक नारी चरित्रों ने,युग को सत्य, प्रेम, त्याग,पातिव्रत्य,धर्माचरण का पालन करने का सन्देश दिया है ।

ऐतिहासिक नाटकों का भी पर्याप्त महत्व है । चन्द्रराज भण्डारी[5], जयशंकर प्रसाद[6], गोविन्दवल्लभपंत[7], कृष्णलाल वर्मा[8], हरिकृष्ण प्रेमी[9], उदयशंकर भट्ट[10], सेठ गोविन्ददास[11],कंचनलता सब्बरवाल[12],संत गोकुलचन्द[13] आदि ने ऐतिहासिक नारी पात्रों की अवतारणा की है । इन नाटकों में नारी आदर्शों के साथ-साथ सामाजिकता में भी बद्ध है । ऐतिहासिकता वर्तमान युग के अनुरूप है । ऐतिहासिक नारी पात्रों की अवतारणा में जयशंकर"प्रसाद"के नाटक सशक्त हैं ।उनके नारी

---

१ अंजना सुन्दरी -- १९२९
२ अर्जुनपत्र बभ्रुवाहन -- १९२९
३ श्रीवत्स -- १९४१
४ भक्त मीरा -- १९४३
५ सिद्धार्थ कुमार -- १९२२
६ सम्राट अशोक -- १९२३
६ अजातशत्रु -- १९२२
स्कन्दगुप्त -- १९२८
चन्द्रगुप्त -- १९३१
ध्रुवस्वामिनी -- १९३४
राज्यश्री -- १९४५
७ वरमाला -- १९२५
राजमुकुट -- १९३५
अन्तःपुर का छिद्र -- १९४०
८ रणजीत सिंह -- ?
९ रक्षाबन्धन -- १९३४
प्रतिशोध -- १९३७
आहुति -- १९४०
उद्धार -- १९४९
स्वप्नभंग -- १९४९
विषपान -- १९५१
१० अम्बा -- १९३५
११ हर्ष -- १९३६
कर्ण -- १९४६
१२ आदित्यसेनगुप्त -- १९४२
१३ चण्डप्रतिज्ञा -- १९४०
विरोध -- १९४६

पात्रों की टूटन भी पुरुष की प्रेरणा बनती है। सभी नारी पात्र भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में ही आए हैं। वीरता, निर्भयता, देशभक्ति, दया, करुणा, परदुःखकातरता आदि सभी मानवी गुणों से युक्त प्रेम ही दाम्पत्य रूप में सफल होता है। नारी का यही प्रेम, संस्कृति के उत्थान में सहायभूत होता है, जो एक अनुपम अवलम्ब है, जो निर्मल, शीतल, गद्गद् और आकुलता भरी धारा बनकर बहता है। यही आहत जीवन को हरा-भरा करता है। नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी' ऐतिहासिक सन्दर्भों में नारी के कोमल एवं कठोर दोनों रूपों को बड़ी कुशलता से प्रकट कर सके हैं। नारी के कुसुम कोमल कलेवर में कुलिश की विधायक शक्ति होती है। विश्वजनीन समस्या है--शान्ति, प्रेम और एकसूत्रता शक्ति तथा उसका निदान भी करती है नारी। 'प्रेमी' जी के नाटकीय कथानक उस काल के हैं, जब कि मुस्लिम शासकों की गिद्ध दृष्टि नारी के सतीत्व हरण को ही अपनी वास्तविक विजय मानती थी। उस समय नारियों ने अपनी एवं अपने देश की मर्यादा की रक्षा, जीवन की बलि देकर की। कोमलता उनकी शक्ति बनी। आदर्श स्वरूप यह नारियां, नारी-जीवन के लिए मार्ग प्रदर्शित करती हैं। मात्र किसी प्राचीन परम्परा का पालन ही आदर्श नहीं, वरन् आदर्श तो मानव जीवन की आन्तरिक व्याख्या है। आन्तरिक पक्ष में मानसिक सुख, परितोष आता है। मानव की चेतना तब तक भटकती रहेगी, जब तक वह वास्तविक आनन्द को प्राप्त न कर पायेगी। परिस्थितियों के अनुसार जीवन-मूल्यों की सुरक्षा, जो उन्हें मानसिक परितोष दे पाए, सच्चे अर्थ में आदर्श होगा। जीवन मूल्यों की सुरक्षा-प्रणाली में कहीं भी कोई छिद्र न दिखाई दे। यही कारण है कि परिस्थितिगत नारी की कठोरता भी उचित ही रहती है। ऐतिहासिक नाटकों में वर्णित नारी-जीवन वर्तमान में भी एक प्रेरणा बना है। नारी ने अपनी मर्यादा, कोमलता को अक्षुण्ण रखते हुए किस प्रकार राजनैतिक प्रतिनिधित्व किया, यह एक आकर्षण का विषय है।

आलोच्यकाल के नाटककारों में दूसरा प्रयत्न वह मिलता है, जिसमें नाटककारों ने नारी के पाश्चात्य स्वरूप के प्रति अपनी सहमति नहीं दी है। मध्ययुगीन नारी समस्याएं तो क्रमशः समाप्त हो चली थीं, लेकिन उनकी जगह पर नारी-जीवन पर पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभाव ने अन्य समस्याएं उत्पन्न कर दीं। नाटककारों ने पश्चिमी प्रभाव से प्रभावित नारी-जीवन के खोखलेपन को दिखाकर

नारी के सामने उसकी भूल को चित्रित किया है। नाटककार उपेन्द्रनाथ अश्क[1], सत्यजीवन वर्मा[2], लक्ष्मीनारायण मिश्र[3], पृथ्वीनाथ शर्मा[4] प्रभृति ने अपने नाटकों में इसी प्रकार की समस्याओं को चित्रित किया है। इस समय समस्याएं अधिक यथार्थ एवं कठोर थीं। सेक्स समस्या इस समय प्रमुख होकर नाटकों में आई। नारी-समस्या पर व लेखक ने ध्यान केन्द्रित किया। इस युग की नारी अधिक मुखर है। रूढ़ि के विरुद्ध वह विद्रोह पूर्ण विचार प्रकट करती है, लेकिन साथ ही प्राचीन संस्कारों से भी पूर्ण मुक्त नहीं हो पाई है, इसीलिए इनमें एक घुटन व्याप्त है।

नाटककार 'अश्क' के नाटकों में नारी के प्राय: सभी प्रकार के स्वरूप चित्रित हैं। इनके नाटकों में ऐसी नारियां मिलती हैं, जो पुरानी पारिवारिक, रूढ़ियों और संस्कारों से युक्त हैं। 'कैद' की 'अप्पी', 'अलग-अलग रास्ते' की 'राज' ऐसी ही ग्रस्त मनोदशा वाली हैं। ऐसी भी नारियां हैं, जो इन रूढ़ियों से निकलने के लिए व्याकुल हैं। 'अलग-अलग रास्ते' की रानी में प्राचीनता से मुक्त होने की छटपटाहट है, और वह समस्त बन्धनों को ठोकर मार, चैन की सांस लेती है। कहीं-कहीं नारी ने रूढ़ियों के बन्धन काटने के प्रयत्न में स्वाभाविक मानसिक वृत्तियों को भी तिलांजलि दे दी है। बाह्य जगत में मनोरंजन मनाती हुई घर की अवस्था शोचनीय बना देती है। ऐसी नारियों की झलक, उनके नाटक 'स्वर्ग की झलक' में मिलती है। नाटककार ने समस्या का निदान, रघु की भाभी में नए और पुराने आदर्शों का सम्मिश्रण कर किया है। 'अश्क' जी नारी के इन समस्त स्वरूपों का हल 'उड़ान' की 'माया' में करते हैं, जो पुरुष की दासी, देवी या

---

१ स्वर्ग की झलक -- १९३९
  उड़ान -- १९५५
२ मिस ३५ का पति निर्वाचन -- १९३५
३ सन्यासी -- १९२९
  राक्षस का मन्दिर -- १९३२
  राजयोग -- १९३४
४ दुविधा -- १९३७
  साध -- १९५४

भोग्या मात्र न बनकर, उसकी सहचरी बनना चाहती है ।

नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र बुद्धिवादी नाटककार होते हुए भी अपने को भावुकता एवं सामाजिकता से मुक्त नहीं कर पाए हैं । घूम-फिर कर नारी प्राचीन संस्कारों से ही चिपकी रह जाती है । फिर भी मिश्र जी ने नारी को अपने विषय में आप ही निर्णय करने की शक्ति भी प्रदान की है ।

वस्तुत: १६०० से १६४७ तक के इस काल में नाटकों में जो भी नारी चित्रण हुआ, उससे यही पता चलता है कि नाटककारों ने नारी को गौरव-पूर्ण दृष्टि से देखा है । उन्होंने नारी के लिए हमारी भारतीय संस्कृति के अनुरूप आचरण को ही महत्व दिया है । वे न तो मध्ययुगीन सामाजिक बलात्कारों से ही सहमत थे, न उन्होंने नारी-जीवन पर पड़ने वाले पाश्चात्य जीवन प्रभाव को ही स्वीकारा है । नारी जीवन की सार्थकता उसके मातृत्व में है । इसी में उसका गौरव निहित है । नारी का गौरव ही, समाज व देश का गौरव है । रूढ़ियों से विद्रोह करने वाली नारी के प्रति उनकी सहानुभूति है, लेकिन जहां उसने घर और समाज को नष्ट करने का प्रयत्न किया है, वहां नाटककार की घृणा भी उत्पन्न हो गई है । न तो वे नारी को, पुरुष की दासी बनाना चाहते हैं, न देवी या खिलौना । वे उसे मात्र सच्ची सहचरी के रूप में देखना चाहते हैं । उसका संगिनी रूप ही श्रेयस्कर समझते हैं ।

आज की उच्च शिक्षा नारी के अहं का एक कारण हो सकती है । उच्चशिक्षा विभूषिता नारी सोच सकती है कि जब उसमें और उसके पति में शिक्षा का स्तर सम है, तब परिवार की कोमल भावना का वही क्यों ख्याल करे ? वही क्यों घर के बच्चों व रसोई की चिन्ता करे ? तो फिर वही नारी, पुरुष कार्यों से अपने कार्यों को परिवर्तित कर देते । यह स्थिति भी शायद ही उसे सहन हो पायगी । महत्वाकांक्षा से युक्त ऐसी नारी को विवाह पूर्व ही निर्णय कर लेना चाहिए। -या तो वह अविवाहित रहकर अपनी शिक्षा का उपयोग करे या फिर उसे पारिवारिक

जिम्मेदारियों से कहीं न कहीं समझौता करना ही पड़ेगा । परिवार के स्नेह को (संतान को) नारी ही तुष्ट कर सकती है । उसके लिए उसे त्याग करना ही पड़ेगा। यही त्याग और तपस्या उसकी सच्ची साधना होगी । जब उसकी दृढ़ता एवं साहस, मातृसुलभ कोमल हृदय के साथ प्रकट होगा, तब एक नवीन [illegible] जीवन का आरम्भ होगा । पारिवारिक जिम्मेदारी एवं बाह्य व्यस्तता दोनों की सफलता उसकी समयोचित बुद्धि निर्णय पर निर्भर रहेगी ।

आधार पुस्तकों की सूची

आधार पुस्तकों की सूची

अवधकिशोरदास 'वैष्णव' --'रामानन्द' प्रकाशन-काल १९३५ई०, प्रथम संस्करण

आनन्दप्रसाद कपूर --'अत्याचार', प्रकाशन काल १९२६
उपन्यास बहार आफिस, काशी ।
'सुनहला विष', प्रका०काल १९१९ई०, प्रथम संस्करण ।
मोहनलाल वर्मा काशी ।

आनन्दप्रसाद श्रीवास्तव --'अछूत', प्रका०काल १९३०ई०, द्वि०सं०
आनन्दप्रसाद श्रीवास्तव, इलाहाबाद

'आरजू' अब्दुल समी साहब --'कलियुग की सती', प्रका०काल १९२३ई० ,प्रथम संस्करण
उपन्यास बहार आफिस काशी

इन्द्र वेदालंकार विद्यावाचस्पति--'स्वर्ण देश का उद्धार', प्रका०काल १९२१ई०, प्रथम सं०।
गुरुकुल कांगड़ी ।

ईश्वरीप्रसाद शर्मा --'रानी सुन्दरी', प्रका०काल -१९२५ई० प्रथम संस्करण
आनन्दकुमार जैन, वीरमंदिर, आरा ।

उदयशंकर भट्ट --'अम्बा', प्रका०काल१९३५ई०, प्रथम सं०, मोतीलाल बनारसी
दास ,लाहौर ।
'दाहर अथवा सिन्ध पतन', प्रका०काल १९३४ई०, द्वि०सं०
पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर ।
'कमला', प्रका०काल १९३९ई०, प्रथम संस्करण
सूरी ब्रदर्स ,गनपतरोड, लाहौर

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' --'जयपराजय', प्रका०काल१९३७ई०, प्रथम संस्करण।
मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर ।
'स्वर्ग की झलक', प्रका०काल१९३९ई०, प्रथम सं०
मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर ।
'कैद', रचनाकाल ४३-४५ई०, प्रका०काल१९५५, द्वि०सं०

--'उड़ान', रचना-काल१९४६ई०,प्रका०काल१९५५,द्वि०सं०
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद।
'अलग-अलग रास्ते',प्रका०काल १९५४ई०,प्र०सं० ।
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद

उमाशंकर मेहता --'अंजना सुन्दरी',प्रका०काल १९२९ई०,प्रथम सं०
एस०मेहता एण्ड ब्रदर्स काशी।

उमाशंकर सरमंडल --'अनोखा बलिदान', प्रका०काल १९२८ई०,प्रथम सं०
हरिशंकर सरमंडल,उमेश पुस्तक भण्डार,कैसरगंज,अजमेर ।

कंचनलता सब्बरवाल --'आदित्यसेन गुप्त',प्रका०काल १९४२ई०, प्रथम सं० ।
लखनऊ दैनिका ।

कन्हैयालाल --'अंजना सुन्दरी',प्रका०काल १९०९ई० ,वेंकटेश्वर प्रेस,बम्बई

कन्हैयालाल भरतपुर --'शील सावित्री',प्रका०काल १९२३,वेंकटेश्वर प्रेस,बम्बई

कामताप्रसाद गुरु --'सुदर्शन',प्रका०काल १९३१ई०, रामनारायणलाल,इलाहाबाद

कासिमअली 'सैयद' --'ग्रामसुधार',प्रका०काल १९३१ई० ,प्र०सं०,
साहित्य सदन,अबोहर ,पंजाब

किशनचन्द जेबा --'शहीद सन्यासी',प्रका०काल १९२७ई०,
ला० लाजपतराय एण्ड संस,लाहौर ।
--'ग़रीब हिन्दुस्तान',प्रका०काल १९२२ई०,प्र०सं०
सन्तसिंह एंड संस, लाहौर ।

किशोरीदास वाजपेयी --'सुदामा', प्रका०काल १९३८ई०, पटना पब्लिशर्स,पटना

कुंजीलाल जैन --'धर्मविजय',प्रका०काल १९२१ई०, प्रथम सं०
शिवरामदास गुप्त, उपन्यास बहार आफिस,काशी ।

कुमार हृदय --'निशीथ',प्रका०काल १९३४ई०,प्र०सं०,एल०डी०वाजपेयी,इलाहाबाद।
--'सरदार बा',प्रका०काल १९३८,एल०डी०वाजपेयी,इलाहाबाद
--'नबी का रंग',प्रका०काल १९४१,प्र०सं०
सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद ।

कुसुमप्यारी देवी --'वीरक्षत्रियदारबाई',प्रका०काल १९३६ई०,प्र०सं०।
कुसुमप्यारी अवस्थी, नवबस्ता,लखनऊ ।

केशवराम भट्ट —'सज्जादसुम्बुल', प्रका०काल१९०४ई०, प्र०सं०
बिहार बंधुप्रेस, बांकीपुर, पटना ।

कैलाशनाथ गुप्त —'ड्रामा बहुत भक्ति', प्रका०काल १९३८ई०

कैलाशनाथ भटनागर —'श्री वत्स', प्रका०काल १९४१ई०, प्रथम सं०,
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

कृपानाथ मिश्र —'मणि गोस्वामी, प्रका०काल १९२२ई०, प्र०सं०
पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, दरभंगा

कृष्णकुमार मुखोपाध्याय —'अर्जुनपुत्र बभ्रुवाहन' प्रका०काल १९३९ई०
श्रीलाल उपाध्याय, काशी ।

(श्री)कृष्ण मिश्र —'देवकन्या' प्रका०काल १९३६ई०, प्र०सं०, वाणी मंदिर, मुंगेर

कृष्णलाल वर्मा —'दलजीत सिंह, प्रका०काल ? प्र०सं०, प्रियमाला कार्यालय
गौशाना ।

कृष्ण स्वरूप —'महात्मा कबीर, उपन्यास बहार आफिस काशी

गंगाप्रसाद श्रीवास्तव —'दुमदार आदमी', प्रका०काल १९१९ई०,

गोकुलचन्द्र शास्त्री —'वणप्रतिज्ञा', प्रका०काल १९४०ई०, प्र०सं०
ओरियण्टल बुक डिपो, लाहौर ।
—'हिरोल', प्रका०काल १९४४ई०, प्र०सं० ।

गोपाल दामोदर तामस्कर —'राजा दिलीप', प्रका०काल १९२७ई०, प्र०सं०,
इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ।
—'राधामाधव या कर्मयोग', प्रका०काल १९२८ई०,
कृष्णराव माधे, जबलपुर ।

गोविन्ददास(सेठ) —'विश्वप्रेम', प्रका०काल १९१७, प्र०सं०
भारतीय विश्व प्रकाशन, फव्वारा दिल्ली ।
—'कर्तव्य', प्रका०काल १९३५ई०, प्र० सं०
महाकोशल साहित्य मंदिर, गोपालबाग, जबलपुर ।
—'प्रकाश', प्रका०काल १९३५ई०, द्वि०सं०
महाकोशल साहित्य मंदिर, गोपालबाग, जबलपुर ।
—'हर्ष', प्रका०काल१९३५ई०, प्र०सं०स०पी०विश्वकर्मा, जबलपुर ।

--"सिद्धान्तस्वातन्त्र्य",प्रका०काल १९३८ई०,भारतीय विश्व
प्रकाशन, फव्वारा,दिल्ली ।
--"कुलीनता",प्रका०काल १९४१ई०,प्र०सं०,नाथूराम प्रेमी,बम्बई
--"दलित कुसुम",प्रका०काल १९४२ई०
गयाप्रसाद एण्ड संस,[illegible] रोड,आगरा ।
--"हिंसा या अहिंसा",प्रका०काल १९४२ई०,प्र०सं०
रायसाहब रामदयाल अग्रवाल, इलाहाबाद
--"त्याग या ग्रहण",प्रका०काल,१९४३ई०
राय साहब रामदयाल अग्रवाल, इलाहाबाद
--"[illegible]ा पथ",प्रका०काल १९४३ई०
--"संतोष कहां ?"प्रका०काल १९४५ई०
कल्याण साहित्य मंदिर,प्रयाग ।
--"पाकिस्तान",प्रका०काल १९४६ई०,प्र०सं०
किताबमहल,इलाहाबाद ।
--"कर्ण",प्रका०काल १९४६ई० ,प्र०सं०,
विद्यामंदिर प्रकाशन, मुरार,ग्वालियर
--"दु:ख क्यों?",प्रका०काल १९४६ई०
गयाप्रसादएण्ड संस, आगरा ।
--"गरीबी या अमीरी",प्रका०काल १९४७ई०,प्र०सं०
हिन्दुस्तानी एकेडेमी,यू०पी०
--"सुख किसमें ?"प्रका०काल १९४९ई०
प्रगति प्रकाशन,दिल्ली ।
गोविन्दवल्लभ पंत --"वरमाला",प्रका०काल १९२५ई०,गंगापुस्तकमाला कार्यालय
लखनऊ ।
--"राजमुकुट",प्रका०काल१९३५ई०,प्र०सं०
गंगा फाइन आर्ट प्रेस,लखनऊ
--"अंगूर की बेटी",प्रका०काल १९३७ई०,प्र०सं०
गंगा फाइन आर्ट प्रेस,लखनऊ

--'अंतपुर का छिद्र', प्रका०काल, १९४०ई०, गंगाफाइन आर्ट प्रेस, लखनऊ ।

--'सुहागबिन्दी', प्रका०काल, १९४६ई०, तृतीय संस्करण लखनऊ गंगा ग्रन्थागार

गौरीशंकर मिश्र --'भक्त मीरा' प्रका०काल १९४३ई०, गंगा पुस्तकालय, लखनऊ

घनानन्द बहुगुणा --'समाज', प्रका०काल, १९३०ई०

ज्ञानदत्त सिद्ध --'मायावी', प्रका०काल, १९२२ई०, प्रथम सं०

चक्रधर सिंह --'प्रेम के तीर', प्रका०काल १९३५ई०, प्रथम सं० साहित्य समिति, रायगढ़

चतुरसेन शास्त्री --'उत्सर्ग' प्रका०काल १९२६ई०, द्वि०सं० गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ

--'अजीतसिंह', प्रका०काल १९४६ई०, तृतीय सं० अमरचन्द्र कपूर, दिल्ली ।

--'राजसिंह', प्रका०काल? प्रथम सं० मोतीलाल बनारसीदास, बनारस ।

चण्डीप्रसाद हृदयेश --'विनाशलीला', प्रका०काल १९२५ई०, चांदकार्यालय, इलाहाबाद

चन्द्रराज भण्डारी --'सिद्धार्थकुमार', प्रका०काल १९२२ई०, प्रथम सं० गांधी हिन्दी मंदिर, अजमेर

--'सम्राट अशोक', प्रका०काल १९२३ई०, प्रथम सं० गांधी हिन्दी मंदिर, अजमेर ।

चन्द्रदेव शर्मा --'गुरुजी की क़यामत', प्रका०काल १९३१ई०, प्र०सं० हिन्दी साहित्य सदन, देहुंनी, पो०काजीसराय(गया)

चन्द्रशेखर पाण्डेय --'करालचक्र', प्रका०काल १९३३ भारतीय भवन, बछरांव, रायबरेली

--'राजपूत रमणी', प्रका०काल १९३७ई०

चन्द्र त्यागी -- 'वर्षा',प्रका०काल १९३७ई०,प्रथम सं०
रामकिशोरीराज बोरहा,पो०हापुड़,जिला मेरठ

चन्द्रिकाप्रसाद सिंह -- 'कन्याविक्रय',प्रका०काल १९३७ई०,प्रथम सं०

ज्वालाप्रसाद दुबे -- 'नवीन प्रताप',प्रका०काल१९३१ई०,प्रथम सं०

जगन्नाथशरण -- 'कुरुक्षेत्र',प्रका०काल १९२८ई०,प्रथम सं०
छपरा जांबलिया,बिहारीलाल ।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी -- 'मधुरमिलन',प्रका०काल १९२३ई०,प्रथम सं०
गंगाप्रसाद भोतिका, कलकत्ता
-- 'तुलसीदास',प्रका०काल १९३४, गंगा ग्रन्थागार,लखनऊ

जागेश्वरप्रसाद -- 'अभिषेक', प्रका०काल,१९४६ई०

जमुनादास मेहरा -- 'सतीचिन्ता',प्रका०काल १९२०ई०,प्रथम संस्करण
-- 'देवयानी',प्रका०काल १९२२ई० ,प्रथम संस्करण
'कृष्णदास वाष्णी एण्ड कं०,चोरबागान,कलकत्ता
-- 'आदर्श बन्धु व या पाप परिणाम',प्रका०काल१९२४ई०
तृतीय संस्करण ,कृष्णदास वाष्णी एण्ड कं०चोरबागान
कलकत्ता ।
-- 'जवानी की भूल'प्रका०काल १९३२,प्र०सं०
हिन्दी पुस्तक एजेंसी,कलकत्ता ।
-- 'हिन्दू कन्या',प्रका०काल १९३२ई०,प्रथम सं०,
हिन्दी पुस्तक एजेंसी,कलकत्ता ।
-- 'पहिली भूल',प्रका०काल १९३२ई०,प्रथम संस्करण
-- 'बसन्तप्रभा उर्फ एक पैसा'प्रका०काल १९३४ई०प्रथम संस्करण
हिन्दी पुस्तक एजेंसी,कलकत्ता ।

जयनारायण राय -- 'जीवनसंगिनी',प्रका०काल१९४१ई०,हिन्दी नागरी प्रचारिणी
सभा।

जयशंकर 'प्रसाद' -- 'अजातशत्रु',प्रका०काल १९२२ई०,प्रथम सं०,इन्दु कार्यालय,बनारस
-- 'जनमेजय का नाग यज्ञ',प्रका०काल १९२६ई०
रामचन्द्र वर्मा साहित्य रत्न माला कार्यालय,बनारस ।
-- 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य',प्रका०काल१९२८,प्रथम सं०
भारती भण्डार,बनारस ।

--'विशाख',प्रका०काल १९२१ई०,इन्दुकार्यालय,बनारस

--'चन्द्रगुप्त',प्रका०काल १९३१ई०,प्रथम सं०

रायकृष्ण दास,बनारस ।

--'ध्रुवस्वामिनी',प्रका०काल १९३३ई०,प्रथम सं०,

रायकृष्ण दास,बनारस ।

--'कामना',प्रका०काल १९३७ई० ,वैदेही शरण लहेरियासराय

दरभंगा ।

--'राज्यश्री' प्रका०काल,१९४५ई०,छठा सं०

इन्दु कार्यालय,गोवर्धनसराय,काशी

ताराप्रसाद वर्मा —'आजकल'

तुलसीदत्त शैदा —'जनकनन्दिनी',प्रका०काल१९२५ई०,प्रथम सं०

--'लज्जा',प्रका०काल १९२७ई०,प्रथम संस्करण

--'नन्हीं दुल्हन',प्रका०काल १९३०ई०

इण्डियन सोशल रिफार्म,पब्लि०कलकत्ता

तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' —'मंजुमहोदय',प्रका०काल १९३८, मीरा मंदिर,बम्बई

द्वारिकाप्रसाद गुप्त रसिकेन्द्र—'अज्ञातवास',प्रका०काल १९२९ई०,प्रथम संस्करण

रसिकेन्द्र नाटकमाला, काल्पी

दीनानाथ व्यास —'धर्माचार्य',प्रका०काल १९५४,प्रथम सं०

पंडिताश्रम मंदिर,सिद्ध प्रिंटिंग प्रेस,उज्जैन ।

दुर्गाप्रसाद गुप्त —'महामाया',प्रका०काल १९१९,द्वि०सं०,एस०आर०बेरी

कलकत्ता ।

—'विश्वामित्र',प्रका०काल १९२१,उपन्यास बहार आफिस,काशी

—'भारतरमणी',प्रका० काल १९२५ई०,कलकत्ता,निहालचन्द्र,वर्मा

—'आँख का नशा',प्रका०काल १९३१ई०,द्वि०सं०,

रत्नाकर पुस्तकालय,बनारस ।

देवीप्रसाद —'आदर्श महिला उर्फ खूनी कटार',प्रका०काल १९३८ई०,प्रथम

सं० ।

देवीलाल सामर --'राजस्थान का भीष्म',प्रका०काल १९५६ई०प्रथम सं०
एस०एम० भटनागर,उदयपुर

धनीराम प्रेमी --'प्राणेश्वरी',प्रका०काल १९३१ई०,प्रथम सं०
चांद कार्यालय,इलाहाबाद

धर्मदत्त शर्मा --'धर्मवीर हकीकतराय',प्रका०काल १९२८ई०,प्रथम सं०
आर्य पुस्तकालय, आगरा ।

न्यामतसिंह जैन --'अमरसिंह राठौर'

नगेन्द्र --'मीच',प्रका०काल १९३१ई०,प्रथम सं०,फाईन आर्ट प्रेसप्रिंटिंग
प्रेसकाटेज, इलाहाबाद

नन्दलाल जायसवाल वियोगी--'बहूतों का इन्साफ'प्रका०काल १९५३ई०,प्रथम सं०
पुस्तक भण्डार,प्रयाग ।

नन्दकिशोर लाल वर्मा --'महात्मा विदुर'प्रका०काल १९२३ई०,प्रथम सं०,
ओंकार पुस्तकालय,लहेरियासराय

नत्थीमल उपाध्याय --'धनी और निर्धन',प्रका०काल १९३८ई०,भूषण प्रेस,बम्बई,मथुरा

(ला०)नत्थीमल अग्रवाल --'[illegible]',प्रका०काल १९२३ई०,प्रथम सं०,मथुराश्याम
काशी प्रेस ।

नारायणप्रसाद 'बिन्दु' --'सत्य का सैनिक',प्रका०काल १९४८ई०,बम्बई,श्रीअरविंद वर्किंग

नारायण विष्णु जोशी --'वकीलसाहब',प्रका०काल १९५७,प्रथम सं०

निवासदास --'रणधीर और प्रेम मोहिनी',प्रका०काल १९३५ई०

पन्नालाल रसिक --'रत्नकुमार'प्रका०काल १९३४ई०,प्रथम संस्करण
आनन्द ग्रन्थाकार,चिरगांव,झांसी ।

परिपूर्णानन्द वर्मा --'रानी भवानी'प्रका०काल १९३८ई०,प्रथम सं०
रामचन्द्र त्रिपाठी पटना पब्लिशर्स,पटना ।

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी --'श्रीशुक',प्रका०काल १९५६ई०,संकीर्तन भवन,इलाहाबाद

पृथ्वीनाथ शर्मा --'अपराधी',प्रका०काल १९३९ई०,हिन्दी भवनलाहौर
--'दुविधा',प्रका०काल १९३७ई०, हिन्दी भवन,लाहौर
--'साध',प्रका०काल १९४४,हिन्दी भवन,लाहौर ।

पुरुषोत्तम महादेववैद्य	--'आहुति',प्रका०काल १९३८ई०,प्रथम सं०,नवरत्नकार्यालय,इंदौर
प्रेमचन्द	--'संग्राम',प्रका०काल १९२२ई०,प्रथम सं० कलकत्ता हिन्दी पुस्तक एजेंसी ।
	--'प्रेम की वेदी',प्रका०काल,१९५७ई०,चतुर्थ सं०
प्रेमशरण सहाय सिन्हा	--'नवयुग',प्रका०काल १९३४ई०,प्रथम सं०नवलकिशोर प्रेस,लखनऊ
बलदेवप्रसाद खरे	--'परोपकार' प्रका०काल १९२२ई०,प्रथम सं०,कलकत्ता सन्या एण्ड कम्पनी ।
	--'सत्यनारायण',प्रका०काल १९२२ई०,प्रथम सं० कलकत्ता निहालचन्द्र कम्पनी।
	--'राजा शिवि',प्रका०काल १९२३ई०,प्रथम सं० कलकत्ता दुर्गाप्रेस ।
बलदेवप्रसाद मिश्र	--'शंकर दिग्विजय',प्रका०काल १९२३ई०
	--'समाज सेवक', प्रका०काल १९२३ई०,प्रथम सं० रायगढ़ साहित्य समिति।
बालकृष्ण भट्ट	--'शिक्षादान',प्रका०काल १९२८ई०,द्वितीय संस्करण
	--'दमयन्ती स्वयम्बर',१८९२ई०,प्रथम सं०
बेचन शर्मा 'उग्र'	--'महात्मा ईसा' प्रका०काल १९२२ई०,प्रथम सं० बनारस मनमोहन पुस्तकालय।
	--'चुम्बन',प्रका०काल १९३७ई० कलकत्ता हिन्दी पुस्तक एजेंसी
	--'आवारा',प्रका०काल १९४२ई०,प्रथम सं० उज्जैन सत्साहित्य सेवक समाज
	--'अन्नदाता',प्रका०काल १९४३ई०,प्रथम सं० उज्जैन माणिकचन्द बुक डिपो ।
ब्रजनन्दनसहाय	--'उन्मादिनी',प्रका०काल १९२५ई०,प्रथम सं०,खड्गविलासप्रेस बांकीपुर,पटना ।
ब्रजनन्दनशर्मा	--'सत्याग्रही',प्रका०काल १९३१ई०,प्रथम सं० मद्रास द०भा० हिन्दी प्रचार सभा

भगवतीप्रसाद वाजपेयी -- 'छलना', प्रका०काल १९३९ई०, प्रथम सं०, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', प्रका०काल १८७३
भारतेन्दु नाटकावली

-- 'सत्यहरिश्चन्द्र', प्रका०काल १८७५ भारतेन्दु नाटकावली

-- 'प्रेमयोगिनी', प्रका०काल १८७५, भा०ना०

-- 'चन्द्रावली', प्रका०काल १८७६ भा०ना०

-- 'भारत दुर्दशा', प्रका०काल १८८०, भा०ना०

-- 'नील देवी', प्रका०काल १८८१, भा०ना०

-- 'सतीप्रताप', प्रका०काल १८८३

मनसुखलाल सोजतिया -- 'रणबांकुरा चौहान, प्रका०काल १९२५ई०, प्रथम सं०

महावीर बेनुवंश -- 'परदा', प्रका०काल १९३६ई० , यवतमाल हि०पु०माला

महादेवप्रसाद शर्मा -- 'समय का फेर', प्रका०काल १९३४ई०, प्रथम सं०
कलकत्ता , बम्बई पुस्तक एजेंसी

महेश्वरदत्त ठाकुर -- 'कलावती' प्रका०काल, १९१९ई० प्रथम सं०

माखनलाल चतुर्वेदी -- 'कृष्णार्जुन युद्ध', प्रका०काल १९१८, चतुर्थ सं०
कानपुर, प्रताप कार्यालय।

माधवाचार्य रावत -- 'सरोजा बहू का सौभाग्य', प्रका०काल १९४२ई०, बांदा लेखक

मायादत्त नैथानी -- 'संयोगिता', प्रका०काल १९३९ई०, प्रथम सं०
हि०पु० ए० बम्बई

मिश्रबन्धु -- 'नेत्रोन्मीलन', प्रका०काल १९२४ई०, प्रथम संस्करण
कलकत्ता साहित्य संवर्धिनी समिति।

-- 'ईशान वर्मन', प्रका०काल १९३७ई० , प्रथम सं०, इलाहाबाद
रामनारायणलाल।

मुरारीलाल शर्मा -- 'परीक्षा', प्रका०काल १९५४ई०, तृतीय सं०
रामनारायणलाल, इलाहाबाद।

मेहदी हसन साहब -- 'कलापूर्णा', प्रका०काल १९३४ई०, बरेली राधेश्याम पुस्तकालय

मोहम्मद इस्हाक -- 'भक्त सूरदास' प्रका०काल १९१८

राधाकृष्ण दास —'महाराणा प्रताप सिंह', प्रका०काल १९३५ई०, अष्टम सं०
इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग ।

राधेश्याम कथावाचक —'श्रवणकुमार', प्रका०काल १९१६ई०, प्रथम सं०
राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली,
—'वीर अभिमन्यु', प्रका०काल १९१८, लक्ष्मीनारायण, मुरादाबाद
—'परमभक्त प्रह्लाद', प्रका०काल १९२५ई०,
राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली ।
—'परिवर्तन', प्रका०काल १९२६ई०,, राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली,
—'सतीपार्वती', प्रका०काल १९३९ई०, प्रथम सं०
राधेश्यामपुस्तकालय, बरेली ।

रामनरेश त्रिपाठी —'जयंत', प्रका०काल १९३४ई०, प्रथम सं०, हिन्दी मंदिर प्रेस
इलाहाबाद ।

रामशरण —'सतीलीला', प्रका०काल, १९२५ई०, प्रथम सं०

रामसिंहवर्मा —'स्वामिभक्ति', प्रका०काल, १९२८ई०, कलकत्ता रा०बा०रबेरी

रामचन्द्र सक्सेना —'उषा', प्रका०काल ? प्रथम सं०, रामदयालसिंह

रामदीन पाण्डेय —'ज्योत्सना', प्रका०काल १९३९ई०, प्रथम सं०, पुस्तक भण्डार
लहेरियासराय।

रामवृक्ष बेनीपुरी —'अम्बपाली', प्रका०काल १९४७ई०

रामाधार सिंह यादव —'वीरलौरिक, प्रका०काल १९३९ई०

रामानन्दसहाय ब्रह्मविद्या —'आर्याभिनय' प्रका०काल १९४६ई०, प्रथम सं०
०० ब्रह्म विद्यालयमहाजनी टोला, फैजाबाद

रामेश्वरीप्रसाद राम —'प्रेमयोगिनी', प्रका०काल १९१२ई०, पटना रामेश्वरकालीप्रसाद।

रामेश्वर चौमुवाल — भीम विक्रम', प्रका०काल १९३५ई०कलकत्ता हि०पु०, एजेंसी

रेवतीनन्दनभूषण —'कर्मवीर', प्रका०काल १९३५ई०, प्रथम सं०
कलकत्ता व्यास साहित्य मंदिर,

(डा०)लक्ष्मण सिंह —'गुलामी का नशा', प्रका०काल १९२४ई०, प्रथम सं०
प्रताप प्रेस, कानपुर ।
—'उत्सर्ग', इलाहाबाद इण्डियन प्रेस

लक्ष्मीनारायण गर्ग —'भीष्म प्रतिज्ञा', प्रका०काल१९३७ई०, प्रथम सं०
कानपुर गौड़ पुस्तकालय ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र --'अशोक',प्रका०काल १९२७ई०,प्रथम सं०
पुस्तक भण्डार,लहेरिया सराय।

--'सन्यासी',प्रका०काल १९२९ई०,प्रथम सं०,
साहित्य भवन लि० ,इलाहाबाद

--'राक्षस का मन्दिर',प्रका०काल,१९३२,प्रथम सं०
साहित्य भवन लि० इलाहाबाद

--'मुक्ति का रहस्य',प्रका०काल,१९३२ई०,द्वितीय सं०
साहित्य भवन लि० इलाहाबाद

--'राजयोग',प्रका०काल,१९३४ई०,प्रथम सं०
भारती भण्डार,बनारस।

--'सिन्दूर की होली',प्रका०काल १९३४ई०,प्रथम सं०
भारती भण्डार,बनारस ।

--'आधीरात',प्रका०काल,१९३६ई०,द्वितीय सं०,
लीडर प्रेस,इलाहाबाद ।

--'नारद की वीणा',प्रका०काल १९४६ई०,किताबमहल
इलाहाबाद ।

--'वत्सराज',प्रका०काल १९५०ई०,प्रथम सं०,
हिन्दी भवन,इलाहाबाद ।

--'दशाश्वमेध',प्रका०काल,प्रथम सं०

लोकनाथ द्विवेदी --'वीरज्योति',प्रका०काल १९३९ई०,द्वितीय सं०
सागर समालोचक कार्यालय ।

व्यास मै०रा० --'बहन का बदला',प्रका०काल १९४७ई०

वृन्दावनलाल वर्मा --'राखी की लाज',प्रका०काल १९४३,प्रथम सं०
मयूर प्रकाशन,स्वाधीन प्रेस,झांसी

--'बांस की फांस',प्रका०काल,१९४७ई०,प्रथम सं०
मयूर प्रकाशन,स्वाधीन प्रेस,झांसी ।

वृन्दावनलाल वर्मा --'फूलों की बोली', प्रका०काल १९५७ई०, प्रथम सं०
मयूर प्रकाशन, स्वाधीन प्रेस, झांसी
--'पीले हाथ', प्रका०काल १९४८ई०, प्रथम सं०
मयूर प्रकाशन, स्वाधीनप्रेस, झांसी ।
--'झांसी की रानी', प्रका०काल १९५२ई० द्वितीय सं०
मयूर प्रकाशन, स्वाधीन प्रेस, झांसी ।
-- बीरबल', प्रका०काल, १९५२, प्रथम सं०
मयूर प्रकाशन, स्वाधीनप्रेस, झांसी ।

विजय शुक्ल --'पतिता', प्रका०काल, १९३८ई०

विज्ञानविशारद --'भारत कल्याण', प्रका०काल १९३२ई०, प्रथम सं०
लखनऊ चन्द्रिका प्रकाश ।

वियोगी हरि --'प्रबुद्ध यामुन', प्रका०काल १९३९ई०, प्रथम सं०
गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ

विश्वनाथ मौसरोत --'पतिभक्ति' प्रका०काल, १९३७ई०, प्रथम सं०
लक्ष्मी पुस्तकालय, बनारस ।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक'--'भीष्म' प्रका०काल१९१८ई०, प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर

विश्वम्भरसहाय व्याकुल --'हिन्दी हरिश्चन्द्र नाटक', प्रका०काल १९१४, प्रथम सं०
सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मेरठ ।
--'बुद्धदेव', प्रका०काल १९५०ई०, प्रथम सं०, भारती भंडार, इलाहाबाद

विश्वेश्वरदयाल --'कलिंग', प्रका०काल १९५०ई०, प्रथम सं०

विष्णु --'हत्या के बाद', प्रका०काल १९३१ई०, प्रथम बार, हंस पत्रिका

शम्भुदयाल सक्सेना --'साधनापथ', प्रकाश०काल १९५०ई०, चतुर्थ सं०
अर्चना मन्दिर, बीकानेर ।

शारदा देवी --'विवाह मण्डप' प्रका०काल १९४१ई०, गाढ़वाला ठेकिका

शालिग्राम वैश्य --'माधवानल कामकन्दला' नाटक, प्रका०काल१९०४,
वेंकटेश्वरप्रेस, बम्बई ।
--'मोरध्वज', प्रका०काल, १९१४ई०, प्रथम सं०
खेमराज कृष्णदास, बम्बई ।

शिवकुमारी देवी --वार्धक्य, १९४०ई०प्रका०काल, प्रथम सं०,

शिवप्रसाद बारण — 'महाराणा संग्राम सिंह', प्रका०काल१६४२ई०, प्रथम सं०
विजनौर, मालवीय इतिहास परिषद्, पन्नाधाय

शिवरामदास गुप्त — 'गरीबों की दुनिया' प्रका०काल १६३६ई०, प्रथम सं०
उपन्यास बहार आफिस, बनारस
— 'आज की बात', प्रका०काल १६३६ई०,
उपन्यास बहार आफिस बनारस

श्यामकान्त पाठक — 'बुन्देल केशरी' प्रका०काल १६२८ई०, द्वितीय सं०
कर्मवीर प्रेस, जबलपुर।

सत्यजीवन वर्मा — 'मिस ३५ का पति निर्वाचन', प्रका०काल १६३५, प्रथम सं०
सरस साहित्य सदन, इलाहाबाद

प्रो०सत्येन्द्र — 'मुक्ति यज्ञ', प्रका०काल १६३७, प्रथम सं०
साहित्य रत्न भण्डार, सिविल लाइन्स आगरा।
— 'बलिदान यज्ञ', प्रका०काल ? ग्वालियर सरस्वती सदन

सरयूप्रसाद बिन्दु — 'मयंक मुक्त', प्रका०काल १६३७ई०, तृतीय सं०
एस०आर० वैदी एण्ड कं०हरीसनरोड, कलकत्ता

सुदर्शन — 'सिकन्दर', प्रका०काल १६४७ई०, प्रथम सं०
वी० कुलकर्णी हि०किताबघर लि०बम्बई
— 'भाग्यचक्र', प्रका०काल १६५०ई०, चतुर्थ सं०
— 'अंजना', प्रका०काल १६३०ई०, द्वितीय सं०
बाबूराम, नाथूराम प्रेमी।

सन्त सुमन्तु त्रिपाठी — 'सत्यनारायणलीला', प्रका०काल १६१३ई०, प्रथम सं०

सुमित्रानन्दन पन्त — 'ज्योत्स्ना', प्रका०काल १६३४ई०, प्रथम सं०
गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ

सुरेशचन्द्र जैन — 'कमलकिशोर', प्रका०काल १६२३ई०, प्रथम सं०

हनुमन्त सिंह रघुवंशी — 'सती चरित्र नाटक', प्रका०काल १६१०, द्वितीय सं०
आगरा।

हरिहर प्रसाद जालान — 'सुरेण' प्रका०काल१६२४ई०, प्रथम सं०, प्रकाशक लेखक।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' --'रक्षाबन्धन',प्रका०काल १९३४ई०,प्रथम सं०
लाहौर हिन्दी भवन ।
--'प्रतिशोध', प्रका०काल १९३७ई०,प्रथम सं०
भारती प्रेस,लाहौर ।
--'शिवासाधना',प्रका०काल १९३९ई०,द्वितीय सं०
इलाहाबाद हिन्दी भवन ।
--'आहुति',प्रका०काल,१९४०ई०,प्रथम सं०
इलाहाबादहिन्दी भवन ।
--'छाया',प्रका०काल १९४१ई०,प्रथम सं०
आत्माराम एंड संस,कश्मीरी गेट,दिल्ली ।
--'बन्धन',प्रका०काल,१९४१ई०,
अर्चना मन्दिर,बीकानेरी,लाहौर
--'मित्र',प्रका०काल १९४८ई०,द्वितीय सं०
वाणी मन्दिर,अस्पताल रोड,लाहौर
--'उद्धार',प्रका०काल १९४९ई०,प्रथम सं०
आत्मा राम एण्ड कंपनी,दिल्ली
--'स्वप्न भंग',प्रका०काल,१९४९ई०,द्वितीय सं०
वाणी मन्दिर,लाहौर
--'विषपान',प्रका०काल,१९५१ई०,चतुर्थ सं०
दिल्ली आत्माराम एण्ड कम्पनी ।

हरिहरशरण मिश्र --'भारतवर्ष' प्रका०काल १९२७,लखनऊ सूर्य कमल कार्यालय
--'आत्मरहस्य',प्रका०काल,१९२८ई०,प्रथम सं०
सूर्य कमल कार्यालय , लखनऊ

सहायक पुस्तकों की सुची

सहायक पुस्तकों की सूची

Dr. A.S. Altekar — The position of women in Hindu Civilisation. Motilal Banarsi das: New Delhi.

Adler Alfred — + ' 3rd edition 1962.
- The Practice and Theory of Inddvidual Psychology.'

Ann Garlin Spencer — Woman's Share in Social Culture J.B. Lippincott Company, U.S.A.

Bennard Shaw — Man and Superman
From the home library club.

Canoa Chakravarti — Sex life in Ancient India Firma K.L.Mukhopadhyaya- Calcutta 12.

Dr. C.G.Jung — 1st edition 1963.
Psychology of the Unconscious, Vth ed. 1946, London.

Elphinstone — History of India
London, John Murray, Albemarle street 1866, IVth edition.

G.P.Upadhyaya — Origin, scope and mission of the Arya Samaj.
Arya Samaj, Chauk, Allahabad, 2nd edition 1954.

George A. Grierson — The modern Literary H

Henry Beveridge — Comprehensive History of India. Vol.II
London: Black i.e. and sons, Paternoster Buildings, E.C., And Glasgow & Edinburgh.

H.G.Keene - History of India.

Halen Dentsch - The Psychology of women- Grune and station, New Yark 3rd edition 1945.

Harold Greenwald and Lucy Freeman - Emotional maturity in Love and marriage. P.U.S. of America Copyright -1961.

Prof. Indra Desai - The Status of women in Anc.India. Minerod Bookshop Lahore. ,1st edition , 1940.

I B SON - Love's Comedy The oxford Ibsen Vol. II Oxford University press, New York, 1962.

J.B.Chaudhri - Women in Vedic ritual 2nd edition 1956.

J.C.Powell - A History of India.

Lajpat Rai - A History of the Arya Samaj.

Mc donall - India's past.Motilal Banarsidas 1956.

Maghus Hirschfeld - Women East and West. London 1935.

Manmohan Kaur - Role of women in the freedom movement. Sterling publishers P.Ltd. Delhi. Ist edition, 1968.

Nemai Sadhan Bose - The Indian Awakening & Bengal, Firma. K.L.Mukhopadhyaya Calcutta, 1960.

P.Thomas - Indian Women through the Ages. Asia Publishing house. ,1964.

Percival Spear - India a Modern History. published in the U.S. of America.

Rekha Misra - Women in Mughal India.Munshiram Mahoharlal, Nai, Sarak, Delhi- 6.

Rabindra Nath Tagore- - Personality Macmillan & Co. Ltd. St. Martin's Street, London. 4rth edition 1945.

Stanley Woldert - India

Swami Madvananda and R.C.Majumdar, editions- - Great Women of India.Advaita Ashram, Mayavati Almora. 1st edition 1953.

S.Natrajan - Social Reform in India.

Sigm.Freud - The Ego and the ID.1947,4rth edi. Translated by Joon Riviere,Hogarhth Press, London.

Tara Chand - History of the freedom movement In India.

The message of Ramkrishna - Advaita Ashram, 1961.

Thoughts of Power- - Advaita Ashrama, 1st edition 1961.

Upendra Nath Ball - Modern India.

William Medougall - Social Psychology Methun and Co.Ltd. London 2nd edition 1928.

Encyclopaedia of the Social sciences- - Vol. XV.

सहायक पुस्तकों की सूची

आनन्दकुमार -- 'समाज और साहित्य', हिन्दी मन्दिर, प्रयाग,
प्रथम संस्करण, १९९५ संवत् ।

ए०बी०कीथ -- 'संस्कृत नाटक', मोतीलाल बनारसीदास, पटना ।
अनुवादक- प्रथम संस्करण, १९६५ ।
डा० उदयभानुसिंह

श्रीकृष्णदास -- 'हमारी नाट्य परम्परा'
साहित्यकार संसद प्रयाग, १९५६,प्र०सं० ।

श्री कृष्णाचार्य -- 'हिन्दी नाट्य साहित्य'
ग्रन्थसूची,अनामिका प्रकाशन, कलकत्ता ।

डा० गजानन शर्मा -- 'प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी'
रचना प्रकाशन, इलाहाबाद,
प्रथम संस्करण, १९७१ई० ।

गोपाल कृष्ण कौल -- 'नाटककार अश्क'
नीलाभ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९५४ ।

चतुरसेन शास्त्री -- 'चिता की लपटें'
दिल्ली, १९७०ई० ।

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा -- 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन'
तृतीय संस्करण, २००६ संवत् ।

जयनाथ नलिन -- 'हिन्दी नाटककार'
द्वितीय संस्करण, १९६१ई० ।

जैनेन्द्र कुमार -- 'काम, प्रेम और परिवार'
पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली-६, द्वि०सं०,१९६१ई० ।

जान स्टुअर्ट मिल — "स्त्रियों की पराधीनता"
अनु०-जगदीश्वरनाथ भट्ट — रामभूषण प्रेस, आगरा, प्रथम संस्करण, १९१९ई०

डा० दशरथ ओझा — "हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास"
राजपाल एण्ड संस दिल्ली, द्वितीय संस्करण

डा० नगेन्द्र — "आधुनिक हिन्दी नाटक"
प्रकाशन स्थान-साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
प्रथम संस्करण, १९९९ सम्वत्

डा० प्रेमलता अग्रवाल — "हिन्दी नाटकों में नायिका की परिकल्पना"
मेरठ रमा साहित्य प्रकाशन, प्रथम सं० १९६९ई० ।

पद्मारानी — "नाटक, चित्रपट और समाज"
दिल्ली, १९५५ई० ।

बर्टेण्ड रसैल — "विवाह और नैतिकता"
अनु० धर्मपाल — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

डा० बच्चन त्रिपाठी — "हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण मिश्र"
हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, प्रथम सं०, १९६८ई० ।

ब्रजरत्नदास — "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र"
हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
जन्मशताब्दी संस्करण, १९५०ई० ।

डा० बच्चन सिंह — "हिन्दी नाटक"
इलाहाबाद, प्र०सं०, १९५८ई०

महादेवी वर्मा — "शृंखला की कड़ियाँ"

मन्मथ गुप्त — "राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास"
१९६२ई०, द्वितीय संस्करण, आगरा ।

मैक्स लर्नर — "अमेरिकी सभ्यता"
अनु० आर०पी०एन०सिन्हा — आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण, १९६२ई० ।

मनुस्मृति — टीकाकार, पं० गिरिजाशंकर पाठक
प्रकाशक -ठाकुर प्रसाद गुप्त बुकसेलर, संवत् २००४

मत्स्यपुराण --

महाभारत -- गीताप्रेस,गोरखपुर,१९५८ई० ।

मिश्रबन्धु --'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास'
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

मुण्डकोपनिषद् -- पंचम संस्करण, १९९४ सम्वत्

डा० राधाकृष्णन् --'धर्म और समाज'
अनु०-'विराज' राजपाल एण्ड संस,दिल्ली , द्वितीय सं०१९६१ई० ।

डा० राधाकृष्णन् --'हिन्दुओं का जीवन दर्शन'
अनु०-कृष्ण किंकर सिंह प्रथम संस्करण, १९५२ई०,बम्बई ।

रामायण -- गीताप्रेस,गोरखपुर ,१९६०ई० ।

रामनाथ सुमन --'गांधी वाणी' (संकलन)
साधना-सदन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण,१९५२

रामचन्द्र शुक्ल --'हिन्दी साहित्य का इतिहास'
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ७वां संस्करण,सं०२००८।

रामविलास शर्मा --'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय --'आधुनिक हिन्दी साहित्य'
हिन्दी परिषद् , विश्वविद्यालय, प्रयाग, प्र०सं०१९५१ई०।
'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'
साहित्य भवन प्रा०लि०,इलाहाबाद,तृ०सं०,१९६५ई०

विनयकुमार --'हिन्दी के समस्या नाटक'
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र --'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव'
लोक भारती,इलाहाबाद, १९६६ई० ।

विवेकानन्द साहित्य -- अद्वैत आश्रम से प्रकाशित ।

स्वामी विवेकानन्द --'भारतीय नारी'
अनु०-इन्द्रदेवसिंह श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर,मध्यप्रदेश

सत्येन्द्र तनेजा --'हिन्दी नाटक : पुनर्मूल्यांकन'

डा० सोमनाथ गुप्त --'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास'
हिन्दी भवन,इलाहाबाद, तृ०सं०,१९५१ई०

हरिभाऊ उपाध्याय — 'बापू-कथा'

ऋग्वेद

पत्र-पत्रिकाएं

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' — 'विनाशलीला' (नाटक)
'चांद', अप्रैल, १९२५ई० ।

प्रो० जगन्नाथ मिश्र — 'दाम्पत्य जीवन और प्रेम'
'विश्वमित्र', अक्तूबर, १९४७ई० ।

तुलसीदत्त शैदा — 'लज्जा' (नाटक)
'चांद', अप्रैल, १९२७ई०

विष्णु — 'हत्या के बाद' (नाटक)
'हंस', मई, १९३९ई०
— 'बन्धनमुक्त (नाटक)
'हंस', नवम्बर, १९३९ई० ।

विजयकुमार — 'हमारी सामाजिक समस्याएं'
'विश्वमित्र', जून, १९४७ई०।

विजयकुमार — 'क्या भारत में बाल-विवाह अब नहीं होते ?'
'धर्मयुग', ६ अगस्त, १९७२ई० ।

शान्तिप्रिय द्विवेदी — 'सेठ गोविन्ददास के कुछ नाटक'
'हिन्दुस्तानी' पत्रिका, अक्तूबर-दिसम्बर, १९५२ई० ।

श्रीमती होमवती — 'स्त्री और प्रेम'
'विशाल भारत', फरवरी, १९३७ई० ।

P.K.Anant Narayan - The Genious of Hindu Culture.

V.N.Sarasimmiyengar - Tonsure of Hindu widows Indian Antiquary ,1874.

Indra Gandhi - 'On being a Mother' Northern India Patrika 19 Nov. 1972.

****